उर्दू साहित्य का इतिहास

लेखक
...ास बी० ए०, एल-एल० बी०

श्रीकमलमणि-ग्रंथमाला—११

साहित्य लड़ी—७

उर्दू साहित्य का इतिहास

लेखक

ब्रजरत्नदास बी० ए०, एल-एल० बी०

प्रथम संस्करण

१९९१

प्रकाशक
श्रीकमलमणि-ग्रंथमाला कार्यालय
बुलानाला, काशी

मूल्य १॥)

मुद्रक—
एन० पी० भारती
महाशक्ति-प्रेस,
बुलानाला, बनारस सिटी

भूमिका

बीसवीं शताब्दि विक्रमाब्द के उत्तरार्द्ध के प्रायः आरंभ तक अक्षरारंभ होने के बाद बालकों को उर्दू-फारसी की शिक्षा देना हिंदू समाज में उतना ही आवश्यक समझा जाता था जितना अब अंग्रेजी हो गया है। अब वह बात नहीं रह गई है और अच्छा ही हुआ है क्योंकि एक विदेशीय भाषा के कारण मातृ भाषा को हानि पहुँच ही रही थी और अब दो विदेशीय भाषाओं के बीच पड़ कर उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता। अभी भी हिंदू कहलाने वाले सरस्वती के वर-पुत्र ब्राह्मण तथा कायस्थों का कुछ समाज हिंदी को अपनी मातृ भाषा न कहने में जरा भी नहीं सकुचाता। समय परिवर्तित हो गया है और दोनों भाषाओं को अपने अपने क्षेत्र में अग्रसर होने का पूरा अवसर प्राप्त है। अस्तु, इसी प्रकार इस पुस्तक के लेखक को भी आरंभ में कई वर्ष तक उर्दू फारसी की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ी और कुछ ज्ञान हो जाने के कारण अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करते समय भी उस ओर से दृष्टि नहीं हटी। इतिहास से प्रेम होने के कारण फारसी के तवारीखों से लाभ उठाने के लिए उस भाषा का कुछ न कुछ अध्ययन चलता रहा जिसके फल स्वरूप दो तीन पुस्तकों का हिंदी में अनुवाद भी हो चुका है। उर्दू-साहित्य का भी मनन

करता रहता था पर विशेषतः हिंदी क्षेत्र ही में कार्य करता था। खुसरो को प्रो० आज़ाद ने उर्दू साहित्य-क्षेत्र में ले जाने का व्यर्थ प्रयास किया था, जिस कारण खुसरो की हिंदी कविता का एक संग्रह बहुत कुछ खोज कर सन् १९२२ ई० में प्रकाशित कराया था। दूसरी पुस्तक रानी केतकी की कहानी के लेखक इंशा पर लिखी, क्योंकि उर्दू लिपि में प्राप्त होने के कारण इस कहानी की हिंदी के धुरंधर लेखकों ने भी खासी दुर्दशा कर दी थी। इनके सिवा उर्दू-साहित्य के इतिहास पर प्रथम उर्दू कवि, गद्य-साहित्य का विकास, उर्दू कहानियों का इतिहास आदि कई लेख क्रमशः ना० प्र० पत्रिका, सुधा, हंस आदि में छपे। दक्षिण के एक महाराष्ट्र सज्जन के अनुरोध पर उर्दू साहित्य का अति संक्षिप्त इतिहास फुलस्केप के ४५ पृष्ठों के लगभग के लिखा गया पर वह अपनी माला में केवल एक पुस्तक बंगला साहित्य पर प्रकाशित कर सके। अंत में उन्होंने उस पुस्तिका को माधुरी में प्रकाशनार्थ भेज दिया, जहाँ से उसे सुधार करने की इच्छा से लौटा लिया गया।

राष्ट्रभाषा हिंदी में भारत के प्रचलित तथा अप्रचलित सभी भाषाओं के साहित्य का इतिहास, संक्षिप्त ही सही, अवश्य होना चाहिए, ऐसा विचार बहुत दिनों से चला आ रहा था और हिंदी के सिवा उर्दू ही पर कुछ मनन किया गया था इससे इसी ओर एक संक्षिप्त इतिहास लिखने का प्रयास, जैसा ऊपर किया

जा चुका है, चलता रहा और अंत में वह इस रूप में तैयार हो गया। इसमें कवियों की कविता के उद्धरण नहीं दिए गए हैं, जिससे कुछ लोगों को इसमें नीरसता का भान होगा पर कई कारणों से ऐसा नहीं किया गया। गंभीर इतिहास तथा सरस सुभाषित का संगम अवश्यमेव सुंदर होता है पर उससे इतिहास के गंभीर विषय से मन बराबर उचटता रह कर सुभाषितों की ओर विशेष आकृष्ट होता है। साथ ही इतिहास के साथ दो दो चार चार शैर देकर उन महाकवियों की काव्य-सुधा का आस्वादन पूरा नहीं कराया जा सकता, जिससे ऐसा प्रयास व्यर्थ ही जाता है। इसी विचार से अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में भी उद्धरण न देकर लिख दिया गया है कि इस अभाव की 'पूर्ति के लिए एक दूसरे भाग में इस पुस्तक में उल्लिखित कवियों की काफी कविता दी जाय, जिससे पाठकगण स्वयं उन रचनाओं पर स्वतंत्र रूप से विचार करें।' ऐसा ही इस पुस्तक के लिए भी विचार है।

जिस प्रकार संस्कृत तथा हिंदी में सुभाषितों के संग्रह प्राप्त हैं, उसी प्रकार उर्दू में भी प्राप्त हैं। उर्दू में प्रायः उंतीस तीस के लगभग संग्रह तैयार हुए हैं। मीर, दर्द, मीर हसन, मुसहिफी आदि के तजकिरों का उल्लेख ग्रंथ में हो चुका है। सरापा सखुन भी एक संग्रह है, जो सन् १८६१ ई० में तैयार हुआ था। इसमें नखशिख पर लिखी गई कविताओं का संग्रह है और प्राचीन कवियों के

गुरु, स्थान आदि का उल्लेख महत्वपूर्ण है। प्रो० आज़ाद ने आबे-हयात में मुख्य मुख्य कवियों पर विस्तृत रूप से लिखा है और उनकी कविताओं के भी काफी उद्धरण दिए हैं। इधर कुछ ही वर्षों के बीच में कई संग्रह निकले, जिनमें खुमखानए जावेद का उल्लेख ग्रंथ में हो चुका है। एक संग्रह शोअराए-हिनूद भी निकला है, जिसमें उर्दू के हिंदू कवियों का हाल संगृहीत है। इसी प्रकार एक भारी संग्रह और भी पहिले निकल चुका है, जिसमें उर्दू के काश्मीरी कवियों का हाल है। पर पूर्वोक्त सभी ग्रंथ, आबेहयात को छोड़ कर, सुभाषित-संग्रह कहे जाएँगे, इतिहास नहीं कहे जा सकते। इनके सिवा कुछ आलोचनात्मक लेख तथा पुस्तकें भी निकलीं। ऐसे ही संग्रह-ग्रंथों के आधार पर इस इतिहास के लिखे जाते समय एक प्रकाशक महोदय ने इसे छापने का आग्रह किया और डा० बाबूराम सक्सेना रचित अंग्रेजी का हिस्ट्री आव उर्दू लिटरेचर नामक ग्रंथ इस विचार से भेंट किया कि उससे भी सहायता ली जाय। वास्तव में वह ग्रंथ भी इस योग्य है। उसके अनेक विचारों तथा निर्णयों से मतभेद होते और बहुत सी अशुद्धियों के रहते भी वह ग्रंथ बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ, जिसके लिए उक्त ग्रंथ के लेखक का विशिष्ट रूप से आभारी हूँ। इसके सिवा अन्य जिन लेखों तथा पुस्तकों से सहायता ली गई है उनके लेखकों को भी धन्यवाद देता हूँ।

हिंदी में उर्दू के बहुत से प्रसिद्ध कवियों की संक्षिप्त जीवनियाँ

निकल चुकी हैं तथा कई संग्रह भी निकल चुके हैं। कविता कौमुदी भा० ४ भी ऐसा ही एक संग्रह है पर उर्दू साहित्ये-तहास का अभाव अब तक बना ही था। उसी की पूर्ति के लिए यह अध्यवसाय किया गया है और आशा है कि हिंदी उर्दू प्रेमी-गण इसे अपना कर मेरे श्रम को सफल करेंगे।

विजय—दशमी
सं० १९९१ वि०

विनीत
व्रजरत्नदास

उर्दू साहित्य का इतिहास

स्वर्गीय बा० ब्रजचंद

(१९४२-१९७१)

समर्पण

पूज्य मातामह गोलोकवासी भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र

के

अनुज

स्व० बा० गोकुलचंद जी

के

पुत्र

पूज्य तथा प्रिय मातुल

स्व० बा० व्रजचंद जी

को

(स्मृत्यर्थ)

सादर समर्पित

स्नेहभाजन

रेवतीरमणदास

(व्रजरत्नदास)

विषय—सूची

उर्दू साहित्य का इतिहास

पहिला परिच्छेद

आर्य भाषाएँ—उर्दू भाषा की उत्पत्ति—उर्दू की मौखिक और साहित्यिक अवस्थाएँ—समय और देश

जिस साधन द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरे पर प्रकट करते हैं, उसीको भाषा कहते हैं। यद्यपि इसके अंतर्गत वे मूक या मौखिक संकेतादि भी आ जाते हैं जिनसे मनुष्य अपने अनेक विचार प्रकट कर सकता है परंतु वे इस परिभाषा में सम्मिलित नहीं किए जा सकते।

आर्य-भाषाएँ

मौखिक संकेतों को जब शब्द रूप दे दिया जाता है तब वे भी भाषा के अंतर्गत समझे जाते, जैसे आह वाह इत्यादि। भारतवर्ष का प्राचीनतम साहित्य संस्कृत में मिलता है परंतु यह किस प्राचीनतर भाषा का संस्कृत रूप है उसको जानने का कोई साधन ही नहीं बच रहा है। मध्य एशिया से जब आर्य जाति पश्चिम और दक्षिण दिशाओं की ओर बढ़ने लगी तब आरंभ ही में उसके

दो विभाग हो गए—एक योरोप की ओर अग्रसर हुआ और दूसरा पश्चिम-दक्षिणीय एशिया पहुँचकर ठहर गया। यह विभाग भी ईरान पहुँचकर दो भागों में विभाजित हो गया, जिसका एक भाग वहीं रह गया और दूसरा भारतवर्ष की ओर चला आया। मूल भाषा भी साथ ही साथ सर्वत्र गई थी; परंतु कई सहस्र वर्षों के बीच स्थानीय परिवर्तनों के कारण उनके स्वरूप आज इतने भिन्न भिन्न ज्ञात होते हैं। ईरानी वंश की भाषाएँ मीड़ी, पहलवी, फारसी आदि हैं। आर्यों की जो मूल भाषा भारतवर्ष में आई, वह मँजते और सुधरते हुए संस्कृत हो गई और यही नियमबद्ध भाषा साहित्यिक भाषा का कार्य देने लगी। वह स्वाभाविक प्राचीन भाषा अवश्य ही व्यवहार में आती थी, जिसे असंस्कृत या प्राकृत भाषा कहने लगे थे। इस प्राकृत भाषा का रूप भी समय पाकर परिवर्तित होने लगा और वह अपभ्रंश कहलाने लगी। भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रांतों में इसके परिवर्तन कुछ कुछ विभिन्न रूपों में हो रहे थे, जिससे फलतः कुछ समय के अनंतर वह भाषा कई प्रांतीय भाषाओं के रूप में परिणत हो गई। इनमें हिंदी, पंजाबी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि मुख्य हैं। आर्यों की मूल भाषा के इन्हीं दो विभागों—ईरानी और भारतीय—की वंशधर फारसी और हिंदी के मेल से उर्दू भाषा का संगठन हुआ है। भिन्न भिन्न आर्य भाषाओं की समानता दिखलाने के लिये कुछ शब्द उदाहरणार्थ नीचे की तालिका में दिये जाते हैं।

संस्कृत	हिंदी	फारसी	उर्दू	लैटिन	अंग्रेजी
पितृ	पिता	पिदर	पिदर	पेटर	फ़ादर
मातृ	माता	मादर	मदर, मां	मेटर	मदर
भ्रातृ	भ्राता, भाई	बिरादर	बिरादर, भाई	फ्रेटर	ब्रदर
दुहितृ	दुहिता, धी	दुख़्तर	दुख़्तर		डौटर
एक	एक	यक	एक, यक	अन	वन
द्वि, द्वौ	दो	दू	दो	डुओ	टू
अस्मि	हूँ	अम	हूँ	सम	ऐम

उर्दू भाषा की उत्पत्ति

संसार की प्रत्येक भाषा का नामकरण उस देश या जाति के नाम पर होता है जिस देश या जाति की वह बोली होती है। वे भाषाएँ जिनका नामकरण इस नियम के विरुद्ध होता है वे किसी विशेष कारण से, दो भिन्न जातियों के संपर्क से, उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे उर्दू। साथ ही यह विचारणीय है कि किसी भाषा का उत्पत्ति-काल निश्चित रूप से इस प्रकार नहीं कहा जा सकता कि अमुक समय से इस भाषा का प्रचार हुआ है। प्रायः भाषाएँ, जो किसी देश या जाति की संपत्ति हैं, किसी अपने से पूर्व की भाषा की विकृत या संस्कृत रूपांतर होती हैं और यह परिवर्तन बहुत समय के बीच में होते हुए नया रूप धारण करता है। इसलिये यह कहना कि अमुक भाषा अमुक भाषा से अमुक संवत् में उत्पन्न हुई है, भ्रमोत्पादन मात्र है। पर वह भाषा जो दो भिन्न भाषाभाषी जातियों

के संपर्क से संगठित हो, उसका समय निश्चित किया जा सकता है। उर्दू की उत्पत्ति तथा उसके उत्पत्तिकाल के विषय में कुछ निश्चित करने के पहले यह जानना आवश्यक है कि हिंदू और मुसलमानों का संपर्क कब से आरंभ होता है। पर साथ ही यह ध्यान रखना होगा कि उर्दू भाषा की उत्पत्ति हिंदुओं की उस भाषा के संपर्क से हुई है जिसे 'खड़ी बोली' कहते हैं। भारतवर्ष से विशाल देश में किसी भी समय में वर्तमान या प्राचीन, अनेकानेक भाषाएँ एक ही समय में व्यवहृत होती रही हैं, रहती हैं और रहती थीं तथा सभी में फ़ारसी-अरबी के मेल कर देने से उर्दू भाषा नहीं बन सकती। केवल उस हिंदी के साथ, जो मुसलमानों के सैनिक पड़ावों में और सुल्तानों तथा बादशाहों के निवास-स्थान के पास बोली जाती थी, उन नवागंतुकों की भाषा के मिश्रण से उर्दू का रूप गठित हुआ था। यह कहना कि व्रजभाषा और फारसी के मिश्रण से उर्दू बनी है, उतना ही भ्रांतिमूलक है, जितना यह कहना कि वह गुजराती या राजपुतानी के मिश्रण से बनी है। अब यह देखना है कि भारत में मुसलमानों का आगमन कब हुआ। सबसे पहले सन् ७१२ ई० में सिंध पर मुसलमानों की चढ़ाई हुई, पर इस चढ़ाई का विशेष कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। इसके अनंतर लगभग ढाई सौ वर्ष बाद उत्तर-पश्चिम से आक्रमण होने लगे और क्रमशः मुसलमानों के पैर धीरे धीरे भारत में जमते गए। यहाँ तक कि सन् ११९२ ई० में दिल्ली पर महम्मद

गोरी का अधिकार हो गया। इन आक्रमणकारियों के सिवा तथा पहिले इन दो जातियों का संपर्क व्यवसाय आदि के लिये तथा पड़ोसी होने के कारण भी होता रहा था। प्रथम अरबी यात्री सुलेमान सौदागर के सन् ८५१ ई० के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि हिंदू तथा मुसलमान राजाओं में उस समय भी प्रेम भाव रहता था। 'अलबेरूनी का भारत' नामक पुस्तक में इसका विशेष रूप से वर्णन है। इस प्रकार इन दो जातियों का संपर्क अधिकतर उत्तरी भारत में दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विशेष रूप से हुआ और इन दोनों के विचार-विनिमय के लिये एक व्यावहारिक भाषा इसी समय के आसपास संगठित हुई होगी।

कुछ लोगों का कथन है कि उर्दू की उत्पत्ति फ़ारसी से है, क्योंकि वह उस भाषा के बोलने वालों के पड़ावों में गठित हुई है।

उर्दू क्या है ?

परन्तु यह निरा भ्रम है, जो वर्तमान काल की उर्दू में फ़ारसी, अरबी शब्दों के बाहुल्य, फ़ारसी लिपि तथा फ़ारसी छंद शास्त्र के प्रयोग से फैला है। उर्दू की उत्पत्ति, जब वह केवल व्यावहारिक भाषा मात्र थी, विचारों के आदान प्रदान में सुगमता लाने के लिये हुई थी। जो कार्य सहज ही में हो सके, उसे ही मनुष्य स्वभावतः ग्रहण करता है। फ़ारसी, तुर्की आदि हिंदी से अधिक जटिल थीं, इसलिये हिंदुओं के इन भाषाओं के सीखने के शताब्दियों पहिले मुसलमानों ने हिंदी में बोलना सीख लिया था। वे इसमें कविता भी करने लगे थे। यह हिंदी दिल्ली

तथा मेरठ के आसपास बोली जाने वाली भाषा थी, जिसका सच्चा तथा प्राचीन स्वरूप एक मुसलमान ही द्वारा आज सब पर व्यक्त है, नहीं तो कुछ लोग उसे केवल सौ सवा सौ वर्ष ही प्राचीन मान बैठे थे। इस हिंदी की उत्पत्ति आदि लिखने का यह स्थान नहीं है, इसलिये उस पर विशेष नहीं लिखा जाता। इसी हिंदी में फ़ारसी आदि भाषाओं के शब्द प्रयुक्त होने लगे और वह मिश्रित भाषा उर्दू कहलाई। यह व्यावहारिक भाषा अपने उत्पत्ति-काल से लगभग पाँच शताब्दी तक इसी रूप में रही और इसने तब तक साहित्यिक रूप नहीं धारण किया था। स्यात् यह कभी भी साहित्यिक रूप न धारण करती यदि वह दक्षिण की यात्रा न कर आती।

उर्दू और व्रजभाषा

प्रोफ़ेसर आज़ाद अपने ग्रंथ आबेहयात में लिखते हैं कि 'हमारी उर्दू ज़बान व्रजभाषा से निकली है और व्रजभाषा ख़ास हिंदोस्तानी ज़बान है।' इसी बात को अनेकानेक विद्वान समर्थन करते चले गए, जिससे यह बात निश्चित सी मान ली गई है। यह कहाँ तक ठीक है इसका विचार करना वांछनीय है। प्राचीन आर्य भाषा की प्रांतिक बोलियों को समेट कर, पर पश्चिमोत्तर की भाषा को आधार मानकर, जिस प्रकार संस्कृत साहित्यिक भाषा हुई, उसी प्रकार पीछे पछाँह की बोली (व्रज से लेकर मारवाड़ और गुजरात तक) के आधार पर वह काव्य

भाषा बनी, जो बहुत दिनों तक अपभ्रंश या भाषा कहलाती रही। यही प्राचीन भाषा हिंदी के काव्यभाषा का पूर्व रूप है। पच्छिमी ढाँचा होने पर भी यह काव्य की भाषा के लिये सारे उत्तरापथ में प्रचलित थी। इसी व्यापकत्व के कारण इसमें गुजरात से लेकर अवध आदि मध्यप्रदेश तक के शब्द और रूप मिलते हैं। यद्यपि इसका ढाँचा पछाहीं (व्रज का सा) था पर यह साहित्य के लिये एक व्यापक भाषा होगई थी। अब इस कवि-समय-सिद्ध भाषा को उस समय के किसी एक स्थान की बोलचाल की भाषा मान लेना निरा भ्रम है। देश के बोलचाल की चलती भाषा से अपना रूप भिन्न रखकर काव्य की इस भाषा ने अपनी साहित्यिक गुरुता बनाए रखा। जब मुसलमान इस देश में आकर बसने लगे तब उन्हें दिल्ली के आसपास की चलती भाषा (खड़ी बोली) से काम पड़ा था न कि काव्य या साहित्य की भाषा से। जब पठानों ने दिल्ली को राजधानी बनाया, तब वहाँ की बोली उन्हें ग्रहण करनी पड़ी। पठान सुलतानों के सिक्कों पर हिंदी लिपि ही में नाम दिए जाते थे जैसे, 'अयं महमद बिन साम हंमीरः'। खुसरो ने उसी बोली में बहुत सी पहेली और पद कहे थे और उनमें कुछ ऐसे भी हैं, जिनमें इस बोली और फ़ारसी का मिश्रण था पर कहीं कहीं परंपरागत काव्यभाषा अर्थात् व्रजभाषा का भी पुट झलक जाता था। उर्दू के पुराने शायर बहुत दिनों तक इस परंपरागत काव्यभाषा से अपना पीछा नहीं छुड़ा सके थे। व्रजभाषा

के इसी पुट को देखकर पूर्वोक्त भ्रांति उर्दूभाषा के इतिहास-लेखकों में फैल गई थी।

उर्दू भाषा की उत्पत्ति व्यवहार और बोलचाल के लिये हुई थी और लगभग पाँच शताब्दियों तक वह केवल इसी रूप में रही। मुसलमानों को हिंदी शब्दों का ज्ञान कराने के लिये अलाउद्दीन ख़िलजी की आज्ञा से खुसरो ने ख़ालिकबारी नामक पुस्तक तैयार की, जिसकी असंख्य प्रतिलिपियाँ गाँव गाँव वितरित की गईं। कहावत प्रसिद्ध है—

उर्दू की मौखिक अवस्था

एक लख ऊँट सवा लख गारी। तिसपर लादी खालिकवारी॥

इसमें हिंदी (अर्थात् खड़ी बोली), पंजाबी तथा व्रजभाषा शब्दों के फारसी-अरबी पर्याय दिए हैं। फ़ारसी भाषा के क्लिष्ट और जटिल होने से भारतवासी मुसलमानों ने हिंदी को ही मातृ-भाषा का स्थान देना आरंभ किया। इस हिंदी में फारसी के शब्द अधिक रहने लगे। साथ ही फ़ारसी के शब्द हिंदी की काव्यभाषा में स्थान पाने लगे और मुसलमान कवियों ने हिंदी भाषा में अनेक अमूल्य ग्रंथ रच कर हिंदी साहित्य भांडार की पूर्ति में सहायता दी। चंद कवि ने, जो बारहवीं शताब्दी के अंत में हुआ था, अपने ग्रंथ पृथ्वीराज रासो में बहुत से फारसी शब्दों का प्रयोग किया है। कबीर, नानक, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास आदि से लेकर आधुनिक कवि तक फारसी शब्द कविता में लाते

रहे, क्योंकि व्यवहार में आने के कारण उनका उपयोग सरल हो गया था। खुसरो, जायसी, रहीम, रसखान आदि मुसलमान गण हिंदी के प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। इससे ज्ञात होता है कि उर्दू की व्यावहारिक अर्थात् मौखिक अवस्था बहुत अच्छी थी। उसकी साहित्यिक भाषा का रूप बहुत प्राचीन नहीं है। कुछ अंग्रेज विद्वानों का यह मत है कि उर्दू में फ़ारसी के बड़े बड़े शब्दों की प्रचुरता के कारण हिंदू ही हैं, जिन्होंने फारसी शिक्षा प्राप्त कर ली थी। कुछ अंशों में यह बात ठीक भी है, क्योंकि जिस समय राजा टोडरमल ने अकबर के राजत्वकाल में हिंदुओं को फारसी पढ़ने की उत्तेजना दी थी, उससे पूर्व ही हिंदुओं में फारसी के अच्छे अच्छे विद्वान पैदा हो चुके थे। आज कल भी अंग्रेजी के एम. ए. और बी. ए. गण हिंदी भाषा में अंग्रेजी शब्दों का व्यवहार बढ़ा रहे हैं।

उर्दू लिपि और व्याकरण

उर्दू नाम की हिंदी जब तक देवनागरी लिपि में लिखी जाती रही और उसकी वाक्य-योजना हिंदी व्याकरण के अनुसार रही तब तक वह नाम मात्र ही को पृथक कही जा सकती थी परंतु जब वह फ़ारसी लिपि में और कुछ परिवर्तित वाक्य-योजना के साथ लिखी जाने लगी अर्थात् इस रूप में उसकी साहित्यिक अवस्था का आरंभ हुआ तब वह वास्तव में एक पृथक और नई भाषा कही जाने योग्य हुई। उर्दू की वाक्य-रचना में बहुधा विशेष्य

विशेषण के पहले आता है और फ़ारसी संबंधवाचक सर्वनाम का प्रयोग होता है। शब्दों का मुअर्रब (अर्थात् अरबी रूप) और मुफ़र्रस (फ़ारसीरूप) रूप भी काम में आने लगा। विदेशी शब्दों का अधिकता से प्रयोग होने लगा और उर्दू एक नया स्वाँग धारण कर नई भाषा बन बैठी।

हिंदी और उर्दू नाम से जो भाषाएँ उत्तरी भारत में प्रसिद्ध और प्रचलित हैं उनके रूप लक्षण आदि में क्या विभिन्नता है,

उर्दू और हिंदी

इसमें मतभेद है। किसी का कहना है कि ये दोनों एक ही हैं और किसी का कहना है कि ये दोनों पृथक भाषाएँ हैं। मुसलमानों के भारत में बसने से भाषा का यह रूपांतर केवल पश्चिमोत्तर प्रांत ही में नहीं हुआ है, प्रत्युत् बंगाल, गुजरात आदि प्रांतों में भी हुआ है और वहाँ की भाषाओं में भी इस प्रकार उपभेद हो गए हैं। परंतु ये भेद मौखिक या व्यावहारिक मात्र थे, इसलिये उन्होंने नए रूप धारण करने का साहस नहीं किया। उत्तरी भारत में उर्दू भी कई शताब्दियों तक इसी रूप में रही और अब तक सरल बोलचाल की उर्दू हिंदी ही है, जिसमें कुछ फ़ारसी शब्द आ गए हैं। अंग्रेजी शब्द-संयुक्त हिंदी को तीसरी भाषा निर्द्धारित करना अनुचित है। आश्चर्य्य नहीं कि ऐसी हिंदी का कुछ शताब्दियों के बाद 'जहाजी' नामकरण हो जाय। पूर्वोक्त विचारों से सिद्ध होता है कि उर्दू और हिंदी एक ही भाषा है और इनके नाम केवल पर्य्यायवाची समझे जाने

चाहिएँ। मौखिक क्षेत्र तक इस प्रकार मान लेने में कोई भी कठिनाई या बाधा नहीं पड़ती परंतु साहित्यिक क्षेत्र के आरंभ होते ही दोनों में विभिन्नता प्रगट रूप में दिखलाई पड़ने लगती है। एक अपने ही छंदशास्त्र को, जो उसे रिक्थक्रम (वरासत) में मिली है, अपनाती है और दूसरी इस देश की भाषा होने पर भी दूसरे देश के छंदशास्त्र को अपना कर पृथक हो जाती है। हिंदी और उर्दू की विभिन्नता का पता केवल साहित्यिक क्षेत्र में मिलता है अन्यथा नहीं।

उर्दू का जन्म किस प्रकार हुआ है, इसकी विवेचना हो चुकी परंतु अब यह विचार करना है कि उसका साहित्यिक पुनर्जन्म अर्थात् आरंभ कब हुआ था। इसमें भी मतभेद है और उनमें दो मुख्य हैं। ग्यारहवीं विक्रमी शताब्दि के अंत में साद के पुत्र मसऊद ने रेख़्ता में एक काव्य-संग्रह बनाया और तेरहवीं शताब्दि के अंत में खुसरो ने कविता की। इसी प्रकार अनेक अन्य मुसलमान कवियों ने उत्तम रचनाएँ की हैं। ये रचनाएँ हिंदी छंदशास्त्र के अनुसार हिंदी भाषा में प्रणीत हैं और इनके रचनाकाल को उर्दू का साहित्यिक आरंभ मानना नितांत अशुद्ध और भ्रममूलक है। ऐसी रचनाएँ हिंदी साहित्य के अंतर्गत समझी जायँगी। कवि के जाति-धर्म भेद के अनुसार उनकी कविता की भाषा का नामकरण नहीं होता। हिंदी की रचनाओं में उर्दू या अंग्रेजी के केवल कुछ

समय और देश

शब्द आ जाने से उसकी भाषा उर्दू या अंग्रेजी नहीं हो सकती। उर्दू और हिंदी साहित्य के विभिन्नता का निदर्शक उनका व्याकरण और छंदशास्त्र है। इसलिए हिंदी में फ़ारसी शब्दों का कब प्रयोग होने लगा या हिंदी फ़ारसी लिपि में कब से लिखी जाने लगी आदि प्रश्नों का उत्तर उर्दू के साहित्यिक आरंभ का द्योतक नहीं है। इसके लिए यही जानना मुख्य है कि किस समय फ़ारसी छंदशास्त्र के अनुसार हिंदी भाषा में पहले पद की रचना हुई, चाहेउसमें फारसी का शब्द मिला हो या नहीं। वही रचना-काल उर्दू-साहित्य का आरंभ है। यह आरंभ विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दि का मध्य है जब कि गोलकुंडा के सुलतान मुहम्मद कुली क़ुतुबशाह ने फ़ारसी छंदशास्त्र के अनुसार हिंदी में कविता की थी।

जिस प्रकार बंगाल के मुसल्मान फ़ारसी शब्द मिश्रित बंगाली बोलते हैं और गुजरात के मुसल्मानफ़ारसी-मिश्रित गुजराती बोलते हैं उसी प्रकार उत्तरी भारत में फ़ारसी शब्द मिली हुई हिंदी अर्थात् उर्दू बोली जाती है। उर्दू किसी देश या प्रांत की बोली नहीं कही जा सकती वरन् जिस देश या जिस प्रांत की बोली हिंदी है और जहाँ मुसल्मान बसे हैं उसी स्थान की भाषा उसे कहते हैं। हिंदी भाषा का विस्तार हिमालय और विंध्याचल पर्वत-मालाओं के बीच सिंध नदी से बिहार प्रांत तक है और इसी के अंतर्गत उर्दू का भी स्थान है।

हिंदू और मुसल्मानों की व्यावहारिक हिंदी भाषा का नाम

उर्दू, रेख़्ता, दक्खिनी, हिंदुवी या हिंदोस्तानी किस प्रकार हुआ, यह यहाँ संक्षेप में लिख देना आवश्यक है। पहले पहल भारत में आने पर मुसल्मान आक्रमणकारी सैनिक पड़ावों में ही बसते थे और वहीं के बाज़ारों में इस भाषा का जन्म हुआ था। तुर्की भाषा में पड़ावों के बाज़ार को उर्दू कहते हैं, इसीसे उर्दू की भाषा उर्दू कही जाने लगी। यह नामकरण प्राचीन नहीं है और बहुत पीछे वह इस भाषा के लिये प्रयुक्त हुआ था। मीर हसन और मीर तक़ी 'मीर' ने अपने अपने तज़्किरों में इसका नाम केवल रेख़्ता या हिंदुवी ही लिखा है। रेख़ता का अर्थ मिली जुली या गिरी पड़ी है और यह एक छंद का नाम है, जो फ़ारसी ग़ज़ल से मिलती जुलती है, इसी से कवियों ने इस भाषा को साहित्यिक रूप देकर इसका नाम रेख़्ता रखा। इस भाषा की साहित्यिक अवस्था दक्षिण में आरंभ हुई थी इसलिये यह दखिनी भी कहलाई।

उर्दू आदि नामकरण

मीर साहब कहते हैं—

ख़ूगर नहीं कुछ यों ही हम रेख़्तः गोई के।
माशूक़ जो था अपना बाशिंदः दकन का था॥

क़ायम कहते हैं—

क़ायम ने ग़ज़ल तौर किया रेख़्तः वर्नः।
एक बात लचर सी बज़बाने दखिनी थी॥

फ़ारसी भाषा में हिंदी शब्द का अर्थ हिंद का अर्थात् भारत

वर्ष का रहनेवाला या भारतीय है, इसलिये उस शब्द का परित्याग कर एक नया नाम हिंदुवी अर्थात् हिंदुओं या हिंद के रहने वालों की बोली गढ़ लिया गया था। यह हिंदी का पर्यायवाची शब्द मात्र है और प्राचीन है। अमीर खुसरो ने, जो तेरहवीं शताब्दि के आरंभ में हुए थे, ख़ालिक़बारी में दोनों का प्रयोग किया है।

शैर—मुश्क काफूर अस्त कस्तूरी कपूर।
हिंदुवी आनंद शादी और सरूर॥
मूश चूहा गुर्बः बिल्ली मार नाग।
सोजनो रिश्ता ब हिंदी सूई ताग॥

खुसरो अपनी प्रसिद्ध मसनवी 'नुह सिपहर' के तीसरे परिच्छेद में लिखता है कि 'इस समय प्रत्येक प्रांत में एक निज की ख़ास भाषा बोली जाती है, जो एक दूसरे से कुछ नहीं लेतीं। सिंधी, लाहौरी, काश्मीरी, डूंगर की भाषा, द्वार समुद्र, तैलंग, गुजरात, मलाबार, गौड़, बंगाल, अवध, देहली और उसके पास की। यह सब हिंद की भाषाएँ प्राचीन समय से जीवन के साधारण कार्य के लिये उपयोग की जाती हैं।' (इलि० जिल्द ३ पृ० ५६२) वह यह भी लिखता है कि 'पहिले हिंदुई थी। जब जातियाँ मिल गईं तब हर एक छोटे बड़े ने फ़ारसी सीखा।' फ़िरिश्ता कांगड़ा विजय पर लिखता है कि 'वहाँ से तेरह सौ हिंदी पुस्तकें प्राप्त हुईं।' इस प्रकार देखा जाता है कि फ़ारसी लेखकों

ने हिंदी शब्द संस्कृत तथा खड़ी बोली दोनों के लिये प्रयुक्त किया है। हिंदोस्तानी शब्द कलकत्ते की टकसाल में डाक्टर गिलक्राइस्ट साहब द्वारा गढ़ा गया और वह अधिकतर उन्हीं लोगों में प्रचलित है। अंग्रेज यात्रियों में से एक यात्री एडवर्ड टेरी लिखता है 'इस साम्राज्य की भाषा, जो जन साधारण में बोली जाती है 'इंडोस्तान' कहलाती है। यह मृदुभाषा है, उच्चारण सुगम है और हम लोगों की तरह दाईं ओर को लिखी जाती है। विद्वानों की भाषा को फ़ारसी या अरबी कहते हैं, जो पीछे को बाईं ओर को हिब्र्यू की चाल पर लिखी जाती है।' (फास्टर संपादित 'अर्ली ट्रैवल्स इन इंडिया' पृ० ३०९) यह यात्री जहाँगीर के समय भारत आया था। इस उद्धरण से उर्दू नाम की किसी पृथक भाषा का बोध तक नहीं होता प्रत्युत् हिंदी ही का होता है पर एक सज्जन इसे उर्दू किस प्रकार लिखते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। इस भाषा को उर्दुए मुअल्ला भी कहते हैं। सवा सौ वर्ष पहिले मीर अम्मन देहलवी 'बागोबहार' की भूमिका में 'उर्दू के ज़बान का' जन्म-वृत्तांत, जो उन्होंने बड़ों के मुख से सुना था, इस प्रकार लिखते हैं कि 'दिल्ली शहर हिंदुओं के नज़दीक चौजुगी है, उन्हीं के राजा परजा कदीम से रहते थे और अपनी भाषा बोलते थे।......इस आमदोरफ्त के बाएस कुछ ज़बानों ने हिंदू-मुसलमान की आमेज़िश पाई। आखिर तैमूर ने, जिनके घराने में अब तक नाम निहाद सल्तनत का चला जाता है, हिंदोस्तान को लिया। उनके

आने और रहने से लश्कर का बाज़ार शहर में दाखिल हुआ, इस वास्ते शहर का बाज़ार उर्दू कहलाया।......जब अकबर तख़्त पर बैठे तब चारों तरफ़ के मुल्कों से सब कौम......जमा हुए लेकिन हर एक की गोयायी और बोली जुदी जुदी थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन देन, सौदा सुलुफ़, सवाल जबाव करते एक ज़बान उर्दू मुकर्रर हुई। जब शाहजहाँ ने किला, जामा मसजिद और शहरपनाह तामीर करवाई...और वहाँ के बाज़ार को उर्दुए मुअल्ला खिताब दिया।' इस प्रकार उर्दू भी उर्दुए मुअल्ला कहलाई।

रेख़्ता शब्द को स्त्रीलिंग बनाकर उसका नाम रेख़्ती रखा गया। इससे भाषा में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं हुआ।

रेख़्ती

ऐसा करने का यह कारण हुआ कि फ़ारसी भाषा की प्रेम कविता में प्रेम करनेवाला अर्थात् आशिक पुरुष होता है और प्रेम का आधार माशूक स्त्री होती है, परंतु हिंदी कविता मे ठीक इसका उल्टा होता है। हिंदी नायिका-भेद-ज्ञाता जानते हैं कि प्रेयसी ही अपने प्रेमी को ताने मारती है, दोनों को उलाहने देती है, विरह की रातें कष्ट से काटती है इत्यादि। पुरुष इन सब प्रेम के स्वाँगों के परे रहता है। जब उर्दू भाषा की कविता में इस हिंदी प्रथा का अनुसरण किया गया तब वह रेख़्ता से रेख़्ती हो गई। फ़ारसी के कवि स्त्रियों के प्रति विशेष उदारता दिखलाते हुए तथा पुरुषों को अधिक बलवान और कष्ट-सहिष्णु समझकर उन्हीं को अधिक क्लेश देना उचित समझते

हैं परंतु वस्तुतः इन्हीं कारणों से उनका यह औदार्य स्वभावविरुद्ध हो जाता है। प्रेम एकांगी नहीं है और विरह दोनों ही को कष्टकर है। स्त्रियाँ स्वभावतः कोमल होती हैं और असहनशील होने से क्लेश पड़ने पर उन्हीं का हार्दिक उद्गार पहिले निकल पड़ता है और वही सच्चा भी होता है। पुरुषों का आहें मारना, रोना और बिलबिलाना किसी सीमा तक ही उचित है पर स्त्रियों के लिए ऐसी कोई सीमा नहीं हो सकती। इस विषय का उल्लेख करते हुए एक घटना लिखना उचित ज्ञात होता है, जो इस प्रकार है कि सम्राट् जहाँगीर के सामने एक गवैया अमीर खुसरो की एक ग़ज़ल गा रहा था और बादशाह बड़ी प्रसन्नता से उसे सुन रहे थे। जब उसने यह शैर गाया—

तू शबानः मी नुमाई बेह बरे कि बूदी इमशब।
कि हनोज़ चश्म मस्तस्त असरे ख़ुमार दारद॥

तब बादशाह को बड़ा क्रोध चढ़ आया और गाने वाले को निकलवा दिया। पास वाले उसी समय मुल्ला नक़शी मेहकुन को बुला लाए, जिनको बादशाह बहुत मानते थे। बादशाह ने उन्हें देखते ही कहा कि 'देखो अमीर खुसरो ने कैसी निर्लज्जता से यह शैर कहा है? क्या कोई अपनी प्रेयसी से ऐसी बात कहता है?' मुल्ला नक़शी ने उत्तर दिया कि 'खुसरो हिंद के रहने वाले थे। यह शैर उन्होंने इस प्रकार कहा है कि मानों कोई स्त्री कह रही है कि आज की रात्रि कहाँ और किस दूसरी स्त्री के साथ

आने और रहने से लश्कर का बाज़ार शहर में दाख़िल हुआ, इस वास्ते शहर का बाज़ार उर्दू कहलाया।......जब अकबर तख़्त पर बैठे तब चारों तरफ़ के मुल्कों से सब कौम......जमा हुए लेकिन हर एक की गोयायी और बोली जुदी जुदी थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन देन, सौदा सुलुफ़, सवाल जवाब करते एक ज़बान उर्दू मुकर्रर हुई। जब शाहजहाँ ने किला, जामा मसजिद और शहरपनाह तामीर करवाई...और वहाँ के बाज़ार को उर्दुए मुअल्ला खिताब दिया।' इस प्रकार उर्दू भी उर्दुए मुअल्ला कहलाई।

रेख़्ता शब्द को स्त्रीलिंग बनाकर उसका नाम रेख़्ती रखा गया। इससे भाषा में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं हुआ।

रेख़्ती

ऐसा करने का यह कारण हुआ कि फ़ारसी भाषा की प्रेम कविता में प्रेम करनेवाला अर्थात् आशिक़ पुरुष होता है ओर प्रेम का आधार माशूक़ स्त्री होती है, परंतु हिंदी कविता मे ठीक इसका उल्टा होता है। हिंदी नायिका-भेद-ज्ञाता जानते हैं कि प्रेयसी ही अपने प्रेमी को ताने मारती है, दोनों को उलाहने देती है, विरह की रातें कष्ट से काटती है इत्यादि। पुरुष इन सब प्रेम के स्वाँगों के परे रहता है। जब उर्दू भाषा की कविता में इस हिंदी प्रथा का अनुसरण किया गया तब वह रेख़्ता से रेख़्ती हो गई। फ़ारसी के कवि स्त्रियों के प्रति विशेष उदारता दिखलाते हुए तथा पुरुषों को अधिक बलवान और कष्ट-सहिष्णु समझकर उन्हीं को अधिक क्लेश देना उचित समझते

हैं परंतु वस्तुतः इन्हीं कारणों से उनका यह औदार्य स्वभावविरुद्ध हो जाता है। प्रेम एकांगी नहीं है और विरह दोनों ही को कष्टकर है। स्त्रियाँ स्वभावतः कोमल होती हैं और असहनशील होने से क्लेश पड़ने पर उन्हीं का हार्दिक उद्‌गार पहिले निकल पड़ता है और वही सच्चा भी होता है। पुरुषों का आहें मारना, रोना और बिलबिलाना किसी सीमा तक ही उचित है पर स्त्रियों के लिए ऐसी कोई सीमा नहीं हो सकती। इस विषय का उल्लेख करते हुए एक घटना लिखना उचित ज्ञात होता है, जो इस प्रकार है कि सम्राट् जहाँगीर के सामने एक गवैया अमीर खुसरो की एक ग़ज़ल गा रहा था और बादशाह बड़ी प्रसन्नता से उसे सुन रहे थे। जब उसने यह शैर गाया—

तू शबानः मी नुमाई बेह बरे कि बूदी इमशब।
कि हनोज़ चश्म मस्तस्त असरे ख़ुमार दारद॥

तब बादशाह को बड़ा क्रोध चढ़ आया और गाने वाले को निकलवा दिया। पास वाले उसी समय मुल्ला नक़्शी मेहकुन को बुला लाए, जिनको बादशाह बहुत मानते थे। बादशाह ने उन्हें देखते ही कहा कि 'देखो अमीर खुसरो ने कैसी निर्लज्जता से यह शैर कहा है? क्या कोई अपनी प्रेयसी से ऐसी बात कहता है?' मुल्ला नक़्शी ने उत्तर दिया कि 'खुसरो हिंद के रहने वाले थे। यह शैर उन्होंने इस प्रकार कहा है कि मानों कोई स्त्री कह रही है कि आज की रात्रि कहाँ और किस दूसरी स्त्री के साथ

रहे ? क्योंकि तुम्हारी आँखों में अब तक मस्ती चढ़ी हुई है।' यह अर्थ सुनकर बादशाह का क्रोध दूर हो गया।

'उर्दू' नाम की यह व्यावहारिक भाषा लगभग पाँच शताब्दी तक इसी रूप में रही और विद्वानों ने इसे साहित्य-रचना के लिए नहीं अपनाया। इसे साहित्यिक भाषा होने का गौरव शायद ही प्राप्त होता यदि यह दक्षिण की यात्रा न कर आती। उर्दू के साहित्य का आरंभ दक्षिण में हुआ। उत्तरी-भारत में वली के समय तक मुसलमान साहित्यिकों में फ़ारसी ही का दौरदौरा था। मीरहसन अपनी पुस्तक तजकिरः में लिखते हैं कि रेख़्तः आरंभ में दखिनी भाषा से निकली। मीर साहेब 'मीर' तथा क़ायम के शेर ऊपर दिए जा चुके हैं, जो इसका समर्थन करते हैं। दक्षिण में जब मुसलमानी राज्य स्थापित होगए तब उनकी सरकारी और दरबारी भाषा फारसी ही थी और प्रजा की तैलंगी, कनाडी आदि, जो आर्य भाषाओं से भिन्न द्राविड़ी भाषाएँ थीं। जब 'उर्दू' नाम की हिंदी दक्षिण में आई और साहित्यिक रूप धारण करने लगी, तब द्राविड़ी भाषाएँ तो अजनबी थीं, इस कारण उसने उनसे कोई सरोकार नहीं रखा, पर फ़ारसी का रंग उस पर अच्छी तरह चढ़ गया। कारण यह कि एक तो फ़ारसी भी आर्य भाषा है और दूसरे शताब्दियों से दोनों का साथ था। इस प्रकार उत्तर से लाई गई उस छोटी सी धारा में फ़ारसी की प्रबल उल्टी धारा का जल

उर्दू का साहित्यिक रूप

नहर काट कर ला मिलाया गया, जिससे उसकी धारा भी उल्टी वह चली। फ़ारसी छंदशास्त्र के नियमों से बनी हुई कविता में फ़ारसी ही के उपमान, उपमेय, विचार, कथाएँ आदि भर दी गईं और उर्दू नाम की हिंदी वस्तुतः उर्दू हो गई। उर्दू और हिंदी के पार्थक्य का मुख्य कारण वस्तुतः फारसी छंदशास्त्र तथा अभारतीय प्रसंग-वर्णन है। यद्यपि फ़ारसी लिपि भी उस पार्थक्य को बढ़ाने में सहायता देती है, पर केवल लिपि के कारण भाषा दूसरी नहीं हो सकती। यदि यह साहित्यिक आरंभ उत्तरी भारत में होता जहाँ बादशाही महलों और मुसलमान विद्वानों की समाजों को छोड़ चारों ओर हिंदी ही हिंदी थी, तब संभवतः हिंदी पिंगल शास्त्र ही की वह अनुकरण करती और कोई पृथक् भाषा का रूप न धारण कर सकती।

उर्दू पर अन्य भाषाओं का रंग

जैसा दिखलाया जा चुका है, उर्दू हिंदी तथा फारसी के मेल से बनी है, जिसमें फारसी तथा उसी के साथ आए हुए अरबी और तुर्की शब्दों का बाहुल्य है और फारसी छंद-शास्त्र तथा व्याकरण से सुसंगठित की गई है। संस्कृत तथा हिंदी शब्दों का बहिष्कार नियम पूर्वक धीरे धीरे होता गया था, फलतः बीसवीं शताब्दी के आरंभ होते होते केवल कुछ प्रत्यय, क्रियाएँ आदि ही हिंदी की बच रही थीं और केवल उन्हीं से उर्दू और फ़ारसी की भिन्नता मालूम होती थी। एक सज्जन लिखते हैं कि फ़ारसी शब्दों

की प्रचुरता का यह कारण है कि फ़ारसी मुसल्मान विजेताओं तथा राजाओं की भाषा थी और इसीलिये उसका प्रभाव विशेष रूप से इस व्यावहारिक भाषा पर पड़ा है पर हिंदी तथा उर्दू साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यह कहाँ तक ठीक है। जिस समय मुसल्मान वास्तव में विजेता थे और उनके बादशाह भी कठपुतली नहीं हो रहे थे उस समय तक हिंदी ही की उन्नति होती रही पर उर्दू की उन्नति मुसल्मान बादशाहों की अवनति के साथ साथ हुई है। मुग़ल बादशाहों के दरबार तथा कचहरी की भाषा अभी हाल तक फ़ारसी रही है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक के किबाले, फैसले आदि प्राप्त हैं, जिनका मज़मून पहिले फ़ारसी में तथा नीचे हिंदी में उसका आशय दिया हुआ है। उर्दू उस समय तक भी राजभाषा नहीं थी। जिस प्रकार मुसल्मानी नई वस्तुओं के नाम भारत की भाषाओं में आ मिले थे उसी प्रकार—पुर्तगाली, अंग्रेजी आदि भी शब्द आज तक मिलते जा रहे हैं, जैसे कारतूस, पादड़ी, कड़ाबीन, कमरा आदि।

दूसरा परिच्छेद

काव्य-भाषा, उर्दू साहित्य का विकास

यद्यपि भारत पर मुसलमानों का आक्रमण पंजाब के राजा जैपाल के समय से आरंभ हो गया था परंतु उनका यहाँ बसना सुल्तान मुहम्मद गोरी के समय से आरंभ हुआ है।

मौखिक विकास हिंदी साहित्य के इतिहास का यह चंद-काल था। उस बारहवीं शताब्दी में हिंदी अपभ्रंश से पृथक् हो रही थी अर्थात् अपनी अधबनी अवस्था में थी। चंद रासो में अनेक अरबी, फारसी और तुर्की शब्द सम्मिलित हैं। मुसलमानों के भारत में प्रवेश करते ही इन विदेशी शब्दों का प्रचार होने लगा था और यह प्रचार यहाँ तक बढ़ा कि काव्य-निर्णयकार ने भाषा के लक्षण में फारसी को भी स्थान दे दिया है।

यदि हिंदी के ग्रंथों में फारसी आदि विदेशी शब्दों के प्रयोग को उर्दू नामक नई भाषा के पृथक्करण का मापक माना जाय तो उसका आरंभ चंद कवि के रासो के समय से समझना चाहिए। इस ग्रंथ से कुछ उदाहरण लीजिए—

अलुझिझ कंठ कंठ एक तुट्टि तेग दुब्भरं ॥

द्वारपाल कमधज्ज थपि, हम रष्षे दरबार ॥

अब जीवन बंछै कहा, कहौ सुकब्वि बिचार ॥

इसमें तेग और दरबार फ़ारसी शब्द हैं परंतु बहुत प्रचलित होने से सरल हो गए हैं। इस ग्रंथ के अनंतर अमीर खुसरो का समय आता है, जिन्होंने मुसल्मान होकर और फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि होने पर भी हिंदी में कविता की है ओर अनेक प्रकार की पहेली और मुकरी भी कही है। उदाहरण के लिये इनकी एक पहेली दी जाती है, जिसमें सूरत, बदकार और मुश्क विदेशी शब्द है।

एक नार चरन वाके चार, स्याम बरन सूरत बदकार ॥
बूझो तो मुश्क है, न बूझो तो गँवार ॥

इसके बाद क्रम से कबीरदास, गुरु नानक और मलिक मुहम्मद जायसी हुए, जिन्होंने अपनी अपनी रचनाओं में विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है। इनके ग्रंथों से भी कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

कबीर— दीन गँवायो दुनी से, दुनी न आयो हाथ।
पैर कुल्हाड़ी मारियो, गा फल अपने हाथ ॥

गुरु नानक—सास मास नव जीउ तुम्हारा, तू है खरा पियारा।
नानक सायर यूँ कहत है सच्चे पर्वरदिगारा ॥

जायसी— दीन्ह असीस मुहम्मद करिहउ जुग जुग राज।
बादशाह तुम जगत के जग तुम्हार मुहताज ॥

पूर्वोक्त कवियों के बाद गुसाईं तुलसीदास जी, सूरदास जी आदि का समय आता है और इन लोगों ने विदेशी शब्दों का

प्रयोग किया है और यह प्रथा अब तक प्रचलित है। कविता के अतिरिक्त बोलचाल में भी बहुतेरे शब्द प्रचलित हो गए हैं, जिसका मुख्य कारण यही है कि अनेक विदेशी वस्तु, नाम, रीति आदि नवागंतुकों के साथ आए हैं तथा उनके विदेशी नामों का प्रयोग आवश्यक और अनिवार्य हो गया है जैसे कुर्ता, तकिया, पैजामा, अचार, चिमचा, साबुन आदि।

इसी प्रकार अंग्रेजी के स्टेशन, टिकट, अपील आदि बहुतेरे शब्द प्रचलित हो गए हैं। फारसी आदि के बहुतेरे शब्द इस प्रकार चल गए हैं कि उन्हें लोग एकाएक विदेशी नहीं कह सकते जैसे दलाल, कुर्सी, कारीगर, दालान आदि। अनेक शब्द कुछ रूपांतर के बाद चल गए हैं, जैसे पैजावा (पज़ावः) मुर्दार संख (मुर्दः संख) कुलांच (कुलाश) आदि।

उर्दू की काव्य भाषा

वस्तुतः जब उर्दू स्वयं कोई भाषा नहीं है, तब उसकी काव्य भाषा कैसी ? उर्दू ने तो लिपि, शब्द, व्याकरण, छंदशास्त्र आदि सभी कुछ दूसरों से केवल उधार लेकर अपनी तैयारी कर ली है। आरंभ में दक्खिनी भाषा में कुछ फारसी के शब्द मिश्रण कर यह काव्य भाषा बनाई गई परंतु जब वह दिल्ली पहुँची तब वहाँ की खड़ी बोली ने उसका स्थान ले लिया। जब इस भाषा की काव्य रचना फारसी छंद आदि के नियमानुसार हुई, तब वह भाषा उर्दू की काव्य-भाषा कही जाने लगी।

सभी भाषाओं के साहित्य का आरंभ या उसकी पुष्टि राजाश्रय से ही होती है और इसी प्रकार उर्दू की मौखिक या व्यावहारिक अवस्था का आरंभ यदि उत्तर के सुल्तानों के आश्रय में हुआ है तो इसका साहित्यिक आरंभ दक्खिन के दरबार में हुआ है। प्रसिद्ध मुग़ल सम्राट् अकबर के समय तक इस व्यावहारिक भाषा का सूत्रपात हुए पाँच शताब्दि व्यतीत हो चुके थे परंतु वह उसी रूप में स्थित रही। विद्वानों या राजदरबारों में उसकी पहुँच नहीं थी। उस समय तक किसी को आशंका भी नहीं थी कि वह कभी इस उन्नत अवस्था तक पहुँचेगी परंतु दक्षिण की हवा लगने से उसे साहित्यिक भाषा का गौरव प्राप्त हो गया। इस भाषा का आरंभ कविता ही से होता हुआ देखा जाता है। मनुष्य के हृदयोद्गार स्वभावतः कविता में पहिले उबल पड़ते हैं। गंभीर विषय के लिए मनन विचार के अनंतर गद्य की आवश्यकता पड़ती है। भावोदय के बाद ही विचार उठते हैं। उर्दू के लिए भी यही बात हुई। पर उसमें एक विशेषता यह थी कि वह काव्यशास्त्र के सभी सामान से सुसज्जित होकर एकाएक भारतीय रंगमंच पर आ पहुँची। क्रमिक विकास की गंभीरता का चिह्न उसमें न रह कर अभिनेत्रियों सी चपलता और बनावट उसमें पूर्ण रूप से विकसित हुई। गद्य का विकास बहुत बाद को हुआ क्योंकि प्रायः सभी साहित्यों में देखा गया है कि गद्य लिखना पहिले लोग कुछ हेय समझते थे।

उर्दू साहित्य का आरंभ

कुछ सज्जन अमीर खुसरो को उर्दू का प्रथम कवि मानते हैं। यह मानना केवल उर्दू साहित्य को लगभग तीन शताब्दि और पीछे ले जाने का व्यर्थ प्रयास है। अमीर खुसरो का जन्म ज़िला एटा के पटिआला ग्राम में सन् १२५५ ई० में हुआ था। यह बारह वर्ष की अवस्था ही से शैर कहने लगे। यह निज़ामुद्दीन औलिया के शिष्य थे और सन् १३२४ ई० में अपने गुरु की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद आप भी मर गए। खुसरो ने अपनी आँखों से गुलाम वंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान तथा पतन और तुग़लक वंश का उत्थान देखा था। इनके समय में दिल्ली के सिंहासन पर ग्यारह सुल्तान बैठे, जिनमें सात की इन्होंने सेवा की थी। फ़ारसी साहित्य के इतिहास में इन्हें 'तूतिए हिंद' की पदवी से बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। इनमें कट्टरपन की मात्रा नहीं के समान थी। इन्होंने हिंदी भाषा में, जिसे वे स्वयं हिंदी या हिंदुई कहते थे, गीत, पहेलियाँ आदि कही हैं, जो अभी तक जनसाधारण में बहुत प्रचलित हैं। 'उर्दू में कविता लिखने में यह प्रथम हैं। इन्होंने पहिली उर्दू ग़ज़ल लिखी पर वह दो भाषा की मेल है, जिसमें एक मिसरा फ़ारसी तथा एक उर्दू है।' इनकी फ़ारसी कृतियों को छोड़कर जो अन्य रचनाएँ हैं वे शुद्ध हिंदी हैं। एक पंक्ति भी ऐसी अभी तक नहीं मिली है, जिसे उर्दू कह सकते हैं। जिस ग़ज़ल का उल्लेख पूर्वोक्त उद्धरण में दिया गया है, उसका प्रथम शैर लीजिए—

खुसरो, उर्दू का प्राचीनतम कवि

ज़े हाल मिसकीं मकुन तग़ाफुल दुराय नैना बनाए बतियाँ।
कि तावे हिज्राँ न दारम ए जाँ न लेहु काहे लगाय छतियाँ॥

अब इसमें देखिए कि उर्दू पन किस अंश में हैं। इसीको उर्दू समझने से स्यात् यह भूल हुई कि उर्दू ब्रजभाषा से निकली है। यह तो फ़ारसी और हिंदी का पवित्र संगम एक उच्च विचार के पुरुष द्वारा प्रदर्शित किया गया है। ख़ालिकबारी फ़ारसी और तुर्की का कोष मात्र है, जिसका पर्याय उर्दू में नहीं प्रत्युत् 'हिंदी और हिंदुई' में दिया गया है। इसके दो शेर प्रथम परिच्छेद में उद्धृत हैं, जिसे पाठकगण देखें कि वह कौन भाषा है। इस प्रकार देखा जाता है कि अमीर खुसरो का उल्लेख, प्रतिष्ठापूर्ण उल्लेख, फ़ारसी तथा हिंदी ही के साहित्यों के इतिहास में होना चाहिए, उर्दू के नहीं।

हिंदी साहित्य में फ़ारसी भाषा के शब्दों का प्रचार बढ़ रहा था। मुसल्मानों ने हिंदी में कविता आरंभ कर दी थी, जिनमें जायसी, रहीम, कबीर, रसखान आदि सुप्रसिद्ध हैं। नवाब अब्दुर्रहीम ख़ाँ ख़ानख़ानाँ की खड़ी बोली हिंदी की कविता, जैसे 'गुल तोड़ती थी खड़ी' या 'ज़रद बसनवाला गुल चमन देखता था', एकाएक फारसी शब्दों की बहुलता से उर्दू ही की कविता जान पड़ती है, पर वास्तव में हिंदी है।

हिंदुओं में फ़ारसी का प्रचार

उर्दू साहित्य का आरंभ दक्षिण के गोलकुंडा और बीजापुर

के क़ुतुबशाही और आदिलशाही दरबारों के आश्रय में हुआ था।

दक्षिण में उर्दू साहित्य का आरंभ

यहाँ के सुल्तान गण केवल कवियों के आश्रयदाता ही नहीं थे प्रत्युत् वे स्वयं कविता करते थे। इन लोगों का विशेष विवरण आगे के परिच्छेद में दिया गया है। यहाँ के उर्दू कवियों की काव्य-भाषा हिंदी थी पर उसमें फ़ारसी, अरबी और तुर्की शब्द तथा दखिनी मुहाविरे मिले हुए थे और यहाँ के कवियों ने हिंदू आख्या-यिकाओं, उपमाओं को भी अपनी कविता में स्थान दिया था। जब औरंगज़ेब ने इन राज्यों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया तो साथ ही ये साहित्य क्षेत्र भी नष्ट हो गए। इसके अनंतर वली ने मुहम्मद शाह के समय दिल्ली आकर अपने दीवान का प्रचार किया, जिससे वह उर्दू कविता के 'बाबा आदम' बन बैठे और उनकी कविता दिल्लीवालों की कुछ ऐसी भाई कि वह स्थान शीघ्र ही उर्दू साहित्य का भारी क्षेत्र बन गया। भारतीय हिंदी को जो अपनाना नहीं चाहते थे और जिनके लिए विलायती फ़ारसी अरबी अत्यंत दुरूह थी, उन्हें यह मनचाही भाषा मिल गई। दिल्ली के सम्राट् की उन्नति और अवनति के साथ उसकी भी उस स्थान विशेष में उन्नति और अवनति होती रही परंतु जब लखनऊ में आसफ़ुद्दौला के दान, मान और गुणग्राहकता की धूम मची और उसका यश दिल्ली पहुँचा तब बहुत से अच्छे कवि, जिनमें मीर तक़ी 'मीर', 'सौदा', 'इंशा' आदि थे, लखनऊ चले गए और वहाँ

उर्दू का एक नया साहित्य-क्षेत्र खुल गया। नादिरशाह, अहमद शाह दुर्रानी और मराठों की चढ़ाइयों से दिल्ली की दुर्दशा होने पर उसका साहित्य-क्षेत्र लखनऊ के आगे दब गया। सन् १८५६ ई० में लखनऊ के नवाब वाजिद अलीशाह के गद्दी से उतारे जाने पर लखनऊ भी दब गया और एक प्रकार उर्दू कविता का कोई केंद्र नहीं रह गया। उसके अनंतर हैदराबाद, रामपुर आदि अन्य नवाब शायरों को आश्रय प्रदान करने लगे हैं और कितने स्वतंत्र कवि भी इधर हुए हैं और वर्तमान हैं।

गद्य साहित्य

गद्य साहित्य का आरंभ दिल्ली और लखनऊ में हो गया था परंतु उसका पूर्ण विकास कलकत्ते में हुआ। जब कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज स्थापित हुआ तब ईस्वी अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में यहाँ डाक्टर गिलक्राइस्ट साहब की अधीनता में अनेक हिंदी और उर्दू के विद्वानों ने गद्य का स्वरूप निर्धारित करना आरंभ किया। ऐसा करने का मुख्य कारण यही था कि विलायत से नए आए हुए युरोपियन अफसरों के लिये शिक्षा की पुस्तकें तैयार हों, जिससे वे देश की भाषा से स्वतः परिचित हो सकें। इसलिए उस समय के फारसी के अच्छे अच्छे विद्वान वहाँ एकत्र किए गए और उनकी गद्य भाषा भी ऐसी उत्तम और आदर्श भाषा थी कि अब तक उससे कोई आगे नहीं बढ़ सका है। इन्हीं डा० गिलक्राइस्ट ने उर्दू के कोष तथा व्याकरण पहिले पहिल तैयार कराए थे।

व्याकरण की दृष्टि से यद्यपि दरिआए लताफ़त को प्रथम स्थान मिलता है, पर उसका महत्व केवल ऐतिहासिक दृष्टि से तथा समकालीन बोलचाल की भाषा के नमूने देने ही से विशेष है। इसी समय ज़हूरी और बेदिल के फ़ारसी गद्य की चाल पर तुकबंदी लिए हुए गद्य का दिल्ली और लखनऊ में प्रचार हो रहा था जिसमें रूपक, उपमादि की खूब छटा दिखलाती थी। यह तुकबाज़ी बड़े बड़े वाक्यों में ऐसी पीछे पड़ जाती थी कि अर्थ का पता जल्दी नहीं मिलता था। फ़ारसी के नस्ने मुररसा और नस्ने मुसज्जा की नकल उर्दू में भी होने लगी। इस प्रकार के गद्य के लेखकों में पहिला नाम 'सरूर' का है, जिनका 'फिसानए अजायब' इसका सर्वोत्तम नमूना है। ग़ालिब के पत्रों के संग्रह 'उर्दुएमुअल्ला' और 'ऊदए हिंदी' का गद्य इसके विरुद्ध सादगी, आडंबर-शून्यता, विनोद तथा गांभीर्य के लिये प्रसिद्ध है। समय का अनुसरण करते हुए कभी कभी तुकबंदी भी किया है पर यह उसके विरोधी अवश्य रहे। ईसाई पादड़ियों ने भी आरंभ में (सन् १८०५ ई० के लगभग) बाइबिल आदि के अनुवाद उर्दू में कराए थे और मुफ्त में बाँटते थे। उर्दू ही में और भी छोटी छोटी पुस्तिकाएँ छपवाकर उर्दू के प्रचार में इन लोगों ने हाथ बँटाया था। सैयद अहमद के धार्मिक झगड़ों ने भी उर्दू पद्य की उन्नति में सहायता दी। सर सैयद अहमद के उत्साह-पूर्ण धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा शिक्षा विषयक कार्यों से भी उर्दू को विशेष

रूप से सहायता पहुँची। इनके सहकारी तथा मित्र गण ने जिनमें हाली, शिबली, ज़काउल्ला, नजीर अहमद आदि से विद्वान थे, उर्दू साहित्य के भंडार को परिपूर्ण करने में पूरा योग दिया था। आज़ाद के गद्य की शैली भी बहुत अच्छी है और यह जिस विषय का वर्णन करते हैं उसका चित्र सा खींच देते हैं। पाश्चात्य ज्ञान का प्रभाव भी अब पूर्ण रूप से उर्दू साहित्य पर पड़ने लगा जिससे आलोचना, विज्ञान आदि पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं।

मुसलमानी राज्य के जम जाने पर भी पठान वंशों तक हिंदी ही दफ्तर आदि की भाषा रही। सिक्कों पर भी हिंदी ही में बादशाहों के नाम रहते थे। मुगल साम्राज्य स्थापित होने पर फ़ारसी भाषा का प्रचार हुआ पर इसने भी तत्कालीन उर्दू नाम की माध्यम भाषा को कुछ आश्रय नहीं दिया। अकबर के मंत्री राजा टोडर मल ने दफ़्तर के काम फ़ारसी में कर दिए पर माल विभाग का काम हिंदी ही में रहने दिया। सन् १८३७ ई० तक फ़ारसी ही प्रचलित रही और भारत-सर्कार ने सर्व-साधारण के कष्ट को देखकर देश भाषाएँ जारी करने की आज्ञा दे दी। बंगाल में बंगाली, गुजरात में गुजराती तथा महाराष्ट्र में महाराष्ट्री प्रचलित की गई और संयुक्त प्रांत, मध्यप्रदेश तथा विहार में हिंदुस्तानी नाम से उर्दू जारी की गई। सन् १८८१ ई० में विहार और मध्यप्रदेश से उर्दू उठाकर हिंदी

कचहरी में उर्दू

कर दी गई। इस प्रकार अदालती भाषा हो जाने से उर्दू का कोष तथा महत्व भी बढ़ गया।

उर्दू की समग्र आरंभिक कविता प्रेम और विरह के रंग में रँगी हुई है, जिसका कारण यह है कि इन्हीं भावों पर फ़ारसी के कवियों ने बहुत रचना की है। इस प्रकार भावों की कमी और मौलिकता की हीनता से कथन-शैली और अलंकारों में ही नवीनता लाई गई तथा उर्दू का अलंकारशास्त्र परिपक्व हो गया। इसका कारण यही है कि जब उन भावों पर, जिन पर सैकड़ों कवि अपनी अपनी कवित्वशक्ति का परिचय दे चुके हों, फिर से कविता की जाय तब इसमें कुछ मौलिकता लाने के लिये यह अत्यावश्यक है कि उसके कहने ही में कुछ नवीनता लाई जाय। इसलिये बातों का फेरफार, अनोखी उपमाएँ, अनुप्रास और श्लेष का उर्दू कविता में अधिक प्रयोग रहता था। उर्दू कविता में भावों के इसी अभाव से उनके अनुवादों में चमत्कार घटने नहीं पाता। मसनवियों का का भी यही हाल है कि एक आख्यायिका पर अनेकानेक कविता बनी है और उनमें केवल कथन शैली की विभिन्नता है, जैसे लैली-मजनू, युसुफ़-ज़ुलेखा आदि। नाम बदलने पर भी घटनाएँ वही रहती हैं, जिनसे हर एक पाठक परिचित है और केवल उनकी कविता के ढंग से ही एक दूसरे की मौलिकता का पता चलता है।

उर्दू का आधार फ़ारसी

प्राचीन समय से प्रायः अब तक की उर्दू कविता पर फ़ारसी

उर्दू कविता पर इस नकल से दोष

के इस अनुकरण तथा अपहरण का जो प्रभाव पड़ा है, वह निर्दोष नहीं है। उसे प्रत्येक भाषा के समान आरंभ में बहुत काल तक प्रौढ़ तथा परिपक्व होने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ा वरन् सब कुछ, अनुकूल या प्रतिकूल, फारसी का अपना कर एकाएक वह प्रौढ़ काव्य भाषा के रूप में परिवर्तित हो गई। पर इससे वह स्वाभाविकता या वास्तविकता जो प्रत्येक भाषा की निज की समय और देश के अनुसार संपत्ति होती है खो बैठी। उर्दू फारस देश के बुलबुल का जैहून या सैहून के किनारे सरो, नरगिस, सौसन आदि से भरे हुए बाग में चहचहाना तथा बेसतून पर्वत का दृश्य वर्णन करती है। फ़ारस के रुस्तम की वीरता, नौशेरवाँ का न्याय, हातिम का दान, लैला-मजनूँ का प्रेम आदि उसके लिये आदर्श हैं। प्राकृतिक शोभा की खान स्वदेश के हिमालय सदृश पर्वत, गंगा-यमुना सी नदियाँ, यहाँ के षट् ऋतु, सहस्रों प्रकार के पक्षी आदि उपेक्षणीय माने गए। भारत के प्रकांड वीरों तथा आदर्श प्रेमियों की कथाएँ धार्मिक द्वेष के कारण हीन समझी गईं। तात्पर्य यह कि आँखों के सामने उपस्थित दृश्यों के बदले सुनी हुई बातों का वर्णन कर वास्तविकता का संहार किया गया था। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है एक ही बात को बारंबार फेंटने से भाषा में मौलिकता न रह कर वागाडंबर मात्र रह गया। नए नए भावों, अनुभव से उद्भूत कल्पना के नए नए उड़ानों तथा कवि की प्रतिभा

की स्वच्छंदता के नमूने, कहाँ हैं ? प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की तौवा ले ली गई है और क्यों न लें ? फारस जाकर निरीक्षण करना कष्ट साध्य और वहाँ की नदी तथा पर्वतादि का यहाँ आना असाध्य। बस जो कुछ पूर्ववर्ती फारस के कवि कह गए, वही सच्चा मंत्र, 'नादीदा' आँखें मूँदकर भिन्न भिन्न शैली से दुहराते तिहराते चले गए। इस प्रकार एक ही भाव, कथन शैली, उपमादि के उलट फेर सुनते सुनते जी ऊब उठता है। रदीफ़ और काफ़िया दोनों ही के बंधन से भी भाव के सीधे स्पष्टीकरण में रुकावट पड़ती है। अतुकांत सी स्वतंत्रता उसमें नहीं रह जाती। प्रायः 'तरह' निश्चित हो जाने पर कवियों के हृदय में भावोदय होता है। भारत के कवियों के नौ रसों में से उर्दू ने केवल शृंगार, उसमें भी विशेष कर वियोगात्मक शृंगार रस ही, लिया है जिससे भी 'मीठो भावै लोन पर' का मज़ा नहीं मिलता। पुरुष तथा स्त्री के नैसर्गिक तथा पारस्परिक प्रेम का त्याग कर किशोरावस्था के नव-युवक के प्रति अस्वाभाविक प्रेम दिखलाना दोष है और इसका समाज पर बुरा असर पड़ता है। इसके विषय में विशेष आलोचना की आवश्यकता नहीं।

प्रेम एकांगी या पारस्परिक दोनों प्रकार का होता है। जिस साहित्य में पुरुष स्त्री के प्रति और स्त्री पुरुष के प्रति अपने भाव, विचार, प्रेम आदि स्वतंत्रतापूर्वक वर्णन कर सकती है, उसी में स्वतंत्रतापूर्वक मनुष्य के हर प्रकार

उर्दू में संबोधन

की शैली के मानसिक उद्गार निकल सकते हैं। संसार के सभी सभ्य समाजों में देखा जाता है कि स्त्रियों से पुरुषों को विशेष स्वतंत्रता है और वे उन कार्यों के लिए समाज-च्युत नहीं समझे जाते, जिनके लिए स्त्रियाँ समझ ली जाती हैं। अब जिस साहित्य में केवल पुरुष ही स्त्रियों के प्रति अपने विचार प्रकट कर सकते हैं उसमें उस साहित्य से जिसमें स्त्रियों द्वारा पुरुष के विचार प्रकट किए जा रहे हों कम मानसिक विकारों का प्रकटीकरण हो सकता है। स्त्रियाँ जितने प्रकार से पुरुष पर आक्षेप कर सकती हैं और उलाहने दे सकती है उतने प्रकार से पुरुष नहीं कर सकते। इससे फ़ारसी के कवियों को इसी संकुचित सीमा के अंतर्गत अपने भावाक्षेपादि प्रदर्शित करना पड़ता था। उनका समाज पर्दे के कारण औपन्यासिक प्रेम का विरोधी था। इसलिए क्रमशः प्रतिष्ठार्थ अपने भाव अपनी प्रेयसी के प्रति इस प्रकार प्रदर्शित करते थे मानों वह पुरुष है। इस प्रकार पुरुष का पुरुष के प्रति प्रेम-वर्णन बढ़ता गया और उर्दू ने, जो फ़ारसी की अनुवर्तिनी मात्र थी, वैसी ही नकल उतार ली।

मुसल्मानी मतके कट्टर रीति रस्मों के विरुद्ध ही सूफ़ी मत फैला था और इसमें ईश्वर के प्रति प्रेम करना ही प्रधान ध्येय रहा है जिससे सांसारिक माया मोहादि विकार

कविता पर सूफ़ी मत का प्रभाव

निर्मूल हो कर आत्मा ईश्वर ही में रत रहते हुए उसी में लीन हो जाय। इस प्रकार के मोक्ष प्राप्त

करने के लिये इस मत में साधन की पाँच सीढ़ियाँ मानी गई हैं। प्रथम ईश्वराराधना, जो उसी की आज्ञा के अनुसार हो, द्वितीय भक्ति अर्थात् ईश्वर के प्रति आत्मा का आकर्षण, तृतीय एकांत स्थान में ईश्वर का ध्यान, चतुर्थ ज्ञान अर्थात् ईश्वर के गुणादि का दार्शनिक विचार और पाँचवाँ भावोद्रेक अर्थात् ईश्वरीय शक्ति तथा प्रेम के पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर शरीर का भान न रह जाना। इस प्रकार ईश्वर के प्रति प्रेम करने की साधना ठीक करने के लिए पहिले सूफी कवियों ने सांसारिक प्रेम का वर्णन आरंभ किया, जिसका प्रभाव फारस की लगभग सभी उत्तम कविता पर पड़ा है। वही प्रभाव फारसी का अनुसरण करने वाले सभी उर्दू के कवियों पर भी पड़ा है। आरंभ काल के प्रायः सभी कवि सूफी मत के मानने वाले थे और उनमें कई सूफी फकीरों के प्रसिद्ध घराने के वंशधर थे।

श्रृंगार दो प्रकार का होता है—संयोगात्मक और वियोगात्मक। ईश्वरीय प्रेम अर्थात् भक्ति वियोगात्मक है, जिसकी अनुभूति सांसारिक प्रेमियों के विरह में होती है।

उर्दू में श्रृंगार रस

संयोग तो एक ही बार होता है और तब वह अकथनीय है। इसी से उर्दू के कवि केवल अपना 'दर्दे दिल ही' सुनाते रहते हैं और उसे 'मै, मीना, कुलकुल' से भुलाने का प्रयत्न करते हैं। इसी वियोगात्मक श्रृंगार रस में जब करुण रस का भी पुट मिल जाता है तब वह अभूतपूर्व हो जाता

है, नहीं तो वह दुखड़ा रोना मात्र है। पाश्चात्य संपर्क अब नए नए विषयों की ओर भी कवियों की कल्पना को आकृष्ट कर रहा है और उन्हें प्रकृति तथा सत्यता की ओर झुका रहा है। विषय-वासनादि में आसक्त सम्राटों तथा नवाबों के आश्रय रूपी संसर्ग के दूर होने से भी अब कवियों की रुचि स्वच्छ और स्वच्छंद हो गई है। जीविका के लिये उनका शरीर परतंत्र हो सकता है पर उनकी प्रतिभा स्वतंत्र है। उसे अपने आश्रयदाता ही का मन बहलाव करना नहीं रह गया है। अस्तु, जो कुछ हो प्रेम के वियोगात्मक अंश के प्रत्येक पहलू पर तथा उसकी अनुभूति का जो वर्णन उर्दू में हो चुका है, वह बड़ा ही हृदयद्रावक और आकर्षक है। विरह के कष्ट, नैराश्य के दुःख आदि का ऐसा वास्तविक दृश्य खींच दिया गया है कि सुनकर उसकी अनुभूति आप बीती सी होने लगती है।

तीसरा परिच्छेद

उर्दू साहित्य का दक्षिण में आरंभ

१६४०—१८००

सिद्धांत रूप से यह कहना कि अमुक भाषा का आदि कवि अमुक पुरुष था और उसका जन्म अमुक वर्ष में हुआ था, नितांत भ्रमोत्पादक है। प्राचीन लिखित ग्रंथों के आधार ही पर निश्चित किया जा सकता है कि प्राचीनतम कविता किसकी है। अन्वेषण नई नई पुस्तकों का खोज कर इसे अनिश्चित करता रहता है। प्रत्येक भाषा प्राचीनतर भाषाओं की रूपांतर मात्र होती है और वह रूपांतर इतने अधिक समय में होता है कि उस कार्य का कोई निश्चित समय निर्द्धारित नहीं किया जा सकता। इन भाषाओं को गीत और गाथा रिक्थक्रम से मिलती हैं परंतु उर्दू के भाग्य में यह मौखिक साहित्य भी नहीं बदा था। यह कहाँ से प्राप्त होता? वह किसी प्राचीनतर भाषा की रूपांतर न होकर केवल दो भिन्न जातियों के संपर्क से उत्पन्न उनके बोलचाल की माध्यम मात्र थी। साथ ही यह भी आश्चर्यपूर्ण है कि उर्दू साहित्य का आरंभ 'हिंदोस्तान' में न होकर दक्षिण के सुल्तानों के दर्बार में हुआ और इसीलिये वह आरंभ में दखिनी कहलाई। उत्तरी भारत में प्रसिद्ध मुगल

प्रथम कवि

सम्राट् अकबर का दरबार फारसी तथा हिंदी के सुप्रसिद्ध कवियों से सुशोभित था और हिंदी का यह सौर काल, सूरदास, तुलसीदास, नंददास आदि महात्माओं की वाणी से, भक्तों के हृदय को प्रकाशमान कर रहा था।

दक्षिण में मुसल्मानों द्वारा व्यवहृत प्राचीन उर्दू ही दखिनी कहलाई। मुसल्मानी सेनाएँ जिन्होंने खिलजी-वंश-काल से दक्षिण पर चढ़ाइयाँ कीं और वहाँ मुसल्मानी सल्तनतें स्थापित कीं उन्हीं के साथ यह व्यावहारिक भाषा भी वहाँ पहुँची और उस प्रांत के बोलचाल का प्रभाव पड़ने से लगभग दो तीन शताब्दी में कुछ भिन्न हो गई। यह भी फ़ारसी ही लिपि में लिखी जाती है पर फारसी शब्दों की भरमार नहीं रहती। यह उर्दू का प्राचीन रूप है जिसमें दखिनी शब्द तथा मुहावरे मिल गए हैं। कर्त्ता का चिन्ह 'ने' का प्रयोग भूतकाल सकर्मक क्रिया के पहिले नहीं होता। संबंध वाचक सर्वनाम 'मेरे, तेरे' के लिए 'मुज, तुज' का प्रयोग होता है। 'हम तुम' के स्थान पर 'हमन, तुमन' प्रयुक्त होता है। सेती, थे, हौर गुमाना आदि दखिनी शब्द भी विशेष रूप से मिलते हैं जो वली के साथ दिल्ली आए पर यहाँ कुछ ही समय के बाद साफ़ कर दिए गए।

दखिनी क्या है ?

दक्षिण के इतिहास पर विचार करते हुए देखा जाता है कि खिलजी-वंश की चढ़ाइयों के अनंतर दक्षिण का प्रथम मुसल्मानी

आरंभ का कारण

साम्राज्य सन् १३४७ ई० में 'वहमनी साम्राज्य' के नाम से स्थापित हुआ था। यह साम्राज्य डेढ़ सौ वर्ष से अधिक स्थित रह कर सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में नष्टः प्राय होकर पाँच भिन्न राज्यों में वँट गया था। फिरिश्ता लिखता है कि 'गंगू (गंगाधर) पहिला ब्राह्मण था, जिसने मुसल्मान की नौकरी की। इसके स्वीकृत करने के अनंतर कर विभाग का कार्य दक्षिण के सुल्तान प्रायः ब्राह्मणों ही को देते थे।' पर स्वयं आगे जाकर लिखता है कि इब्राहीम आदिलशाह की आज्ञा से 'जो राज कार्य पहले फ़ारसी भाषा में रखा जाता था—वह हिंदुवी में ब्राह्मणों के प्रबंध में लिखा जाने लगा।' दोनों उद्धरण एक दूसरे के विरोधी हैं। पर इससे यह पता लगता है कि राज कार्य में हिंदी को अवश्य स्थान मिला था। गोलकुंडा का अंत सन् १६८६ ई० में तथा बीजापुर का सन् १६८७ ई० में हुआ था। इस प्रकार तीन शताब्दियों से अधिक समय तक मुसल्मानों का आधिपत्य दक्षिण में स्थापित रहा। हिंदुओं तथा मुसल्मानों का संपर्क दक्षिण में विशेष रूप से इस कारण दृढ़ था कि इन दरबारों में विलायती (अर्थात् फ़ारस आदि से नए आए) तथा दखिनी मुसल्मान सर्दारों के दो दल हो गए और उनमें वैमनस्य हुआ तब हिंदू सर्दारों ने देशी मुसल्मानों ही का साथ दिया। इस सहयोग से भी उर्दू भाषा दृढ़तर हुई। इस प्रकार जब फ़ारसी भाषाविद् हिंदुई (हिंदी) भाषा का ज्ञाता होने पर

माध्यम की भाषा में कविता करने बैठा तब उसे फ़ारसी पिंगल ही का आश्रय लेना पड़ा क्योंकि उत्तर के समान हिंदी का पिंगल उसके सम्मुख उपस्थित नहीं था। आस पास की तैलंगी, कनाड़ी आदि भाषाएँ अजनबी थीं। उनका कुछ भी असर न पड़ना कोई आश्चर्य नहीं है। बस ऐसा होते ही उर्दू नाम्नी हिंदी सभी उल्टा विदेशी स्वाँग धारण कर वास्तव में एक नई भाषा बन बैठी। सूफ़ियों ने भी इस भाषा की उन्नति में बहुत कुछ हाथ बँटाया है।

पहिला कवि

साहित्य, समाज, राजनीति किसी के भी इतिहास का आरंभ कुछ न कुछ तमसाच्छन्न रही जाता है। यही उर्दू साहित्य के आरंभ का हाल है। किसी प्राचीन संग्रह या तज़किरे का अभी तक पता नहीं है, जिससे कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सके। पुस्तकों की खोज किसी न किसी समय कुछ विशेष प्रकाश इस विषय पर डाल सकती है। शुजाउद्दीन नूरी गुजराती पहिला कवि माना जाता है, जो फ़ैज़ी का मित्र और अकबर का समकालीन था। यह सुलतान अबुल्हसन क़ुतुबशाह गोलकुंडा वाले के वज़ीर के पुत्र का शिक्षक था। इसके कुछ शैर 'क़ायम' के तजकिरे में मिलते हैं। अब यह विचारणीय है कि वास्तव में नूरी प्रथम कवि है या नहीं। अबुल्-हसन क़ुतुबशाह सन् १६७२ ई० में गद्दी पर बैठा। इसका प्रथम वज़ीर सैयद मुज़फ्फ़र केवल एक वर्ष तक इस पद पर रहा। दूसरा वज़ीर मदन पंडित था, जो इस पद पर बारह वर्ष तक

गोलकुंडा-नरेश मुहम्मद कुली कुतुबशाह

रहा। इस वजीर के मारे जाने के एक वर्ष के भीतर ही गोलकुंडा राज्य का अंत हो गया। अबुलहसन के श्वसुर अब्दुल्ला कुतुबशाह गोलकुंडा के छठे सुल्तान थे और सन् १६२६ ई० में बारह वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे। इसने सन् १६६७ से १६७२ ई० तक राज्य किया था। इसका वज़ीर इसका बड़ा दामाद सैयद-अहमद बहुत योग्य पुरुष था, जिसे कैद कर अबुलहसन, तीसरा दामाद, गद्दी पर बैठा था। अब 'नूरी' इन्हीं वज़ीरों में से किसी के पुत्र के शिक्षक माने जा सकते हैं। मुहम्मद कुली कुतुबशाह सन् १५८० ई० में गद्दी पर बैठा तथा सन् १६११ ई० में मरा था। इसने एक दीवान लिखा है। 'नूरी' इसके पहिले के कवि माने जाते हैं। यदि ये इनके समवयस्क भी रहे हों तो अबुलहसन के समय इनकी अवस्था लगभग एक सौ बीस वर्ष के होती है। ऐसा असंभव न होते हुए भी एक कवि को, जिसके कुछ ही शैर प्राप्त हैं, पहिला स्थान देना और जिसका समग्र दीवान प्राप्त है तथा जिसकी मृत्यु के बाद भी पहिला लगभग पचहत्तर वर्ष के जीवित रहा हो उचित नहीं जान पड़ता। 'नूरी' कवि के जीवन की प्राप्त सामग्री बहुत ही कम तथा भ्रमोत्पादक है। फैज़ी की मृत्यु सन् १५९४ ई० में हुई थी, जिसके यह मित्र कहे जाते हैं और जिसकी मृत्यु के लगभग ९० वर्ष बाद तक जीवित बतलाए जाते हैं। इस विवेचना से यही स्पष्ट जान पड़ता है कि 'नूरी' के जीवन पर विशेष प्रकाश न पड़ने तक उसे प्रथम

कवि मानना मुहम्मद कुली कुतुबशाह के साथ अन्याय करना मात्र है।

दक्षिण के बहमनी सुलतानों के ऐश्वर्य और वैभव का समाचार सुन कर आक़ क़वीनलू जाति का एक सर्दार सुलतान कुली बहमनी-सुलतान महमूद शाह के दर्बार में पहुँचा।

मुहम्मद कुली कुतुबशाह

महमूदशाह ने इसे होनहार समझकर अपना कृपापात्र बना लिया। महमूद शाह स्वयं विषयी और आरामतलब बादशाह था। उसके सर्दार आपस के द्वेष के कारण षड्यंत्र रचा करते थे और इसी में एक बार बादशाह स्वयं बलिदान हो चुका था, पर किसी प्रकार बच गया। सुलतान कुली ने अपनी वीरता और कार्यदक्षता से शीघ्र ही कुतुबुल्मुल्क की पदवी प्राप्त कर ली और तेलिंगाना का सूबेदार नियुक्त हुआ। सन् १५१९ ई० में महमूद शाह की मृत्यु पर इसने कुतुबशाह की पदवी धारण की और गोलकुंडा को राजधानी बनाकर स्वतंत्रता से छत्तीस वर्ष राज्य किया। उसने राज्य का विस्तार भी किया और आंतरिक प्रबंध भी, जो बहमनी सुलतानों के समय में ढीला पड़ गया था, फिर से ठीक किया। सन् १५४३ ई० में सुल्तान कुली अपने पुत्र जमशेद द्वारा मारा गया, जिसने सात वर्ष राज्य किया। सन् १५५० ई० में जमशेद का भाई इब्राहीम सुलतान हुआ, जिसने तालीकोट के युद्ध में योग दिया था। सन् १५८० ई० में उसकी मृत्यु होने पर उसका पुत्र मुह-

म्मद कुली कुतुब शाह गद्दी पर बैठा। बीजापूर और गोलकुंडा से बराबर युद्ध होता रहता था, इसलिये मुहम्मद कुली ने अपनी बहन मलिकैज़माँ का विवाह इब्राहीम आदिल शाह से करके उससे मित्रता कर ली। शान्ति स्थापन करके राज्य के कर, नियम आदि में बहुत कुछ उन्नति की और मसजिद, मदरसे आदि बनवाए। मुहम्मद कुली ने गोलकुंडा से कुछ हटकर एक नया नगर बसाया जिसका नाम एक वेश्या के नाम पर पहिले भाग नगर रखा था पर अब वह हैदराबाद के नाम से प्रसिद्ध है। फ़रिश्ता ने अपने ग्रंथ में इस नगर की बहुत प्रशंसा लिखी है और जिसने उस समय के दिल्ली, आगरा आदि प्रसिद्ध नगरों को देखा था, उसके लिए इतना लिखना ही बहुत है। इस नगर के बड़े बड़े महलों को, जिसे इस सुलतान ने बनवाया था, देखकर फ्रेंच यात्री टैवर्नियर ने बहुत आश्चर्य प्रकट किया था कि 'बागों के बड़े बड़े वृक्ष जो भिन्न भिन्न मरातिबों में लगे हैं, उनके बोझ को ये छतें किस प्रकार सँभाले हुए हैं।'

महम्मद क़ुली को इमारत बनवाने के व्यसन के सिवा साहित्य से भी बहुत प्रेम था और वह स्वयं भी कवि था। कविता में यह अपना उपनाम 'कुतबा' और 'मुआनी' रखते थे।

मुहम्मद क़ुली का साहित्य प्रेम

यह पहिला उर्दू कवि है जिसने फ़ारसी ढंग पर दीवान लिखा है। अभी तक उर्दू के प्रथम कवि तथा प्रथम 'दीवान' के लेखक यही है और माने भी

जाने चाहिए। स्वयं अच्छे लिखने वाले थे और ईरान तक से नस्तालीक़ और नसूख़ लिखने वाले इनके दरबार में आए थे। यह गुण-ग्राहक और गुणियों को पहचानने वाले थे। प्रसिद्ध मीर जुमला भी इन्हीं का वजीर था, जिसने कर्नोल और कड़प्पा विजय किए जाने पर वहाँ शांति स्थापन किया था। मीर मुहम्मद 'मोमिन' अस्त्राबादी भी इसी के दरबार में थे।

मुहम्मद क़ुली का काव्य संग्रह

यह हस्तलिखित ग्रंथ इस समय हैदराबाद के राजकीय पुस्तकालय में है। यह पुराने समय के बहुत अच्छे कागज पर नसूख़ चाल के हरफों में लिखा हुआ है। इस संग्रह में लगभग अठारह सौ पृष्ठ हैं। मुहम्मद क़ुली क़ुतुब शाह के भतीजे और उत्तराधिकारी मुहम्मद क़ुतुबशाह ने अपने चाचा की गज़लों को क्रम से लगाकर यह हस्तलिखित प्रति तैयार कराई और पहिले पृष्ठ पर अपने हाथ से इन्होंने जो लिखा है उसका आशय यह है कि पूज्य चाचा मुहम्मदक़ुली क़ुतुब शाह का कुलियात (दीवान अर्थात् संग्रह) पूर्ण हुआ और यह मुहीउद्दीन लेखक द्वारा १ रज्जब सन् १०२५ हि० को लिखा जाकर राजधानी हैदराबाद में सुरक्षित हुआ। भूमिका से यह भी ज्ञात होता है कि इन्हों ने ५०००० शैर लिखे थे। इस ग्रंथ में मसनवी, कसीदे, तरजीहवंद, फ़ारसी मर्सिए, दखिनी मर्सिए, फारसी गजलें, दखिनी गजलें और रूबाइयाँ इसी क्रम से संग्रहीत हैं। मुहम्मद कुली कुतुबशाह की कविता बहुत

ऊँचे दर्जे की न होने पर भी हीन नहीं कही जा सकती। किसी भाषा के आरंभिक काल के कवि के समान इनकी कविता भी अच्छी ही मानी जायगी। इनकी भाषा में दखिनी शब्द भी बहुत आए हैं। इनके शैरों में मदिरा और मस्ती का जिक्र बराबर रहा है, जिससे फ़ारसी की रंगत साफ़ झलकती है। फ़ारसी भाषा पर इस मदिरा का तेज़ रंग बहुत चढ़ा हुआ है पर इस कवि ने अपनी भाषा में उसका नीम रंग रखकर उसकी शोभा बढ़ा दी है। इस कवि ने केवल प्रेम ही पर नहीं लिखा है वरन् अन्यान्य विषयों पर भी लिखा है, जिनमें मानवी विचार और प्राकृतिक वर्णन भी सम्मिलित हैं। फलों, मेवों, पक्षियों आदि पर भी कविताएँ लिखी हैं। भाव, विचार, उपमा आदि फारसी की हैं और छंद भी उसी के साँचे में ढले हुए हैं पर इन सब के होते भी एक बात शुद्ध हिंदी या भारतीय है, जो इसकी समग्र कविता में एक रूप से पाई जाती है। फारसी की कविता में पुरुष प्रेमी अर्थात् आशिक होता है और स्त्री प्रेम की पात्री अर्थात् माशूक होती है, पर हिंदी में इसके बिलकुल विपरीत होता है। यही हिंदी कविता का रंग इनके काव्य-संग्रह में सर्वत्र झलकता है। हिंदी उपमाएँ, कथानक आदि भी बराबर लिए गए हैं, उनका बहिष्कार नहीं है।

मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह का भ्रातृष्पुत्र, दामाद और उत्तराधिकारी मुहम्मद क़ुतुबशाह बीस वर्ष की अवस्था में सन् १६११ ई० में गोलकुंडा की गद्दी पर बैठा। यह धर्मप्रिय और साहित्य

मुहम्मद क़ुतुब शाह का प्रेमी था। इसने बहुत सी इमारतें भी बनवाईं।

(सन् १६११— १६२५) फ़ारसी तथा दखिनी भाषाओं में एक एक दीवान लिखे हैं और गद्य भी लिखा है। इसका उपनाम 'ज़िल्लेअलाह' (ईश्वर की छाया) था। इनके शैरों में भी इनके चाचा के गुण वर्तमान हैं।

अब्दुल्ला कुतुबशाह अपने पिता की मृत्यु पर बारह वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा। इसने छिआलिस वर्ष नाम मात्र को राज्य किया। इसकी माता हयातबख्श बेगम ने

अब्दुल्ला कुतुबशाह (सन् १६२६— १६७२ ई०) चालीस वर्ष और इसके सबसे बड़े दामाद सैयद अहमद ने छः वर्ष तक राजकार्य का संचालन किया था। सन् १६५६ ई० में औरंगज़ेब की चढ़ाई पर इसने संधि कर ली और अपनी द्वितीय पुत्री का विवाह औरंगज़ेब के पुत्र मुहम्मद सुलतान से कर दिया। यह कला तथा साहित्य का बड़ा प्रेमी था और इमारतें भी बहुत बनवाई थी। दूर दूर से विद्वान आकर इसके राज्य में बसे थे। यह स्वयं भी फ़ारसी तथा दखिनी का कवि था और उपनाम 'अब्दुल्ला' रखा था। इसकी कविता में प्रसाद गुण विशेष है। आसफी मलकापुरी के संग्रह 'तज़किरः शोअराए दक्निन' में इनके शैर मिलते हैं।

इसी समय इब्न निशाती ने फूलबान नामक मसनवी दखिनी उर्दू में लिखी जो फ़ारसी के 'बसातीन' नामक पुस्तक के आधार

अब्दुल्ला कुतुबशाह के समय के अन्य कवि

पर लिखी गई है। इसमें एक प्रेम कहानी वर्णित है और नायिका के नाम पर मसनवी का नामकरण हुआ है। दूसरा कवि 'गवासी' है जिसने दो मसनवियाँ 'तूतीनामः' और 'क़िस्सै सैफ़ुल् मुल्क' लिखा है। पहिला ग्रंथ ज़िआ नख़्शवी रचित फ़ारसी पुस्तक के आधार पर सन् १६३९ ई० में लिखा गया था। परंतु यह फ़ारसी ग्रंथ भी संस्कृत के शुक सप्तति के आधार पर बना है, जिसका शुकबहत्तरी के नाम से हिंदी में अनुवाद हो चुका है। सन् १८०१ ई० में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में लिखे गए हैदर बख़्श प्रणीत 'तोता कहानी' का आधार यही 'तूती नामः' है। दूसरे में मिश्र के राजकुमार सैफ़ुलमुल्क और चीन की राजकुमारी बदीउल् जमाल का प्रेम गाथा कहा गया है। यह अलिफ़ लैला की एक कहानी 'क़मरुज्ज़माँ और बदरुन्निसा' के आधार पर लिखी गई है। इन दोनों ही में इस कवि का उपनाम बराबर आया है। इसी समय के एक विद्वान मौलना वजीह ने सन् १६३५ ई० के आसपास 'सबरस' नामक गद्य ग्रंथ लिखा था, जिसमें एक प्रेम कहानी का वर्णन है। इसका गद्य तुकबंदी पूर्ण है और भाषा दखिनी उर्दू है। तहसीनुद्दीन ने इसी समय 'क़िस्सै कामरूप और कला' नाम की एक मसनवी लिखी, जिसमें अवध के राजकुमार कामरूप और सिंहल की राजकुमारी कला का प्रेम वर्णन है। उत्तरी भारत में मुसलमानों द्वारा हिंदी में लिखी गई पद्मावती,

मृगावती, चित्रावली आदि प्रेम-आख्यायिकों के समान ही ये मस-नवियाँ भी हैं, जिनमें भी हिंदू नायक नायिकाओं का प्रेम वर्णन है। केवल फारसी छंद होने से ये उर्दू कहलाईं। गार्सिन दतासी ने सन् १८३६ ई० में यह मसनवी छपवाई थी।

गोलकुंडा का अंतिम राजा अबुलहसन सन् १६७२ ई० में गद्दी पर बैठाया गया। यह स्वयं कवि तथा कवियों का आश्रय-दाता था। इसका उपनाम ताना शाह था पर इसका एक ही शैर 'लुत्फ़' के तज़किरा 'गुलशने हिंद' में मिलता है। सन् १६८७ ई० में औरंगज़ेब ने यह राज्य मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया। इसके दरबार में 'तबई' नाम के एक कवि ने एक मसनवी 'क़िस्सै बहराम व गुलवदन' लिखा, जिसमें भी प्रेम कहानी कही गई है। यह सन् १६७०—७१ ई० में लिखी गई और शाह अबुल् हसन को समर्पित है।

अबुल हसन कुतुबशाह (सन् १६७२—१६८७ ई०)

बीजापूर का राज्य-दर्बार भी इसी प्रकार साहित्य-कला को आश्रय देने में गोलकुंडा के राजदर्बार से किसी प्रकार कम नहीं था। बीजापूर के छठे सुलतान अबुल् मुज़फ्फर इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय ने अच्छी इमारतें बनवाईं और विद्वानों को आश्रय दिया। फारसी का सुप्रसिद्ध कवि मुल्ला जहूरी सन् १५८० ई० में बीजापुर आया। इसकी सन् १६१६ ई० में मृत्यु

इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५८०—१६२६ ई०)

हुई। 'ख़वाने ख़लील' और 'गुलज़ारे इब्राहीम' नामक दो ग्रंथ इसने इस राजा को समर्पित किया। इब्राहीम आदिलशाह ने स्वयं हिंदी में गान विद्या पर कविता में एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम 'नौरस' है। मुल्ला ज़हूरी ने फ़ारसी गद्य में इस पुस्तक के तीन दीबायचे (भूमिका) लिखे जो 'सेह नस्रे ज़हूरी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके दरबार में मीर संजर और मलिक क़ामी नामक फ़ारसी के दो अन्य कवि थे।

अली आदिलशाह द्वितीय (सन् १६५६ –१६७२ ई०)

इब्राहीम आदिलशाह का पौत्र अली आदिलशाह कवियों तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। इसी के समय सुप्रसिद्ध वीर महाराष्ट्र साम्राज्य के संस्थापक शिवाजी हुए, जिन्होंने बीजापुर का बड़ा अंश जीत कर अपने अधिकार में कर लिया था। अली आदिल के दरबार में 'नसरती' उपनाम का एक प्रसिद्ध कवि था, जिसका नाम मुहम्मद नसरत था। यह ब्राह्मण था पर मुसल्मान हो गया था। यह कर्णाटक के राजा का कोई संबंधी था और वहीं से आकर अली आदिल का एक मंसबदार हो गया। सन् १६६५ ई० में 'अलीनामा' नामक एक बड़ी मसनवी दखिनी उर्दू में अपने राजा की प्रशंसा में लिखी, जिसमें कुछ कसीदे और मतले भी हैं। इस पर इसे मलिकुश्शुअरा की पदवी मिली। दूसरी मसनवी 'गुलशने इश्क' भी इसी भाषा में सन् १६५७ ई० में लिखी, जिसमें सूरजभानु के पुत्र कुँवर मनो-

हर और मधु मालती की प्रेम कहानी है। 'गुलदस्तए इश्क' के नाम से स्वरचित कविताओं का एक संग्रह तैयार किया। इन दोनों को भी इसने अपने आश्रयदाता को समर्पित किया है। यह सन् १६८५ ई० में मरा। यह सुन्नी तथा शाह वंदानेवाज़ गेसूदराज़ के घराने का मुरीद था। इसकी कविता बड़ी मधुर और प्रसाद-गुणपूर्ण होती थी।

नसरती का समकालीन एक और कवि 'हाशिमी' भी था, जिसका पूरा नाम शाह हाशिम बीजापुरी था। यह जन्मांध था और हिंदी में अच्छी कविता करता था। दखिनी उर्दू में 'युसुफ़ व ज़ुलेखा' नामक मसनवी लिखी। इस पर भी हिंदी की रंगत खूब है और श्लेष का भी बहुत प्रयोग है।

हाशिमी

दौलत ने सन् १६४० ई० में 'किस्सै शाह बहरामो हुस्नबानू' लिखा, जिसमें सुफेद देव के देश में बहराम गोर की वीरता दिखला कर हुस्नबानू परी से विवाह करना वर्णित है। 'फ़ैज' ने चीन के राजकुमार रुज़वाँ शाह और रूहअफ़ज़ा परी की कहानी पर एक मसनवी लिखी, जो सन् १६८३ ई० में समाप्त हुई। इसी समय सादी, फ़ज़ल, आशिक आदि कई कवि हुए, जिनके केवल उपनाम ही तजकिरों में प्राप्त हैं।

समकालीन अन्य कवि

सुलतान मुहम्मद कुली क़ुतुबशाह के अनंतर लगभग एक

शताब्दी तक कोई प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ है या उसका अभी तक पता नहीं लगा है। पूर्वोक्त अन्य कविगण केवल पथप्रदर्शक थे और साहित्य का वह रूप, जो दो शताब्दियाँ बीतने पर भी नहीं बदला है, वली और सिराज की कृति है। ये दोनों समसामयिक और एक ही नगर अहमदाबाद गुजरात के रहनेवाले थे। यह कार्य उस समय हो रहा था जब मुगल सम्राट् औरंगज़ेब दक्षिण में मृत्यु के साथ युद्ध कर रहा था। शम्स वलीउल्ला उपनाम वली बहुत दिनों तक उर्दू साहित्य के आदि कवि और प्रथम दीवान के कर्ता के पद पर विभूपित रहे थे परंतु अब वे दोनों उनसे छीन लिए गए। तिस-पर भी यही उत्तरी भारत में उर्दू साहित्य के संस्थापक थे और इसी से यह 'बाबाए रेख्ता' कहलाते हैं। यह उर्दू के चंद और चौसर कहे जाते हैं। उर्दू के प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों ने इनको उर्दू का जन्मदाता मान कर प्रशंसा की है। इनके नाम के विषय में कुछ मतभेद है। कुछ लोग 'महम्मद शम्शुद्दीन' 'वली' नाम बतलाते हैं और कुछ लोग मुहम्मद 'वली' उपनाम 'शम्शुद्दीन' कहते हैं। शम्श वली उल्ला और शाह वली उल्ला भी नाम कहा जाता है। यह सब भ्रम 'शम्श वलीउल्ला' नाम के एक फ़क़ीर के सम-कालीन तथा उसी नगर का निवासी होने के कारण हुआ है। वली के जन्मस्थान के विषय में भी इसी प्रकार अनेक मत हैं। कुछ लोगों का मत है कि यह अहमदाबाद ही में जन्मे थे पर

वली उल्ला

मीर तक़ी 'मीर' आदि लिखते हैं कि इनका जन्म सन् १६६८ ई० में औरंगाबाद में हुआ था। यह शाह वजीहुद्दीन के वंशधर न होकर औरंगाबाद के मदारिया शेखों के वंश से हैं। दखिनी शब्दों के प्रयोग भी इन्हें औरंगाबादी होना बतलाते हैं। यह लगभग बीस वर्ष की अवस्था में अहमदाबाद के मौलाना वजीहुद्दीन अलवी के प्रसिद्ध मदरसः में शिक्षा प्राप्त करने को गए। कुछ दिनों के अनंतर यह उन्हीं के मुरीद भी हुए। वहाँ से कुछ समय बाद यह स्वदेश लौटे और वहीं ग़ज़ल क़सीदे वगैरह बनाते रहे। इसके अनंतर इन्होंने अपनी इन कृतियों को अहमदाबाद जाकर अपने गुरु तथा मित्रों को दिखलाया जिन्होंने इनकी बड़ी प्रशंसा की।

रचनाएँ

सन् १७०० ई० के लगभग यह प्रथम बार दिल्ली गए जहाँ के प्रसिद्ध सूफ़ी तथा फ़ारसी के कवि शाह सादुल्ला गुलशन ने इन्हें फारसी के चाल पर दीवान लिखने की सम्मति दी। सूफी धर्म की दीक्षा वली ने इन्हीं से ली थी। इस बार वली का कुछ विशेष स्वागत नहीं हुआ, इसलिये वह अहमदाबाद लौट आए और वहीं पर इन्होंने रेख़्ता का दीवान तैयार किया। सन् १७२२ ई० में यह अपने मित्र सैयद अब्दुल् मुआली के साथ दिल्ली तथा सरहिंद के फ़क़ीरों तथा मक़बरों को देखने निकले। यह वर्ष मुहम्मद शाह 'रंगीले' के जुलूस का तीसरा वर्ष था, जिससे इस दीवान की बड़ी प्रसिद्धि हुई और लोग इसके पीछे दीवाने हो गए। अभी तक दिल्ली के

जो कवि फ़ारसी ही में कविता करते थे वे भी रेख़्ते में कविता करने लगे। वली यहाँ से अहमदाबाद होते हुए औरंगाबाद गए जहाँ रेख़्ते की बोली में इन्होंने 'देह मजलिस' नामक बड़ी पुस्तक लिखी, जिसे 'फ़ज़ली' ने उर्दू गद्य में अनूदित किया था। यहाँ से वली अहमदाबाद गए, जहाँ सन् १७४४ ई० में मृत्यु होने पर गाड़े गए।

वली की रचना शैली

वली ने अपने अनेक मित्रों के नाम कविता में अमर कर दिए हैं। यह सूफी था और इसमें कट्टरपन की मात्रा कम थी, इससे यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता कि यह सुन्नी था या शिया। इसने भ्रमण बहुत किया था। सूरत, सितारा तथा बंगाल का भी वर्णन इसकी कविता में मिलता है। इसने किसी बादशाह या सर्दार की प्रशंसा नहीं की पर आत्मश्लाघा से फ़ारसी की प्रथा का अनुकरण करने के कारण यह भी नहीं बच सका। इसकी रचनाएँ भाषा तथा काव्य की दृष्टि से बड़ी मनोहर हैं। दखिनी भाषा होते हुए भी फारसी शब्दों का मिश्रण इसने विशेष किया है जो कहा जाता है कि इसके गुरु मीर 'गुलशन' की सम्मति से हुआ था। इतने पर भी आजकल के उर्दूदाँ उस रेख़्ते की बोली की बेमेल भाषा की हँसी उड़ा सकते हैं पर आरंभ में प्रत्येक साहित्य के कवियों की भाषा इसी प्रकार खिचड़ी, आडंबरशून्य और सादी मिलेगी। उस समय के कवि अपने विचारों और भावों को

सीधी सादी भाषा में प्रगट कर देते थे और पेंचीली कल्पनाओं और अलंकार की भूलभुलैया में नहीं पड़ते थे। वली की भाषा भी इसी प्रकार की है। प्रकृति-निरीक्षण भी इसने अच्छा किया था, जिसका आभास इसकी कविता से मिलता है। प्रसाद गुण की भी कमी नहीं है।

इस कवि का उल्लेख सर चार्ल्स लायल ने अपने लेख में किया है पर उसके विषय में विशेष कुछ नहीं लिखा है। प्रो० आज़ाद और मि० सक्सेना ने उसका नाम तक नहीं लिया है। कविता संग्रहों में उसकी कविता मिलती है। 'सरापा सखुन' नामक एक संग्रह में, जो सन् १२७७ हि० में संग्रहीत हुई थी, लिखा है कि 'शायर कवूल ज़मानः मियाँवली सैयद क़मर अली सिराज तख़ल्लुस वाशिंदः हैदराबाद दकन साहेब दीवान'। इससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि इनका नाम सैयद कमर अली था और उपनाम सिराज था। यह दक्षिणी हैदराबाद के रहने वाले थे और इन्होंने एक दीवान भी लिखा है। यह भी वली के समकालीन या उससे पहिले ही हुए हैं। इनकी कविता की भाषा भी वली के समान ही है।

सिराज

चौथा परिच्छेद

दिल्ली साहित्य-केंद्र का आरंभिक काल

मुग़ल साम्राज्य की अवनति का आरंभ प्रायः औरंगजेब की मृत्यु से लिया जाता है पर वास्तव में इसका आरंभ उसी समय से हो जाता है जिस समय से औरंगजेब ने दक्षिण ओर की यात्रा आरंभ की थी। औरंगजेब के दक्षिण पहुँचने पर और वहीं मुग़ल-साम्राज्य की सारी शक्ति के अपव्यय कर देने पर शक्तिहीन दिल्ली नष्टःप्राय हो गई। उसकी मृत्यु पर भ्रातृ-युद्धों ने उसे और भी क्षीण कर दिया था, जिस समय दक्षिण की सौगात वली का दीवान दिल्ली पहुँचा। राजनीति से अनभिज्ञ पर रँगीले सम्राट् तथा उसके दरबारियों ने इस मनोरंजन की सामग्री को हाथों हाथ लिया और तलवार मराठों, रुहेलों तथा विदेशियों को सौंप कर कविता करने के लिए लेखनी लेकर बैठ गए। इस परिच्छेद में वली के इन्हीं समकालीन तथा प्रेम से शराबोर उर्दू की इस शायरी के पथ-प्रदर्शकों का कुछ हाल है।

दिल्ली-साहित्य-केंद्र

दिल्ली पहुँचने पर 'दखिनी' भाषा की दशा बदलने लगी। जिसका भाषा रूपी शरीर देशी और छंद आदि शृंगार विदेशी थे

भाषा-परिवर्तन

उसने अपना विचार और कलेवर भी बदलना आरंभ किया। यह परिवर्तन शीघ्र नहीं हो सका था यद्यपि कुछ कवियों ने इसी काल में इसे बहुत कुछ परिमार्जित करने का प्रयत्न किया था। दखिनी महावरे, शब्द आदि बराबर मिले रहे। हिंदी शब्दों तथा महावरों का बहिष्कार और उनके स्थान पर फारसी अरबी का प्रयोग क्रमशः पर दृढ़ता से बढ़ता रहा। दक्षिण का प्रभाव घटता गया और उसके स्थान पर फारसी के विद्वान शायरों की विद्वत्ता की धाक उस भाषा पर बैठती गई। फारसी शायरी के शोख़ लाल रंग में हिंदी श्लेष का दुरंगापन भी क्रम से मिट गया। यद्यपि मज़हर, सौदा, मीर आदि इसका बहिष्कार करने में मुख्य थे पर उन्होंने भी इसका प्रयोग किया है। इस काल में इन उस्तादों ने उर्दू भाषा को खूब सँवारा, फारसी विचारों, महावरों आदि के भूषणों से अच्छी तरह सजाया और ऐसी शोखी सिखलाई कि वह धीरे धीरे समग्र हिंदुस्तान के गले का हार होना चाहती है।

सूफ़ीमत का प्रभाव

फारसी कविता पर सूफ़ीयानः रंग अच्छी तरह से चढ़ा हुआ था। सूफ़ी साधुओं का उस समय दौरादौर था, पीरो-मुर्शिद की चारों ओर धूम थी इसलिये उर्दू ने भी उसी की नकल की पर यह नकल शीघ्र ही अश्लीलता पूर्ण हो गई और शुद्ध प्रेम के बदले अस्वाभाविक प्रेम की जड़ दृढ़ की गई। इस काल के अच्छे अच्छे कवियों की रचना में इस प्रकार के अश्लील तथा अत्यंत निम्न श्रेणी की कविता

दिखलाई पड़ती है। मीर, सौदा आदि ने भी ऐसा किया है। इस काल में कवि-निरंकुशता छंद शास्त्र के विषय में विशेष थी। भावों तथा भाषा की सादगी इस काल की एक प्रधान विशेषता है। क़ाफ़िया पर विशेष ज़ोर नहीं दिया जाता था और रदीफ़ को तो अनावश्यक समझते थे। भरती के शब्द भी विशेष कर पाए जाते हैं जो आजकल के कवियों को कर्णकटु प्रतीत होंगे।

शेख हिसामुद्दीन 'हिसाम' के पुत्र सिराजुद्दीन अली खाँ 'आर्ज़ू' भारत के फ़ारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान और कवि हुए हैं।

आर्ज़ू

यह ख़ाने आर्ज़ू के नाम से भी विख्यात हैं। मीर हसन, लुत्फ़, आज़ाद आदि ने इनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। उर्दू के साहित्य में इनका स्थान इनकी कविता पर स्थित नहीं है वरन् इनकी काव्य-मर्मज्ञता तथा उर्दू के प्रसिद्ध कवियों के उस्ताद होने पर है। यह आगरे के रहने वाले थे पर दिल्ली आ बसे थे। यह शेख़ मुहम्मद ग़ौस के वंश से थे। सन् १७३४ ई० में शेख मुहम्मद अली 'हज़ीं' ईरान से भारत आए थे और सभी कवि उनसे मिलने गए, पर यह नहीं गए। इन्होंने 'हज़ीं' के दीवान में अशुद्धियाँ निकालीं और तम्बीहुल् गाफ़िलीन (असावधानों को दंड) नाम की पुस्तक ही लिख डाली। 'दादे सखुन' नामक भी एक पुस्तक इसी प्रकार की लिखी है, जिसमें शैदा, मुनीर आदि शायरों पर कटाक्ष किए हैं। आप इस पुस्तक के अंत में लिखते हैं कि—

हर कि शागिर्द शवद मी शवद उस्ताद आख़िर ।
तू कि शागिर्द न बाशी ज़े कुजा ईं दावास्त ।।

पर 'सरापा सख़ुन' में इनके उस्ताद का नाम अबुस्समद ख़ाँ 'सख़ुन' लिखा मिलता है । इनके फ़ारसी के दीवान में तीस सहस्र शैर हैं । इन्होंने सिकंदरनामा, 'उर्फ़ी' के क़सीदे और सादी के गुलिस्ताँ पर टीकाएँ की हैं । फ़ारसी का कोष सिराजुल्लोग़ात् तथा हिंदुस्तानी का ग़रायबुल्लोग़ात् और नवादिरुल् फ़र्ज़ लिखा है । मजमउल्नफ़ायस या तज़किरएआर्ज़ू में फ़ारसी तथा उर्दू के कवियों का वर्णन है, जिससे 'मीर' ने सहायता ली है । इन्होंने और भी कई पुस्तकें लिखी हैं । नादिरशाह की चढ़ाई पर ये दिल्ली से लखनऊ चले गए, जहाँ सन् १७५६ ई० में इनकी मृत्यु हुई पर ये अपनी इच्छा के अनुसार दिल्ली में गाड़े गए ।

दिल्ली के निवासी शाह नज्मुद्दीन प्रसिद्ध नाम शाह मुबारक का उपनाम 'आबरू' था । इनकी जन्म तिथि का पता नहीं है पर ये ग्वालियर के प्रसिद्ध शेख मुहम्मद ग़ौस के वंश में थे । यह ग्वालियर से दिल्ली आए और यहीं उर्दू का दीवान लिखा, जो अब अप्राप्य है । इनकी एक मसनवी 'मुअज्जए आराइशे माशूक' है । इनकी एक आँख जाती रही थी, जिस पर मिर्ज़ा जान जानाँ 'मज़हर', अकसर कटाक्ष किया करते थे । इस पर आपने कहा था—

आबरू

क्या करूँ हक़ के किए को कोर मेरी चश्म है ।

आबरू जग में रहे तो जान जानाँ पश्म है ॥

शाह कमालुद्दीन के पुत्र पीर मक्खन 'पाकबाज' इनके मित्रों में से थे, जिनका उल्लेख बहुधा शैरों में कर देते थे। यह उर्दू कवियों के पथ-प्रदर्शकों में से थे और मीर हसन आदि संग्रहकारों ने इनकी प्रशंसा की है। श्लेष और अलंकार खूब कहे हैं। यह अपनी कविता बहुधा ख़ाने अर्ज़ू को दिखला लिया करते थे। सन् १७५० ई० में इनकी लगभग पचास वर्ष की अवस्था में मृत्यु हुई।

शेख शरफ़ुद्दीन का उपनाम 'मज़मून' था और यह शेख़ फ़रीदुद्दीन शकरगंज के वंश से थे। आगरे के पास जाजमऊ इनका जन्मस्थान है, जहाँ से आकर दिल्ली में बस गए थे। यह सिपाही थे पर मुगल-साम्राज्य की अवनति से उसे छोड़कर कविता करने लगे। ज़ीन तुल् मसजिद नामक मसजिद में बैठते थे, जो अंत तक निबाहा। यह 'आर्ज़ू' से अवस्था में अधिक थे पर उन्हें कविता दिखलाते थे और वे इन्हें शायरे बेदानः कहते थे क्योंकि इनके दाँत रोग के कारण गिर पड़े थे। यह प्रसन्नचित्त पुरुष थे और मीर, सौदा, हसन आदि ने इनकी प्रशंसा की है। इन्होंने कविता कम की है पर उस समय के उस्तादों में परिगणित हैं। इनकी कविता भी पुराने ढर्रे की है, जिसमें श्लेष की अधिकता है। इनकी मृत्यु सन् १७४५ ई० के लगभग हुई थी।

मज़मून

शेख़ ज़हूरुद्दीन शाह 'हातिम' के पिता का नाम फतुहुद्दीन

था और सन् १६९९ ई० में दिल्ली में इनका जन्म हुआ था। इनकी जन्म तिथि इनके नाम के अंश 'ज़हूर' से

हातिम

निकलती है। यह पहिले उम्दतुल् मुल्क अमीर खाँ के मुसाहिब थे, जिनके साथ इन्होंने हर प्रकार का सांसारिक सुख उठाया क्योंकि वह समय मुहम्मद शाह ही का था। इसके अनंतर संसार त्याग कर यह फ़कीर हो गए और कविता करने तथा सिखलाने में समय व्यतीत किया। जब वली के दीवान की दिल्ली में धूम मची तो इन्होंने भी रेख्ते में कविता किया और एक दीवान ही लिख डाला। एक दीवान और लिखा जो नए विचारों के अनुसार था। इन्होंने पहिले 'रम्ज़' उपनाम रखा था पर फिर 'हातिम' ही हो गए। हुक्के पर एक मसनवी भी लिखा है। इन्होंने अपने दीवान के आरंभ में पैंतालिस शिष्यों की तालिका दी है, जिसमें रफ़ीउस्सौदा सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। रंगीं, ताबाँ, निसार, फ़ारिग़ आदि भी प्रसिद्ध कवि हैं। भाषा की काँट छाँट और सफाई में इन्होंने उसी समय से हाथ लगा दिया था, जैसा कि स्वयं दूसरे दीवान की भूमिका में इन्होंने लिखा है। यह दूसरा दीवान पहिले के बड़े दीवान का संक्षिप्त संस्करण मात्र है, जिसमें भाषा की दृष्टि से प्रौढ़ उर्दू की कविता का संग्रह हुआ है। इसीसे इसे इन्होंने स्वयं दीवानजादः (दीवान से उत्पन्न) लिखा है। फारसी में भी एक छोटा सा दीवान लिखा है। फारसी में 'सायब' को और उर्दू में 'वली' को गुरु मानते थे। इनकी मृत्यु

सन् १२०७ हि० में और मुसहिफ़ी के अनुसार ११९६ हि० में हुई थी।

मिर्ज़ा जानजानाँ के पिता मिर्ज़ा जान औरंगज़ेब के दर्बार के एक मंसवदार थे, जिनका वंश अली के पुत्र मुहम्मद इब्न हनीफ़ा से चलता है। यह तैमूरी घराने के नवासे लगते थे। इनका जन्म सन् १६९८ ई० में (११ रमज़ान, शुक्रवार को) मालवे के कालामऊ नामक स्थान में हुआ था। कहते हैं कि इनका नामकरण औरंगज़ेब ने स्वयं किया था। जब यह सोलह वर्ष के थे तभी इनके पिता की मृत्यु हो गई। सूफ़ियों का समय था, इसलिये ये भी इन्हीं फ़क़ीरों में घूमते हुये स्वयं भी एक फ़क़ीर हो गए। हिंदू और मुसलमान दोनों ही इनके मुरीद हुए थे। ये हनफ़ी सुन्नी थे और केवल क़ुरान ही को मानते थे। ये अत्यंत गंभीर तथा नक्शबंदी मत के मानने वाले थे। ये सौंदर्योपासक थे और 'ताबाँ' नामक कवि से बहुत प्रेम रखते थे। एक वार ताज़ियों के निकलने पर इन्होंने कुछ ऐसे शब्द कहे, जो कट्टर शीओं को बुरे लगे और उसीमें के एक फ़ौलाद खाँ ने रात्रि के समय इनके घर आकर धोखे से इन्हें पुकारा और आने पर क़ड़ाबीन से मार डाला। यह घटना सन् १७८० ई० की है।

मज़हर

उर्दू भाषा का अर्थात् फ़ारसीपन का आधिक्य, श्लेष की कमी तथा नए विचारों का समावेश इन्होंने आरंभ किया था। मुसहिफ़ी, शौक़ आदि ने इनकी प्रशंसा इस विषय में बहुत

मज़हर की रचना की है। इनका अनुभव बहुत बढ़ा चढ़ा हुआ

शैली था, इससे कल्पना के बदले में उसी का आभास विशेष मिलता है। प्रेम-विषयक कविता भी बड़ी हृदय-द्रावक तथा उपदेशमय है। फ़ारसी का एक बड़ा तथा उर्दू का एक अपूर्ण दीवान इन्होंने लिखा था। 'ख़रीतए जवाहिर' फारसी का एक संग्रह है। मीरबाक़र 'हज़ीं', बसावन-लाल 'बेदार', अहसनुल्ला 'बयाँ' और इनामुल्ला खाँ 'यक़ीं' इनके प्रसिद्ध शिष्य थे।

सैयद मुहम्मद शाकिर का उपनाम 'नाजी' था। यह सिपाही और अमीर खाँ नवाब के दारोग़ा थे। आर्जू, आबरू आदि के

नाजी समकालीन थे। कविता अच्छी करते थे। यह बड़े झगड़ालू और विनोद प्रिय थे। दूसरों को हँसाते पर आप गंभीर बने रहते थे। इनकी कविता का एक दीवान है जो प्रसिद्ध है। नादिरशाही दृश्य एक बड़े मुख़म्मस में दिखलाया है। इनकी कविता अपने समय की दासी थी और उसी रंग में रंगी है।

मीर अब्दुलहई 'ताबाँ' एक अत्यंत सुंदर नवयुवक थे, जिन्हें देखने को शाहआलम भी हाथी पर सवार होकर गए थे। यह

ताबाँ अपने सौंदर्य के कारण युसुफ़ द्वितीय कहलाते थे। सुलेमान शाह नामक दर्वेश तथा 'मज़हर' के यह बड़े मित्र थे। प्रौढ़ावस्था ही में इनकी मृत्यु का

मदिरापान से होना मीरहसन आदि लेखकों ने लिखा है पर लुत्फ़ अपने तज़किर: गुलशने हिंद में लिखता है कि उसने उन्हें सन् १२०१ हि० (सन् १७८७ ई०) में लखनऊ में वृद्धावस्था में देखा था, जिस समय भी उसके सौंदर्य में कुछ कमी नहीं आई थी। फैलों भी सन् १७९७ ई० में उनका जीवित रहना लिखता है। यह शाह हातिम और मीर मुहम्मद अली 'हशमत' के शिष्य थे तथा मिर्ज़ा मज़हर के मुरीद थे। इसने एक दीवान की रचना की, जिसमें प्रेम वर्णन की अधिकता है और उत्तम है। भावों का स्पष्टीकरण बड़ी सुंदरता से किया गया है। 'सौदा' इनके गुरुभाई ही थे, इससे इन्होंने स्यात् उन्हें भी, जैसा लुत्फ़ लिखता है, अपनी कविता दिखलाई होगी।

गुलाम मुस्तफ़ा खाँ का उपनाम 'यकरंग' था। यह मुहम्मद शाह बादशाह के एक सर्दार थे और ख़ानजहाँ लोदी के वंशधर थे। अवस्था में अधिक होने पर भी मिर्ज़ा जान-जानाँ 'मजहर' को अपनी कविता दिखलाते थे। इन्होंने एक दीवान लिखा है, जिसमें सादगी कूट कूट कर भरी है। प्रेम तो कविता का विषय ही था इसलिए उसका बाहुल्य है। इमामहुसेन पर एक मर्सिया लिखा है, जिसका मीर ने उल्लेख किया है। जन्म मृत्यु का पता नहीं।

यकरंग

मिर्ज़ा अली ख़ाँ 'नुक्त:' के पुत्र अशरफ़ अली खाँ दिल्ली-सम्राट् अहमद शाह के धाय भाई थे। इसका उपनाम 'फ़ुग़ाँ'

फुगाँ

था और पदवी ज़रीफ़ुल्-मुल्क कोका ख़ाँ बहादुर थी। दिल्ली के अहमद शाह दुर्रानी द्वारा लूटे जाने पर यह मुर्शिदाबाद गए थे, जहाँ इनके चाचा एरिज ख़ाँ ऊँचे पद पर नियुक्त थे। वहाँ से शुजाउद्दौला के दर्बार में गए पर यहाँ भी न टिक कर पटने चले गए, जहाँ महाराजा शिताबराय के पास कुछ दिन तक प्रतिष्ठापूर्वक रहे। पीछे से उनसे भी कुछ मनोमालिन्य हो गया और वहीं पटने में सन् १७७२ ई० में इनकी मृत्यु हुई। २००० शैरों का एक दीवान लिखा है। फ़ारसी में भी मीर और हसन के अनुसार एक दीवान लिखा है। सौदा और मीर ने इनकी प्रशंसा की है। कज़िलबाश ख़ाँ 'उम्मेद' और 'नदीम' के शिष्य थे। हिंदी मुहाविरे का अच्छा प्रयोग किया है, श्लेष नहीं काम में लाते थे तथा अपने भावों को प्रकट करने में भाषा की स्वच्छता और सौंदर्य पर विशेष दृष्टि रखते थे। स्वभाव तीव्र था पर हाजिर जवाब भी थे।

पाँचवाँ परिच्छेद

दिल्ली-साहित्य-केंद्र का पूर्व मध्य काल

सं० १८००—१९००

(सन् १७४३—१८४३ ई०)

आरंभिक-काल के कवि उर्दू साहित्य के जन्मदाता और पथ प्रदर्शक मात्र थे। उर्दू साहित्य की उन्नति वस्तुतः इसी मध्य काल में हुई और इसी काल में वह अपनी पूर्णावस्था को पहुँचा था। यदि यह काल उर्दू-साहित्य-क्षेत्र में न होता तो एक प्रकार से उसका प्राचीन साहित्य केवल नाम ही को रह जाता। कहा जा सकता है कि आरंभिक काल के कविगण ने उर्दू-साहित्य-वाटिका के एक कोने में बीजों की ज़खीरः तैयार कर दिया था, जिसे लेकर इस काल के कवियों ने क्यारियाँ बना कर उस वाटिका को सजा दिया परंतु उनके प्रयत्न से फ़ारस के सरो आदि अनेक प्रकार के वृक्ष भी इस भारतीय उद्यान में शोभा पाने लगे और उन वृक्षों पर कोयल, पिक आदि के स्थान पर बुलबुले हज़ारदास्ताँ चहचहाने लगी। इस काल के चार कवि उर्दू भाषाभारती के चार स्तंभ माने जाते हैं, जिन्होंने उसके सँवारने और फ़ारसी को अपना आधार रख कर उसे परिमार्जित

इस काल की विशेषता

करने में अधिक परिश्रम किया है। इनके नाम रफ़ीउस्सौदा, मीर तक़ी मीर, मिर्ज़ा जान जानाँ 'मज़हर' और ख्वाजा मीरदर्द थे। इस काल के आरंभ में भी हिंदी भाषा के बहुत शब्द—नित, ईधर, ऊधर, बिस्तार, लगा, तईं आदि प्रचलित थे परंतु उनका प्रयोग कुछ दिन बाद उठ गया। अपूर्ण भूतकालिक दोनों क्रियाओं को बहुवचन का रूप दिया जाता था जैसे—

बारहा वादों की रातें आइआँ
तालओं ने सुबह कर दिखलाइआँ।

परंतु इसका प्रयोग भी इसी काल में बंद हो गया। हिलना और घिसना आदि क्रियाओं को हलना और घसना के समान कविता में रख देते थे। विशेष्यों के साथ साथ विशेषणों में बहुवचन के चिन्ह लगा देते थे जैसे—

मुलायम हो गईं दिल पर बिरह की सायतें कड़ियाँ।
यह अँखियाँ क्यों मेरे जी के गले की हार हो पड़ियाँ॥

ये सब भी प्रयोग उठ गए। आरंभ में फ़ारसी-नियमानुसार शब्दों में बहुवचन के चिन्ह लगाते थे, जैसे महबूबाँ, बुलबुलाँ, परंतु अब अधिकतर हिंदी के चिन्ह लगाए जाते हैं जैसे महबूबों, बुलबुलों। आबरू आदि कवियों ने कर्मवाचक 'को' को 'कों' लिखा है परंतु सौदा ने एक ग़ज़ल में 'को' ही का प्रयोग किया है। सें, तूँ, तूनें, उन्ने, किसू आदि शब्दों का रूप बदल कर इस काल के पूर्वार्द्ध ही में से, तू, तूने, उसने, किसे हो गया था। इस

काल में लिंग-भेद पर भी विशेष ध्यान नहीं था और एक शब्द को किसी ने पुल्लिंग और किसी ने स्त्रीलिंग माना है।

यह काल काव्य-कौशल की टकसाल है जिससे निकली हुई रचनाएँ परवर्ती कवियों के लिये आदर्श थीं और जिन्हें सामने रखकर आलोचकगण इनके परवर्ती कवियों की रचनाओं की जाँच पड़ताल करते हैं। मीरहसन की मसनवी, सौदा के कसीदे और हजो, दर्द तथा मीर के ग़ज़ल इत्यादि आज तक उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं। आज भी ये अपने अपने क्षेत्र में गुरुवत् मान्य हैं।

इस काल की कविता आदर्श मानी गई।

इस काल में फ़ारसी भाषा से इन उस्तादों ने विशेष सहायता ली और नई नई बहरें काम में लाए। वासोख़्त, मुसल्लस आदि नई प्रकार की रचनाएँ आरंभ कीं। तज़किरे अर्थात् कवियों की संक्षिप्त जीवनियों सहित उनकी चुनी हुई कविता के संग्रह भी इसी काल में पहिले पहिल तैयार किए गए, यद्यपि वे विशेष कर फ़ारसी-भाषा ही में थे। इनमें 'मीर' का 'निकातुश्शोअरा' और 'हसन' का 'तज़किरए-शोअराए-उर्दू' प्रसिद्ध हैं।

जिस सम्राट् के समय उर्दू साहित्य का आरंभ दिल्ली में हुआ था उसी के समय में नादिरशाह ने दिल्ली लूटा था। मुग़ल साम्राज्य नाम मात्र के लिये दिल्ली के चारों ओर रह गया था। कविता का नियम है कि वह राजाश्रय में ही उन्नति करती है और दिल्ली के ऐसे गिरते समय

मुग़ल दरबार

वहाँ वह कैसे फलती फूलती। उर्दू के प्रसिद्ध कवि आर्ज़ू, सौदा, मीर तकी 'मीर' आदि दिल्ली ही से उठे पर उन्हें भी आश्रय की खोज में अन्य स्थान को जाना पड़ा। इसी प्रकार अनेक कवि दिल्ली में प्रसिद्धि प्राप्त कर लखनऊ चले गए और वहाँ उन्होंने एक नया साहित्य-क्षेत्र स्थापित किया। ख्वाजः मीरदर्द ने दिल्ली नहीं छोड़ा और वृद्धावस्था में नक़्शबंदी दर्वेश होकर सं० १७८५ में वह वहीं पृथ्वी को सौंप दिए गए। यद्यपि दिल्ली इस प्रकार अपने इन चमकते हुए साहित्य-नक्षत्रों से प्रकाशमान नहीं हो सकी परंतु उन्हें उत्पन्न कर उस उच्च पद तक पहुँचाने का श्रेय उसीको है। यह भी इस काल की एक विशेषता है कि प्रायः सभी प्रसिद्ध कवि दिल्ली में नाम पैदा कर धन के लिये लखनऊ चले गए थे। साथ ही दिल्ली में अंधकार नहीं छा गया था क्योंकि वहाँ स्वयं 'आफ़ताब' अर्थात् सूर्य मौजूद थे। शाहआलम द्वितीय (सं० १८१८–६३) अपना उपनाम आफ़ताब रखकर कविता करते थे और इनके चार दीवान प्रस्तुत हैं। इन्होंने 'मंज़ूमे अक़्दस' नामक एक उपन्यास भी लिखा है। इनके पुत्र सुलेमान-शिकोह पहिले लखनऊ चले गए थे पर सं० १८७२ में दिल्ली लौट आए और यहीं सं० १८९५ में मर गए। इन्होंने भी एक दीवान बनाया था। बहादुरशाह द्वितीय भी उपनाम ज़फ़र से कविता करते थे और प्रसिद्ध कवि ज़ौक के शिष्य थे। इन्होंने भी एक बड़ा दीवान बनाया है। बलवे के अनंतर यह रंगून भेज दिए गए और दिल्ली से बादशाही का नाम भी उठ

गया। अंतिम सम्राट् के समय में भी दो बहुत प्रसिद्ध कवि—ज़ौक और ग़ालिब—हुए थे।

ख़्वाजा मीर नासिर अली 'अंदलीब' के पुत्र ख़्वाजा मीर मियाँ साहब का उपनाम 'दर्द' था। इनके पिता फ़ारसी के अच्छे कवि थे जिनका भारी दीवान 'नालए अंदलीब' (बुलबुल की आह) के नाम से प्रसिद्ध है। पिता की ओर से ख़्वाजा बहाउद्दीन नक्शबंदी और माता की ओर से हज़रत गौसे आज़म के वंश में थे। इनके दादा बुखारा से भारत में आकर बस गए जहाँ इनके पिता नासिर का जन्म हुआ। इन्हें मंसब मिला था पर कुछ दिन बाद उसे छोड़कर यह शाह मुहम्मद ज़ुबीर के शिष्य हो गए और शाह गुलशन पीर का सत्संग रखने लगे। इनका विवाह नबाब मीर अहमद ख़ाँ के पुत्र सैयद अहमद हस्नी की पुत्री से हुआ था, जिसने सन् ११३३ हि० में मीर दर्द को जन्म दिया। पहिले इन्होंने जागीर आदि का प्रबंध तथा युद्ध-विद्या सीखी पर २८ वर्ष की अवस्था में पिता के इच्छानुसार दर्वेश बन बैठे। पिता की मृत्यु पर ३९ वर्ष की अवस्था में यह मुर्शिद बन गए जिनके सहस्रों मुरीद (शिष्य) थे। यह स्वयं सूफ़ी मत के विद्वान थे, इससे इनका मान बहुत बढ़ गया। कई महीने मुफ़्ती दौलत से कविता पढ़ी थी। कवित्व-शक्ति तो थी ही, विद्या-प्राप्ति के साथ वह प्रफुल्लित हो गई पर तसव्वुफ़ के ज्ञान से उसमें गंभीरता विशेष

दर्द

। जब अहमद शाह दुर्रानी तथा मराठों के लूटमार से ऊब कर उर्दू के प्रसिद्ध कविगण लखनऊ की ओर चल दिए तब भी इन्होंने दिल्ली नहीं छोड़ा और अंत तक वहीं रहे। यह चापलूसी से भागते थे और इसी कारण शाहआलम के कहलाने पर भी उनसे मिलना अस्वीकार कर दिया था। पंद्रह वर्ष की अवस्था में 'इसरारुस्सलवात्' और उन्तीस वर्ष की अवस्था में 'वारदाते दर्द' लिखा, जो गद्य-पद्य-मय है और जिस पर 'इल्मुल् किताब' नामक वृहत् टीका लिखी। 'नालए दर्द' सन् १७७६ ई० में समाप्त हुई। ये पुस्तकें अपने भाई सैय्यद मुहम्मद मीर 'असर' के कहने पर लिखी गईं, जिन्होंने स्वयं एक दीवान और एक मसनवी 'ख़्वाबो ख़्याल' लिखा है। वृद्धावस्था में 'शमए-महफ़िल' और 'सहीफ़ए-वार्दात' साथ साथ लिखा गया था। 'हुर्मुतेग़िनार्मी' और 'वाकेआत दर्द' भी सूफ़ी मत की पुस्तकें हैं। यह सब फ़ारसी के ग्रंथ हैं तथा फ़ारसी का एक छोटा दीवान भी तैयार किया है। उर्दू में केवल एक दीवान लिखा है। यह बहुत बड़ा नहीं है पर इसमें अन्य कवियों की तरह फालतू या भरती के ग़ज़ल कम हैं। इन्होंने छोटे छोटे बहरों में उच्च भावों को अच्छी तथा महावरेदार भाषा में व्यक्त किया है। अश्लीलता तथा छिछोरापन कहीं नहीं मिलता। दूसरों की हँसी उड़ाना तथा इश्क़ मजाज़ी का घृणित रूप दिखाना अनुचित समझते थे।

उर्दू साहित्य के इतिहास में इनका स्थान मीर, सौदा और

मज़हर के समकक्ष है। यद्यपि मीर इन्हें आधा कवि मानते थे, पर गुरु के समान प्रतिष्ठा करते थे। सौदा ने भी इनकी प्रशंसा की है। सूफ़ी विचार तथा इश्क़ हक़ीक़ी की गंभीरता का प्रचार किया है। इनकी कविता से वास्तव में हृदय में दर्द या असर होता है। हसन ने भी इनकी प्रशंसा की है और उसकी कविता पर भी इनका असर पड़ा है। क़ायम, हिदायत, फ़िराक़ और असर चार मुख्य शिष्य थे। इनके पुत्र ज़िआउल् नासरि का उपनाम आलम था। दर्द की मृत्यु सन् १७८५ ई० में ६८ वर्ष की अवस्था में हुई थी (सौर वर्ष के अनुसार छाछठ वर्ष)। इनकी मृत्यु के समय के बारे में मतभेद है पर यही ठीक ज्ञात होता है।

इतिहास में इनका स्थान

मीर ज़ियाउद्दीन के पुत्र सैयद मुहम्मद मीर का उपनाम 'सोज़' था। पहिले इन्होंने 'मीर' तखल्लुस किया था पर मीर तक़ी 'मीर' के उसे अपना लेने पर 'सोज़' किया। यह शेख कुतुब आलम गुजराती के वंश में थे। इनके पूर्वज बुख़ारा से आए थे पर ये स्वयं दिल्ली में जन्मे थे। घुड़सवारी, शस्त्र चलाने तथा धनुर्विद्या में पारंगत थे। शरीर से भी इतने वलिष्ठ थे कि हर एक इनकी कमान नहीं चढ़ा सकता था। यह मिलनसार, विनोदप्रिय तथा विनीत पुरुष थे। खुशख़त लिखने में बड़े प्रवीण थे, जिनमें नस्तालीक और शफ़ीआ बहुत अच्छा लिखते थे। यौवन में इनका चाल चलन

सोज़

अच्छा नहीं था पर सन् १७७७ ई० में यह दर्वेश हो गए। दिल्ली की गिरी अवस्था देख कर यह पहिले फ़र्रुख़ाबाद गए जहाँ नबाब मेहरबान ख़ाँ 'रिंद' इनके शिष्य हुए। यहाँ से यह लखनऊ गए जहाँ नबाब आसफ़ुद्दौला ने इनकी बड़ी प्रतिष्ठा की और अपना कविता-गुरु बनाया। यहाँ से भी सन् १७९७ ई० में मुर्शिदाबाद गए पर उसी वर्ष फिर लखनऊ लौट आए जहाँ सन् १७९८ ई० में इनकी मृत्यु हुई। इनकी अवस्था उस समय लगभग ८० वर्ष की थी। इनके एक पुत्र मीर मेहदी 'दाग़' भी कवि थे, जिनकी यौवन ही में मृत्यु हो गई थी। यद्यपि स्वतंत्रता इन्हें प्रिय थी पर अहंकार का नाम भी न था। दुर्भाग्य ने इनका साथ कहीं नहीं छोड़ा पर तब भी प्रतिष्ठा से दिवस व्यतीत किया।

इनका एक दीवान है जिसमें ग़ज़ल, मसनवी, रुबाई और मुख़म्मस हैं। इनकी कविता में नैसर्गिकता की मात्रा अधिक है।

कविता शैली तथा इतिहास में स्थान

कवित्व शक्ति ईश्वरदत्त थी, जिससे कविता में श्रम की बू कम आती है। भाषा साफ़ महावरेदार होने और वर्णन शैली के अलंकारादि आडंबर से रहित होने से कविता में प्रसाद गुण विशेष है। इसी कारण कविता लोकप्रिय है। मीर में इन गुणों के साथ ही कविता-शक्ति अधिक है। मीर और सौदा ने इनसे अधिक फ़ारसी से सहायता ली है। यौवन के अनुभूत विषय शृंगार पर इनकी कविता बहुत अच्छी हुई है। इनकी आवाज़ मीठी थी और शैरों

को ये बड़े लय तथा भाव बतलाते हुए पढ़ते थे, जिससे सुननेवालों पर अच्छा असर पड़ता था। मीर हसन और लुत्फ़ ने प्रशंसा की है। इनकी कविता में रेख्ती का आरंभ मिलता है जिसे रंगीन आदि ने आगे उन्नति दी। इनका स्थान उर्दू साहित्य के इतिहास में ऊँचा है।

मिर्ज़ा मुहम्मद शफ़ीअ के पुत्र मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ीअ का उपनाम 'सौदा' था। इनके पूर्वज काबुल के मिर्ज़े युद्ध-व्यवसायी थे। इनके पिता रोजगार की खोज में दिल्ली आए और यहीं रह गए। लगभग सन् १७१३ ई० में सौदा का दिल्ली में जन्म हुआ। इनका उपनाम इनके पिता की सौदागरी तथा प्रेम के एक अंग पागलपन का द्योतक है। इनकी शिक्षा भी दिल्ली ही में हुई। पहिले सुलेमान कुली ख़ाँ 'विदाद' के और फिर शाह हातिम के शिष्य हुए। शाह हातिम को अपने इस शिष्य का बड़ा घमंड था और शिष्यों की सूची में पहिला नाम इनका दिया है। यद्यपि ख़ाने आर्ज़ू के यह शिष्य नहीं हुए थे पर उनके सत्संग से लाभ उठाया था और उन्हीं के कहने से उर्दू में कविता करने लगे। जब इनकी कविता लोकप्रिय होने लगी तब शाह आलम 'आफ़ताब' (सूर्य) इनसे अपनी कविता शुद्ध कराने लगे पर शीघ्र ही कुछ मनमुटाव हो जाने से यह घर बैठ रहे और फिर दरबार नहीं गए। वसंत ख़ाँ और मेहबान ख़ाँ ख़्वाज़ा सरा आदि रईसों की सहायता से ये आराम से रहते थे। इसी समय

सौदा

नवाब शुजाउद्दौला ने इन्हें बुलवा भेजा पर ये नहीं गए और एक रुबाई लिख भेजा था। परंतु कुछ ही दिनों में दिल्ली के दिन और बिगड़े तथा अंत में इन्हें भी दिल्ली छोड़ना पड़ा। लगभग साठ वर्ष की अवस्था में ये दिल्ली से निकले और पहिले कुछ दिन फ़र्रुख़ाबाद के नवाब अहमद खाँ बंगश के यहाँ रहे पर वहाँ से फिर लखनऊ चले गए। सन् १७७१ ई० में यह लखनऊ पहुँच कर नवाब शुजाउद्दौला के यहाँ नौकर हो गए। नवाब के ताने के तौर पर सौदा के पहिली बार न आने का उल्लेख करने से ये कुढ़ गए और एकांतवास करने लगे। फ़ारसी के एक कवि मिर्ज़ा फ़ाख़िर मकीं से झगड़ा होने पर इन्हें जब कुछ शोहदे पकड़ कर अपने गुरु 'मकीं' के यहाँ लिवा जा रहे थे तब नवाब सआदत अली खाँ ने, जिनकी सवारी उधर से आ गई थी, इन्हें बचाकर साथ ले लिया और नवाब आसफ़ुद्दौला से जाकर सब वृत्तांत कह सुनाया। नवाब ने इन्हें छ सहस्र वार्षिक तथा मलिकुश्शोअरा की पदवी दी। नवाब इनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे और इनकी कविता बड़े प्रेम से सुनते थे। इस प्रकार अंतिम दिन बड़े चैन से व्यतीत कर सन् १७८१ ई० में यह लखनऊ ही में परलोक सिधारे।

इन्होंने पद्य और गद्य दोनों लिखा है और बहुत लिखा है। इनकी रचनाओं में एक फारसी का दीवान है, जो छोटा होते हुए भी पूरा है। कुछ क़सीदे भी फारसी में कहे हैं।

रचनाएँ दीवान रेख़्तः इनकी कविता का बड़ा ख़ज़ाना है, जिसमें ग़ज़ल, रुबाई, मुस्तज़ाद, क़ितः, पहेली, वासोख़्त, तरजीहबंद, मुखम्मस आदि सभी कुछ हैं। चौबीस मसनवियाँ लिखी हैं, जिनमें बहुत सी कहानियाँ पद्यबद्ध हैं। ये इनके नाम के योग्य नहीं हैं। इनके उर्दू के क़सीदे बड़ी धूम धाम के हैं और यह उर्दू के प्रथम कवि हैं, जिन्होंने क़सीदों को लिखा है और ऐसा लिखा है कि फारसी के प्रसिद्ध कवि अनवरी, ख़ाक़ानी, जाहूरी आदि को दबा दिया है। मरासिए और सलाम भी लिखे हैं। हजोएँ भी इन्होंने ऐसी लिखी हैं कि पढ़कर चित्त प्रसन्न हो जाता है। 'तज़किरः शोअराए उर्दू' अप्राप्य है, जिसमें उर्दू कवियों का वृत्तांत लिखा है। 'इब्रतुल् ग़ाफ़िलीन' मिर्जा फ़ाख़िर 'मकीं' की आलोचना का ग्रंथ है। मीर तक़ी 'मीर' की मसनवी शोलए इश्क का गद्य अनुवाद भी लिखा है।

रेख़्ते की बोली में से हिंदी के खटकनेवाले शब्दों को निकाल कर फारसी शब्दों का प्रयोग कर उर्दू भाषा को परिमार्जित करने में सौदा तथा मीर ने बहुत प्रयत्न किया

भाषा और रचना शैली है। फारसी भाषा के महावरे, रूपकादि अलंकारों का इन्होंने बहुत प्रयोग किया है। पर साथ ही हिंदी शब्दों, विचारों तथा कथानक भी एकदम बहिष्कृत नहीं हुए हैं। भुजबल, पर्वत, अर्जुन की बाण-विद्या, कृष्ण जी की लीला आदि का उल्लेख मिलता है। महंत, लडंत, दंत से क़ाफ़िए

भिड़ाए हैं। श्लेष भी काम में आ ही जाता था यद्यपि बाद के कवियों ने उसे त्याग दिया। कुछ मुहावरे तो स्वयं इन्हीं के टकसाल के थे, जिनमें कुछ चल निकले और कुछ रह गए। यह समय ही का प्रभाव था, जिससे फारसी तथा हिंदी शब्दों का मेल बैठाना पड़ता था और इसे इन्होंने एक खूबी के साथ किया है। उर्दू कविता क्षेत्र में कसीदे इन्हींने आरंभ किए और ऐसे लिखे कि इन्हें साहित्य-मर्मज्ञ कसीदे का बादशाह कहने लगे। हजो अर्थात् निंदात्मक कविता भी इन्होंने खूब लिखी। जिसके पीछे पड़ गए उसकी जान दूभर कर दी। कसीदे में तो यह फारसी के अनवरी और खाकानी से ओज में और उर्फी तथा ज़हूरी से भावसौंदर्य में बढ़ गए। मर्सिया भी इन्होंने लिखा था पर वह निरा मर्सिया ही था। पहिले हजो एक दो शैर में लोग कह देते थे पर इन्होंने नियमपूर्वक हजो लिखना शुरू किया। किसी से अप्रसन्न हुए कि कविता में उसकी खबर ली। हजो में तीव्रता तथा निर्लज्जता की पराकाष्ठा कर देते थे। हजो लिखने में ये किसी को नहीं छोड़ते थे। मीर ज़ाहिक (मीर हसन के पिता), फिद्‌वी, मकीं, बका आदि पर इनकी हजोएँ बड़ी ही कड़वी हैं। यद्यपि उन लोगों ने भी इन्हें नहीं छोड़ा था पर वे इन-सा निर्लज्ज हृदय और इन-सी कवित्वशक्ति कहाँ पाते। उस समय के साम्राज्य की अवस्था पर भी कड़े आक्षेप किए हैं। स्वतन्त्रता प्रिय इतने थे कि अपने आश्रयदाता नवाब आसफुद्दौला पर भी कटाक्ष कर दिया है। इनकी हजो हृदय पर

चोट पहुँचाती थी इससे कभी कभी इन्हें लिखकर यह अपनी कवित्व-शक्ति का दुरुपयोग ही करते थे। इनकी कविता में भरती के शब्द नहीं होते थे और शब्द ऐसे चुनकर रखे जाते थे कि उन्हें हटाना बढ़ाना कविता को नष्ट करना है। इन्होंने नई बहरों में शैर लिखे तथा रदीफ़ का भी प्रयोग किया।

सौदा एक उच्चकोटि के कवि थे और यही कारण है कि इनका प्रभाव इनके परवर्ती कवियों पर बहुत पड़ा है। मीर पर भी इनका असर पड़ा है और मीर तथा मिर्ज़ा की कविता रीति तथा गुण के लिए आदर्श मानी जाती है। ग़ालिब और ज़ौक ने इनकी प्रशंसा की है। मीर से कर्मठ समालोचक भी इन्हें पूरा कवि मानते थे और मलिकुश्शोअरा के पद के योग्य समझते थे। भाषा इनकी अनुवर्तिनी थी और कविता-शक्ति ईश्वरप्रदत्त थी, जिससे इनकी कविता में भावों के अनुरूप ही भाषा आई है और शैथिल्य दोष नहीं आने पाया है। इनके भावों की उड़ान भी ऊँची थी तथा प्रसाद गुण की कमी नहीं है। अनेक कला, विज्ञान आदि के भी ज्ञाता थे। मीरहसन, लुत्फ, खलील आदि सभी समालोचकों ने इनकी प्रशंसा करते हुए इन्हें उर्दू के प्रथम कोटि के कवियों में माना है।

इतिहास में सौदा का स्थान

मीर गुलामहसन 'हसन' के पिता का नाम मीर गुलामहुसेन 'ज़ाहिक' था, जिनके दादा मीर इमामी हिरात से आकर

मीर हसन

यहाँ बस गए थे। सौदा ने इनपर भी हजो कही थी। इनका दीवान अप्राप्य है। यह बड़े विनोद-प्रिय और प्रसन्नचित्त पुरुष थे। मीर हसन का जन्म दिल्ली ही में हुआ था और आरंभ में अपने पिता ही से शिक्षा प्राप्त की थी। ख़्वाजा दर्द से उसके बाद इसलाह लेने लगे। मिर्ज़ा रफ़ीअ सौदा को भी ग़ज़ल दिखाते थे। अवध पहुँचने पर मीर ज़ियाउद्दीन 'ज़िया' के शिष्य हुए। यात्रा में कुछ महीने डीग में भी ठहरे थे और वहाँ से शाहमदार की छड़ियों के साथ मकनपुर गए। फ़ैज़ाबाद में पहिले नवाब सालारजंग के पुत्र मिर्ज़ा नवाज़िश अली खाँ सर्फ़राजजंग के यहाँ नौकर होकर कुछ दिन वहीं रहे। नवाब आसफ़ुद्दौला की सन् १७७६ ई० में राजगद्दी होनेपर लखनऊ राजधानी बनाई गई तब ये भी लखनऊ आए। यहीं (१ मुहर्रम १२०१ ई०) सन् १७८१ ई० में पचास वर्ष से अधिक अवस्था पाकर कालकवलित हुए। मुसहफ़ी ने तारीख कही थी। लुत्फ़ ने १२०५ हि० लिखा है पर प्रथम विश्वसनीय है। इन्हें चार पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़े मीर मुस्तहसन 'ख़लीक़' मुसहफ़ी के शिष्य थे। इन्होंने एक दीवान लिखा है। यह प्रसिद्ध मर्सिया कहनेवाले थे। इनके दो अन्य पुत्र मीरख़ुल्क़ 'ख़ुल्क़' तथा मुहसिन भी कवि थे। इनके तीन पोते 'अनीस', 'उनस' तथा 'मूनिस' भी प्रसिद्ध कवि हुए। मीर हसन उर्दू और फ़ारसी के अच्छे विद्वान थे। तज़किरा में फ़ारसी की अच्छी इंशापर्दाज़ी

दिखलाई है। यह प्रसन्नचित्त और विनोदप्रिय थे पर अश्लीलता से दूर रहते थे। ये मिष्टभाषी और मिलनसार थे, इसीसे इनके समकालीन लेखकों ने इनकी प्रशंसा की है। विद्वत्ता और कविता इन्हें रिक्थक्रम में मिली थी और इन्होंने उसे अपने वंशधरों के लिये संचित कर छोड़ा था। इनके प्रपौत्र मीर 'नफ़ीस' ने कहा ही है—

'शमशेरे फ़साहत पहै यह सातवाँ सैक़ल।'

इनकी कृतियों में पहिला तो दीवान है, जिसमें ग़ज़लों के सिवा तरकीब बंद, वासोख्त, मुखम्मस आदि भी हैं। सब लगभग सात हज़ार शैर के हैं, पर मीर हसन की प्रसिद्धि इनकी मसनवियों पर स्थित है, जिनमें सिहरुल् बयान प्रधान है। इसमें शाहज़ादे बेनज़ीर और शाहजादी बद्रेमुनीर की प्रेम कथा है। यह सन् (११९९ हि०) १७८५ ई० में समाप्त हुई, जिसकी तारीख मिर्ज़ा क़तील तथा मुसहिफ़ी ने कही है। उर्दू साहित्य में इस जोड़ की केवल एक ही और मसनवी गुलजारे नसीम है। नस्रे बेनजीर के नाम से इसका गद्य रूपांतर भी हो चुका है। दूसरी मसनवी गुलजारे अरम है, जो सन् १७७८ (११९२ हि०) में लिखी गई थी। इसमें मकनपूर के शाहमदार की छड़ी के मेले का, स्त्रियों के वस्त्राभूषण का और लखनऊ की निंदा तथा फैजाबाद की प्रशंसा का वर्णन दिया है। तीसरी मसनवी 'रमूज़ुल् आरिफ़ीं'

रचनाएँ

है, जिसका अर्थ ज्ञानियों का खिलवाड़ है। तीन अन्य मसनवियाँ और कुछ क़सीदे भी लिखे हैं। इन्होंने मर्सिए, सलाम और सोज़ आदि भी लिखे हैं। इनका तज़किरः फारसी में है, जिसमें लगभग तीन सौ कवियों के संक्षिप्त परिचय मात्र दिए गए हैं। इन्होंने इनके तीन विभाग किए हैं—पहिला फर्रुख़सियर तक, दूसरा मुहम्मदशाह तक और तीसरा अपने समय तक। 'सिहरुल् बयान के कारण इनका स्थान इतिहास में दृढ़ हो गया है, जिसकी स्वाभाविक सीधी सादी वर्णन शैली सबको प्रसन्न कर देती है। प्रेम ही इनकी कविता का प्रधान विषय है और इस पर भावमयी स्वच्छ भाषा भी अनूठी है।

मुहम्मद तकी 'मीर' के पिता का नाम, मीर अब्दुल्ला था जो आगरे के एक मंसबदार थे। पिता की मृत्यु पर मीर आगरे से छोटी ही अवस्था में दिल्ली आए और अपने मामा सिराजुद्दीन 'ख़ाने आर्ज़ू' के यहाँ पाले गए और शिक्षा प्राप्त किया। शीघ्र ही इनकी प्रसिद्धि फैलने लगी और मामा से कुछ मतभेद हो जाने से यह अलग हो गए। यह इतने प्रसिद्ध हो गए कि इनकी गजलें दूर दूर तक लोग भेंट की तरह पर ले जाया करते थे। शाहआलम दिल्ली के सम्राट् बने हुए थे, पर कोष खाली पड़ा था। बाहरी चढ़ाइयाँ हो ही रही थीं। कविता और दरिद्रता का बहिनापा प्रसिद्ध भी है और मीर भी उससे बरी नहीं थे। सर्दारों, खोजों आदि की चापलूसी इनसे

मीर तकी 'मीर'

अहम्मन्य कवि के लिये संभव नहीं था, इसलिये अंत में यह लखनऊ चले। उस समय वहाँ नवाब आसफुद्दौला के दान की धूम थी। आज़ाद लिखते हैं कि यह सन् १७७६ ई० में लखनऊ गए पर लुत्फ़ ने १७८३ ई० में लिखा है। हसन ने भी तजकिरः में लिखा है कि यह सन् १७८० ई० में दिल्ली ही में थे। दूसरा ही ठीक मालूम होता है क्योंकि सन् १७७५ ई० में नवाब आसफुद्दौला गद्दी पर बैठे थे और उसी वर्ष उन्होंने लखनऊ को राजधानी बनाना निश्चय किया था। आसफुद्दौला के दान की प्रसिद्धि फैलने तथा लखनऊ बनने में कुछ वर्ष अवश्य लगे होंगे। जिस गाड़ी से यह जा रहे थे उसी गाड़ी में एक और भी यात्री था। जब उसने समय काटने के लिये इनसे बातचीत करना चाहा तो ये मौन रहे कि इनकी भाषा बिगड़ जायगी। जिस दिन ये लखनऊ पहुँचे उसी दिन एक मुशायरा (कवि सभा) था। आप भी तुरंत पुरानी चाल की दिल्लीवाली पोशाक से दुरुस्त हो ग़ज़ल तैयार कर वहाँ पहुँचे। नई रोशनी के लोग इन्हें देखकर कुछ मुस्किराए और परिचय जानने का भी प्रयत्न किया। तब इन्होंने कुछ शैर अपने परिचय के बनाकर उसी ग़ज़ल में मिला दिया तथा उसे ऐसे करुणापूर्ण स्वर से पढ़ा कि सभी लोग उनसे क्षमा माँगने लगे। आसफुद्दौला ने इनका आना सुनकर इनका वेतन नियुक्त कर दिया जो इनको अंत समय तक मिलता रहा। फोर्ट विलियम कालेज में मौलवी के पद पर नियुक्ति के लिये इनका भी नाम

चुना गया था पर अधिक वृद्ध होने से ये नियुक्त नहीं हुए। नवाब आसफुद्दौला से, तुनुक मिज़ाजी के कारण ज़रा सी बात पर बिगड़ कर घर बैठ रहे पर वेतन उसी प्रकार मिला करता था। इनकी मृत्यु सन् १८१० ई० में हुई और उस समय इनकी अवस्था लगभग सौ वर्ष के थी। मीर के विषय में विशेष कुछ नहीं ज्ञात होता। अपने तजकिरः में स्वयं इन्होंने कुछ नहीं लिखा है। 'ज़िक्रे मीर' नाम की एक पुस्तक का उल्लेख स्प्रेंजेन ने किया है पर वह अप्राप्य है। 'मीर' वास्तव में सैयद थे या केवल उपनाम ही मीर था इस पर गुलाम हुसेन 'शोरिश' ने अपने तज़किरः में शंका उठाई है, जो सन् १७७९ ई० में लिखी गई थी। यह वास्तव में सैयद थे जैसा उन्होंने स्वयं लिखा है और अन्य तज़-किरों में इनके तथा इनके पिता के नाम के साथ मीर लगा मिलता है।

मीर की प्रकृति में अहम्मन्यता की मात्रा अधिक थी। अज़-दर या अजगर नामा की रचना तथा सौदा और अपने को पूरा, दर्द को आधा और सोज़ को चौथाई कवि मानना स्पष्ट बतला रहा है। आज़ाद ने इसे सुनी सुनाई बातों से बहुत रंगीन करके लिखा है। निकातु-श्शोअरा को लेकर जो कुछ लिखा है वह गप्प मात्र है क्योंकि उस ग्रंथ के मिल जाने से उन बातों का समर्थन नहीं हो सका। इन्होंने अनेक कवियों की प्रशंसा की है और कहीं कहीं कड़ी आलोचना भी की है। 'मीर' 'सोज' से अवस्था में अधिक थे

मीर की प्रकृति

इसलिये यह कथन कि सोज़ के प्रथम उपनाम को इन्होंने उड़ा लिया, अशुद्ध है। सोज ने स्वयं ही मीर की प्रसिद्धि देखकर बदला होगा।

मीर ने अवस्था खूब पाई थी और इनका कविता-काल लगभग पचहत्तर वर्ष का था। इन्होंने लिखा भी बहुत है। रेख़्ता के छ दीवान लिखे हैं, जिनमें केवल ग़ज़ल ही नहीं है

रचनाएँ

वरन् रुबाई, मुस्तज़ाद, मुखम्मस, मुसद्दस, वासोख़्त आदि अनेक प्रकार की कविताएँ हैं। इन दीवानों में हजारों ग़ज़लें हैं। मीर ने बहुत सी मसनवियाँ और क़सीदे भी लिखे हैं। इनके क़सीदे 'सौदा' के जोड़ के नहीं हैं। इनकी प्रतिभा इस ओर विशेष नहीं झुकी क्योंकि इनका स्वभाव ही अमीरों की चापलूसी से दूर था और अहंकार की मात्रा इनमें भरपूर थी। मसनवियाँ भी लिखी हैं जिनमें निंदा, प्रेम तथा प्रशंसा वर्णित है। अजगरनामा में स्वयं अजगर बने हैं और अन्य कवियों को छोटे छोटे जानवर बनाया है जो अजगर के एक ही फुफकार में नष्ट हो गए। शोलए इश्क़, जोशे इश्क़, दरियाए इश्क़, एजाज़े इश्क़, ख़्वाबो ख़्याल, और मामलाते इश्क में प्रेम कहानियाँ हैं। मसनवी तंबीहुल्ख़्याल में कविता का महत्व दिखलाया है। नवाब आसफ़ुद्दौला के शिकार का शिकारनामा नामक तीन मसनवियों में वर्णन किया है। बिल्ली, बकरी, कुत्ते आदि पर मसनवी लिखी हैं। फ़ारसी का एक दीवान 'मुसहिफी' के अनुसार

एक वर्ष में तैयार किया था। निकातुश्शोअरा नामक तज़किरा सन् १७५२ ई० के लगभग लिखा गया था। इसमें कवियों की कविता भी उद्धृत की गई है।

मीर भी समकालीन कवियों की तरह फ़ारसी भाषा के शब्द तथा मुहावरे लेते रहे पर या तो वे उसे उसी तरह ले लेते थे या उसका उर्दू बना लेते थे। कुछ चल निकले और कुछ इन्हीं के साथ रह गए। निकातुश्शोअरा की भूमिका में रेख़्ते के बारे में अपनी सम्मति दी है। यद्यपि मसनवियाँ इन्होंने उच्च कोटि की लिखी हैं पर ग़ज़ल ही में इनकी प्रतिभा पूर्ण रूप से जागृत हुई है। ओज और प्रसाद गुण के साथ ही करुण रस का उत्तम परिपाक हुआ है। कुछ शैर तो इतने अच्छे बने हैं कि सूक्तियों की तरह चल निकले हैं। भाषा की सफ़ाई, मुहावरों के सुंदर प्रयोग और भरती के शब्दों का न लाना भी दर्शनीय है। शैली अत्यंत सादी होते हुए भी आलंकारिक होती थी। छोटी छोटी बहर काम में लाते थे और उनमें काव्यामृत भर देते थे, जिससे इन्हें उर्दू का शेख़सादी कहते हैं।

भाषा और शैली

उर्दू साहित्य में मीर और मिर्ज़ा का वही स्थान है, जो हिंदी में सूर और तुलसी का है। ग़ालिब, नासिख़, हसन आदि अनेक बड़े कवियों ने मीर की प्रशंसा के पुल बाँधे हैं। सभी ने यही प्रयत्न किया है कि वही मीर की सबसे बढ़कर प्रशंसा करे। परवर्ती कवियों के लिए

साहित्य में स्थान

ये ही दोनों कवि आदर्श हैं। करुण रस की कविता में जो हृदय-द्रावकता, तीव्रता और तत्काल मर्म-व्यथा की अनुभूति है वह इन्हें उर्दू साहित्य का सर्व प्रथम कवि बतलाता है। प्रेम काव्य में भी ये प्रथम श्रेणी के कवियों की पंक्ति में विठाए जायँगे। सांसारिक अनुभव भी इनका बढ़ा चढ़ा था, जो इनकी कविता में गंभीरता लाता था।

ख़्वाजा वासित ने मीर और मिर्ज़ा की कविता पर अपनी यह सम्मति दी है कि इनकी कविता में आह और दूसरे की कविता में वाह की ध्वनि निकलती है और एक ही भाव पर लिखी गई दोनों की कविता भी उद्धृत कर इसका स्पष्टीकरण किया है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि मीर की कविता में करुणा और सौदा में विनोद की मात्रा अधिक है। अपने रसों के क्षेत्र में दोनों ही एक से एक बढ़ कर हैं। यही कारण है कि गजलों में जहाँ आहो नाले, विरह के दुःख आदि के वर्णन मुख्य हैं, मीर बहुत बढ़ गए हैं पर कसीदों के 'बादशाह' सौदा माने गए हैं। कसीदों में ओज, व्यंग्य आदि प्रधान हैं इसी से इस क्षेत्र में सौदा के मस्तिष्क को विचरण करने को खूब मैदान मिला है। प्रतिभा दोनों ही में पूर्णरूप से विद्यमान थी पर मीर की प्रतिभा पिंगल-ज्ञान से नियमित होकर चलती थी और मिर्ज़ा की प्रतिभा उनके कवित्व शक्ति की अनुवर्तिनी थी। मिर्ज़ा ने गुलदस्ता सजाया है तो मीर ने माला पिरोई है। मीर

मीर और सौदा

की जीवनी से ज्ञात होता है कि वे अपने हाल से कभी संतुष्ट न थे, किसी का भी व्यवहार उन्हें प्रसन्न न कर सका और उनके अनुभव सदा कटु ही रहे। सौदा इनके विपरीत, हर हालत में मस्त थे, दुःख में भी उन्हें सुख की अनुभूति होती थी और किसी का कुव्यवहार विनोदयुक्त व्यंग्य में बदल उठता था। यही कारण है कि मीर दस के बीच में प्रसन्न नहीं हो सकते थे और उन्हें एकांत प्रिय था। एकांत-प्रियता उदासीनता का द्योतक है। सौदा खूब मिलते थे, हँसते थे और हँसाते थे। यही प्रकृति की प्रतिकूलता दोनों की कविता में साफ झलकती है। मीर का अनुभव बहुत चढ़ा बढ़ा था पर वह दुखमय था इसलिए जितना ही करुणोत्पादक भाव कविता में प्रकट करना चाहते थे उतने ही वे सफल होते थे। दुखी हृदयों को उनके एक एक शेर में उनके निज हृदयों की करुण-कथा प्रवाहित होती अनुभूत होती थी। सौदा में इसके लिए स्थान कहाँ! इनके विरह-वर्णन में सत्यता की गंध क्षणिक होती थी। इनका क्षेत्र दूसरा है, कष्ट में आशा इनका आधार है और विनोद तथा व्यंग्य नस नस में भरा है। इनकी कविता से दुखी भी प्रसन्न होने की चेष्टा करता है और सुखी हँसता है। मीर यदि हँसाने की चेष्टा करते हैं तो वह असफल होते हैं और उनकी हँसी एकांत-स्थान की हँसी सी डरावनी होती है। उसमें निर्ममता का आवेश रहता है। उनका व्यंग्य निर्जीव है। यद्यपि उन्होंने इधर प्रयत्न किया है पर सौदा की

समानता तो दूर, वह एक तरह से इसमें असफल ही रहे। वर्णन शक्ति दोनों ही की समान है। अपने भावों, विचारों तथा दृश्यों के चित्र खींच देते हैं। पर ध्यान रहे, कि एक आशावादी है तो दूसरा निराशावादी। मीर के चित्र स्याही मायल नीम रंग के हैं पर बहुत ही मार्मिक हैं। सौदा के चित्र शोख रंग के हैं और उनकी आकर्षण शक्ति उच्च कोटि की है। अलंकार का भी वही हाल है। मीर को सजावट से क्या काम और बिना सजावट का 'सौदा' कैसा ! सौदा ने कहीं कहीं बड़ी ही उत्तम उपमाएँ दी हैं। दोनों ही में शिथिलता दोष नहीं आया है। उनके भाव और विचार ऐसे चुने हुए शब्दों में रखे गए हैं कि उनके शब्द का हेर फेर अधिक कम करना संभव नहीं। दोनों ही अपने अपने क्षेत्र के स्वामी हैं क्षेत्र चाहे छोटे हों या बड़े हों, या उनमें एक ही प्रकार की भूमि हो या विभिन्न प्रकार की।
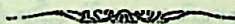
छठवाँ परिच्छेद

दिल्ली साहित्य केंद्र का उत्तर मध्य-काल

यह परिच्छेद मध्यकाल का उत्तरार्द्ध मात्र है इससे उस काल की प्रायः सभी विशेषताएँ इस पर भी लागू हैं। इस उत्तरमध्य-काल के भी अनेक कवि प्रसिद्धि प्राप्त करने के उपरांत लखनऊ चले गए थे। इंशा ने भाषा के परिमार्जित करने में वहुत प्रयत्न किया, तिसपर भी प्राचीन उर्दू की शव्द-रचना ने विलकुल पीछा नहीं छोड़ा था। मुसहिफ़ी तो प्राचीन शैली के पक्षपाती ही थे। इस काल के उत्तरार्द्ध के अन्य कवियों में जुरअत ने ग़ज़ल लिखने में मीर ही को आदर्श रखा है। इसी उत्तरार्द्ध में मियाँ रंगीं ने रेख़्ते से रेख़्ती बनाकर नई रंगीनियाँ दिखलाईं, जिसमें इंशा ने भी अपने कौशल का परिचय दिया है। यद्यपि यह हिंदी की कवि-प्रथा का अनुसरण मात्र था पर अश्लील भावों और विचारों से प्रसूत होने से यह कुछ भी महत्व को न प्राप्त कर सकी। यह उर्दू कवियों की हार्दिक स्थिति के अनुकूल नहीं थी और केवल अपने आश्रय-दाताओं के विनोद के लिए इसमें हँसी मसखरेपन के सिवा और कुछ न हो सका।

विषय-प्रवेश

यह काल भी कुछ ऐसा ही था जिसमें अच्छे कवि अपने स्वतंत्र विचारों, नैसर्गिक उद्गारों तथा स्वच्छ भावों को कविता-बद्ध करने के बदले अपने आश्रयदाताओं के मनो-

विशेषता

रंजनार्थ कविता करते थे। इस काल के आश्रय-दाता कवियों को पुरस्कृत नहीं करते थे प्रत्युत् वेतन देते थे और उन्हें अपने विनोद तथा मनोरंजन की एक साधारण सामग्री समझते थे। यदि वे अपने स्वामियों को प्रसन्न न कर सकें तो नौकरी से अपने को बर्खास्त समझें। ऐसी अवस्था में अच्छे सुकवियों की मेधा-शक्ति तथा कवि-कौशल काव्य करने में न व्यय की जाकर विदूषकपन ही में समाप्त हो जाती थी। कविता पर स्वभावतः इस प्रकार के आश्रय का अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। इस काल के पहिले के कवियों में धार्मिक भाव पूर्णरूप से था और उन लोगों ने कविता को आय का साधन नहीं बना डाला था। उनमें कई कवि फ़क़ीर और संसार से विरक्त भी थे। इससे उनके काव्य में भावों की स्वच्छता तथा विचारों की गंभीरता थी। उन पर दैवी नशा छाया रहता था और वे माशूक की ओट में ईश्वर की ओर दृष्टि जमाए रहते थे। पर इस काल के कवि सांसारिक माया-मोह के फँदे में फँस गए। कविता द्वारा आश्रयदाताओं को प्रसन्न कर धन प्राप्त करना ही उनका ध्येय रह गया। अपव्ययी नवाबों ने अच्छे अच्छे कवियों की मर्यादा को आकर्षित कर लिया था। फलतः विचार-गांभीर्य, स्वच्छंदता तथा भावोत्कर्ष

के स्थान पर काव्य-कौशल विशेष परिपक्क हो गया। इससे कविता में अस्वाभाविकता का पुट पूरा पड़ गया, जो आगे और भी बढ़ता गया।

सैयद इंशाअल्लाह खाँ 'इंशा' के पिता मीर माशाअल्लाह खाँ 'मसदर' के पूर्वज नजफ़ के रहनेवाले थे जहाँ से आकर वे दिल्ली में बस गए थे। मुग़लदरबार के ये लोग हकीम और मंसबदार थे। दिल्ली की अवनति आरंभ होने पर माशाअल्लाह खाँ मुर्शिदाबाद चले आए, जहाँ इनकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। यहीं इंशाअल्लाह खाँ का जन्म हुआ। आरंभ में इनके पिता ही ने इन्हें शिक्षा दी थी पर कविता में इन्होंने किसी को गुरु नहीं बनाया और स्वयं उसमें दक्षता प्राप्त की। पहिले इनके पिता इनकी कविता शुद्ध कर देते थे पर इनकी प्रतिभा दूसरे की आश्रित नहीं थी। इंशा मुर्शिदाबाद त्याग कर दिल्ली चले आए और शाहआलम के दरबार में प्रविष्ट हो गए पर नाम मात्र के सम्राट् के सूने कोष से कवि-तृष्णा नहीं बुझी। दिल्ली के पुराने शायर इनके सम्मान पाने से चिढ़ उठे थे, जिससे उन लोगों के व्यंग्य तथा दोषोद्भावना से इनका नाकों दम आ गया। अंत में यह भी लखनऊ चले गए और मिर्ज़ा सुलेमानशिकोह के मुसाहिब हो गए। मिर्ज़ा इनसे इतने प्रसन्न हुए कि मुसहिफी के स्थान पर इन्हीं से कविता शुद्ध कराने लगे। कुछ दिनों अनंतर मीर तफ़ज्जुलहुसेन अल्लामी के साथ नवाब सआदतअली खाँ के

इंशा

दरबार में पहुँचे और शीघ्र ही उनसे अच्छी तरह हिल मिल गए। हँसी, कहानी तथा चुटकुलों से नवाब को इन्होंने ऐसा प्रसन्न किया कि उन्हें इनके बिना चैन नहीं मिलता था पर यही हँसी झगड़े का घर हुई। एक तो दोनों की प्रकृति भिन्न थी, 'नवाब मुकत्तअ और इंशा हँसोड़', और दूसरे मनुष्य की प्रकृति भी हर समय एक सी नहीं रहती। दुर्भाग्य ही से कहिए कि एक दिन इनके मुँह से कुछ ऐसे शब्द निकले जिससे नवाब की माता पर कुछ आक्षेप था। नवाब क्रुद्ध हो गए और धीरे धीरे इनका पद, वेतन सभी छिन गया। अंत में सन् १८१७ ई० में बहुत कष्ट उठाकर इंशा सा विद्वान, कवि, सम्राटों तथा नवाबों का प्रेम-पात्र और सभा-समिति का 'रौनक' संसार से उठ गया।

इंशा की कृतियों में पहिला कुलियात है, जिसमें उर्दू का दीवान, रेख़्ती का छोटा दीवान, उर्दू तथा फ़ारसी के कसीदे, फ़ारसी का छोटा दीवान, मसनवी शीरोबिरंज, फ़ारसी मसनवी बिना नुक़्ते की (फ़ारसी); शिकार नामा (फ़ारसी), खटमल, मच्छर आदि पर हजोएँ, चंचल प्यारी हथिनी की मसनवी, साहूकार, मुर्ग आदि पर मसनवियाँ, क़ित्ते, पहेलियाँ, बिना नुक़्ते का दिवाने उर्दू और शरह मातए-आमिल संगृहीत हैं। यह कुलिआत साढ़े चार सौ पृष्ठ अठपेजी में है। दूसरी कृति दरियाए-लताफ़त है, जो उर्दू का प्रथम व्याकरण है। इसका पूर्वार्द्ध इंशा का तथा उत्तरार्द्ध क़तील

रचनाएँ

का बनाया है। सन् १८०२ ई० में यह तैयार हुआ था। पूर्वार्द्ध में व्याकरण तथा उत्तरार्द्ध में लक्षण-ग्रंथ है। सैयद इंशा ने तत्कालीन भाषाओं के जो नमूने दिए हैं वे भाषाविज्ञान के लिये बड़े महत्व के हैं। फ़ारसी लक्षण के हिंदी नाम गढ़कर दिए हैं। व्याकरण से गंभीर विषय की रचना में भी इन्होंने अपनी विनोद-प्रियता नहीं छोड़ी है। इनकी तीसरी रचना 'रानी केतकी की कहानी' ठेठ हिंदी में है। 'फारसी अरबी छुट' भाषा लिखने का यह इनका प्रथम और अच्छा प्रयास है। वाक्य रचना में उर्दू ढंग आ गया है पर यह शुद्ध हिंदी है। न संस्कृत और न फारसी अरबी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसे जनसाधारण में प्रायः सभी हिंदू और मुसल्मान समझ सकते हैं। इसके कई संस्करण निकल चुके हैं।

इंशा में हास्यरस की मात्रा अधिक थी और बातचीत तक में वे हँसी, विनोद आदि की झड़ी लगा देते थे। रचनाएँ रचेता के प्रकृति की आदर्श हैं। कहीं कहीं यह उन्हें हास्यास्पद बनाती हैं पर प्रकृति बदली नहीं जाती। समय भी वैसा ही था और वे समय के प्रवाह में पड़ गए थे। उनकी कृतियों में उच्चकोटि की भी कृतियाँ हैं। प्रतिभा-संपन्न थे, अनेक भाषओं के ज्ञाता थे तथा फारसी अरबी के अच्छे विद्वान थे। कविता चातुरी भी खूब थी। बिना नुक़्ते की, कई भाषाओं की तथा इसी प्रकार की अन्य ऐसी कविता भी करते थे जिनमें परिश्रम अधिक करना पड़ता था। इसीसे इन्हें उर्दू

रचना-शैली

साहित्य का अमीर खुसरो भी कहते हैं। भारतीय कथानक, हिंदी के शब्दों तथा उपमादि का बराबर प्रयोग किया है पर साथ ही भाषा की ओर भी दृष्टि थी। यद्यपि रेख़्ते से रेख़्ती भी इन्होंने निकाली थी पर रंगीं और जानसाहब ही उसमें विशेष प्रसिद्ध हैं।

भाषा का इन्हें अच्छा ज्ञान था और उसकी काट छाँट तथा परिमार्जन में इन्होंने बहुत योग दिया है। इनकी रचना दरिआए-लताफत बड़े परिश्रम से लिखी गई थी तथा पूर्ण विद्वता की परिचायक है। इनकी उच्चकोटि की कविताएँ अच्छे अच्छे कवियों की रचना के समकक्ष है और उर्दू साहित्य की अमूल्य संपत्ति है। रानी केतकी की कहानी के कारण यह हिंदी-गद्य-साहित्य के इतिहास में लल्लू लालजी ही के समान सम्मान्य हैं।

उर्दू साहित्य में स्थान

जुरअत का वास्तविक नाम यहिया अमान था पर शेख कलंदर-बख्श के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके पूर्वज आगरे के रहनेवाले थे पर इनके पिता हाफ़िज अमान दिल्ली में आ बसे थे। मान या अमान की पदवी इनके वंश में अकबर बादशाह के समय से प्राप्त है। नादिरशाही लूट के समय राय अमान भी मारे गए थे और चांदनी चौक के पास की एक गली अभी तक इनके नाम पर राय मान की गली कहलाती है। जुरअत मियाँ जाफरअली 'हसरत' के शिष्य थे। ज्योतिष में अच्छा गम था और गान विद्या भी जानते थे। सितार

जुरअत

बजाने में प्रवीण थे। फैजाबाद ही में यौवन व्यतीत कर यह बरैली के नवाब हाफ़िज रहमत खाँ के पुत्र नवाब मुहब्बत खाँ के यहाँ पहिले नौकर हुए। सन् १८०० ई० के लगभग यह लखनऊ गए और वहाँ मिर्ज़ा सुलेमानशिकोह के आश्रित हुए। यहीं सन् १८१० ई० में इनकी मृत्यु हुई। यह अंधे थे पर जन्मांध नहीं थे और इनके अंधे होने का कारण कोई शीतला बतलाते हैं और कोई कहते हैं कि यह वास्तव में अंधे नहीं थे पर पर्दे के अंदर की सुंदरियों को देखने की इच्छा से अंधे बन गए थे, क्योंकि इनके चुटकुले, हँसी तथा लतीफों के सुनने की वे स्त्रियाँ इच्छुक थीं। पर जब यह भेद गृह के स्वामी को ज्ञात हुआ तो उसने क्रोध में इन्हें सच्चा अंधा बना डाला।

रचनाएँ

रचनाओं में इनका एक दीवान और दो मसनवियाँ प्राप्य हैं। दीवान में ग़ज़ल, रुबाई, मुख़म्मस, वासोख्त, हजोएँ, क़ितअ आदि हैं। कुछ मर्सिए भी लिखे हैं, जिनमें सन् १७७७ और १७७८ तारीखें हैं। पहिली मसनवी सन् १७८१ ई० के पहिले वर्षा पर लिखी गई थी, जिसका उल्लेख हसन ने किया है। दूसरी मसनवी 'हुस्नो इश्क' है जिसमें ख्वाजा हसन और बख्शी नाम की एक वेश्या की प्रेम-कथा का अच्छा वर्णन है। काव्य की दृष्टि से यह अच्छी है क्योंकि ओज तथा प्रसाद दोनों ही गुण वर्तमान हैं। जुरअत किसी भाषा के पूर्ण विद्वान नहीं थे और न साहित्य के अनेक अंगों ही

में उनका प्रवेश था पर कविता शक्ति के साथ अनुभव अच्छा था इसी से जो लिख गए सो अच्छा ही लिखा है।

जुरअत ने केवल उर्दू ही लिखा है, क्योंकि यह फारसी के विशेषज्ञ नहीं थे। इनकी कविता में प्रेम कथा, मदिरा तथा चोचलेबाज़ी ही विशेष है। प्रेम का आदर्श उच्च नहीं है प्रत्युत बाज़ारू है। आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिये अश्लीलता की मात्रा भी कम नहीं है। एक

रचनाशैली

मुशाअरे में जुरअत ने कविता पढ़ी, जिस पर खूब वाहवाही हुई। मीर तक़ी 'मीर' भी वहाँ उपस्थित थे। जुरअत के इनसे सम्मति माँगने पर उन्होंने जो उत्तर दिया था वह इनकी कविता का बहुत ही मार्मिक चित्रण था। मीर ने कहा कि 'तुम शैर तो कहने नहीं जानते हो, अपनी चूमा चाटी कह लिया करो'। इन्होंने यद्यपि 'मीर' की रचनाशैली ही को आदर्श माना था पर उस गंभीरता, विद्वत्ता और करुणा से इनकी कहाँ भेंट ? मीर की कविता विद्वानों के लिये तथा जुरअत की जनसाधारण के लिये थी। इनकी कविता शक्ति समय के प्रवाह में पड़ गई और विद्वत्ता के अभाव ने उसे और भी नीचे ला पटका। इतने पर भी कविता में प्रसाद गुण अच्छी तरह वर्तमान है और कहने का ढंग भी सीधा सादा है। यह केवल पथप्रदर्शकों के रास्ते पर लाठी टेकते चले गए हैं, नए रास्ते खोजने की जुरअत (साहस) ही इनमें कहाँ थी। इनकी कविता साधारणतः लोकप्रिय हुई, जिससे साहित्य में इन्हें अच्छा स्थान प्राप्त है।

शेख गुलाम हमदानी मुसहिफी के पिता का नाम वली महम्मद था और ये मुरादाबाद अमरोहा के रहनेवाले थे। सन् १७७६ ई० में मुसहिफी फ़ारसी तथा उर्दू कविता की शिक्षा प्राप्त करने दिल्ली चले आए और बारह वर्ष तक यहीं रहे। इसी बीच इन्होंने अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी क्योंकि मीर हसन के तज़किरे में इनका उल्लेख है, जो सन् १७८१ ई० में लिखा गया था। यह अपने गृह पर कवि-सभाएँ करते थे, जिनमें प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवि आते थे। इनके शिष्य बहुत थे। 'सरापा सखुन' में लिखा है कि इनके गुरु का नाम 'मानी' कवि था। भाषा इनकी सोज, मीर और सौदा के समय की है। फ़ारसी के विद्वान तथा योग्य साहित्यमर्मज्ञ थे। सैयद इंशा ने इनकी जो हजो लिखी है, उससे ज्ञात होता है कि इन्होंने बुढ़ापे में शादी की थी जिससे उस समय भी शौक़ीनी से वाज़ न आए। बारह वर्ष दिल्ली रहकर ये भी लखनऊ गए। रास्ते में कुछ दिन टाँडा के नवाब मुहम्मद यार खाँ के यहाँ भी रहे थे। सन् १८०० ई० के लिखे तज़किरः इश्क़ी से ज्ञात होता है कि यह व्यापार भी करते थे। इनकी मृत्यु सन् १८२४ ई० में लगभग अस्सी वर्ष की अवस्था में हुई थी। हसरत ने लिखा है कि इनका जन्म सन् ११६४ हि० (सन् १७५१ ई०) में हुआ था और यह ७६ वर्ष की अवस्था में मरे थे।

मुसहिफी

मुसहिफी बहुत लिखते थे। फ़ारसी में चार दीवान लिखे हैं

जिनमें अब केवल एक मिलता है। फ़ारसी कवियों का एक तज़-किरः और एक शाहनामा लिखा। दूसरे में शाह-आलम तक के वादशाह का उल्लेख है। उर्दू में इन्होंने आठ दीवान लिखे हैं, जिनमें हज़ारों ग़ज़लें, रुवाइयाँ और क़सीदे आदि भरे हैं। उर्दू के कवियों के दो तज़-किरे फ़ारसी भाषा में लिखे थे, जिनमें से एक प्राप्य है। यह सन् १७९४ ई० में लिखा गया था। इसमें लगभग साढ़े तीन सौ कवियों का वृतांत दिया है। अपने समकालीन कवियों के विषय में विशेष लिखा है। यह तज़किरा मीरहसन के पुत्र मीर मुस्त-हसिन 'ख़लीक़' के कहने पर लिखा गया था। मुसहिफ़ी अपनी ग़ज़लें बेंचते थे, इससे भी इनकी वहुत सी रचनाएँ अप्राप्य हो गईं।

रचनाएँ

मुसहिफ़ी आशु कवि थे। गद्य को पद्य के साँचे में इतनी शीघ्रता से ढालते थे कि देखने वाला यही समझता था कि यह प्रतिलिपि कर रहे हैं। कवि सभा के लिए एक तरह पर वहुत सी ग़ज़लें बनाते थे जिनमें से अच्छी तो बिक जाती थीं और वची हुई को आप ठीक ठाक कर कह डालते थे। इनमें लोभ अधिक था और इसीसे इनकी अच्छी रचनाएँ तो नए कवि पढ़कर प्रशंसा के पात्र बनते थे और यह अपनी तीसरे दर्जे की कविता पढ़ कर बैठ रहते थे। इतने पर भी इनकी इतनी प्रसिद्धि थी किं इनके बहुत से

साहित्य में स्थान और रचना शैली

शिष्य हुए जिनमें आतिश, ज़मीर, ऐशी, ख़लीक़ और अमीर प्रसिद्ध कवि हुए हैं। मुहम्मद ईसा 'तनहा' इन्हीं के शिष्य थे, जिनसे नासिख़ ने कविता में इसलाह ली थी। इनकी कविता अधिक है इससे इसमें उत्तम कविता कम और तीसरे दर्जे की विशेष है। 'मीर' तथा 'सोज़' की सादगी और 'सौदा' की उद्दंडता की कहीं कहीं झलक मिलती है और भाषा तो उन्हीं सी है। 'जुरअत' और 'इंशा' के समकालीन होते हुए भी भाषा की दृष्टि से उनसे प्राचीन ज्ञात होते हैं। बड़े बड़े तथा क्लिष्ट बहरों में कविता कर अपनी योग्यता दिखलाई है। इनकी मसनवी बहरुल् मुहब्बत भी मीर के दरिआए इश्क़ की छाया सी है। तात्पर्य यह है कि इनमें निज की कुछ विशेषता नहीं है। हाँ, एक अच्छे कवि थे, जिन्होंने खूब कविता लिखी है।

इंशा और मुसहफ़ी

मुसहफ़ी पुराने ढंग के कवि तथा लकीर के फ़क़ीर थे और इंशा में सभी बातें नई थीं, भाषा में काट छाँट, नए भाव और विचार, विनोद और स्वभाव की चंचलता। इसका प्रभाव दोनों की कविता पर पड़ा है। एक में पूर्ववर्ती कवियों का पदानुवर्तन और पिष्टपेषण है और दूसरे में नए नए भाव और उन्हें प्रकट करने के नए ढंग पद पद पर दिखलाते हैं। इन दोनों कवियों में आपस में मनोमालिन्य भी हो गया था जिससे दोनों में खूब चोटें चलीं। इसका मुख्य कारण शाहज़ादः सुलेमानशिकोह का मुसहफ़ी को

हटा कर इंशा को कविता दिखलाना हुआ। इंशा ने इनके शैरों की कुछ हँसी उड़ाई, बस इसी पर दोनों ओर से हजोएँ लिखी जाने लगीं, जिनमें द्वेष, अश्लीलता और गाली-गलौज तक भरी रहती थी। इनके शिष्यों ने और भी मामला बढ़ाया, मार-पीट तक की नौबत आई और स्वाँगों की बारातें तक निकलीं। इनमें इंशा ही बढ़ कर निकले क्योंकि उनकी प्रकृति इसके लिए विशेष अनुकूल थी तथा शाहजादा सुलेमानशिकोह और नवाब भी इन्हीं का पक्ष लेते थे। अस्तु, इतनी कमी होने पर भी मुसहफ़ी उर्दू साहित्य के एक रत्न हैं और उसके इतिहास में इनका स्थान ऊँचा है।

रंगीं

सआदतयार खाँ 'रंगीं' का पिता तहमास्पबेग खाँ तूरानी नादिरशाह के साथ भारत आया और दिल्ली में बस गया। यहाँ इसे सातहजारी मंसब और मुहकिमुद्दौला की पदवी मिली थी। रंगीं अच्छे घुड़सवार तथा युद्ध-विद्या के ज्ञाता थे। कुछ दिन लखनऊ में मिर्ज़ा सुलेमानशिकोह के यहाँ रहे। हैदराबाद के निज़ाम के तोपखाने में कुछ दिन रह कर लौट आए और घोड़े का व्यापार करने लगे। इन्होंने भ्रमण भी बहुत किया था। धनाढ्य, सुंदर और युवा होने के कारण जीवन में विषयवासना का बहुत उपभोग किया था। मिलनसार तथा अच्छे स्वभाव के थे। इंशा से बड़ी मित्रता थी। कविता में पहिले शाह हातिम के शिष्य हुए और उनकी मृत्यु पर

उन्हीं के शिष्य मुहम्मद अमन 'निसार' के शिष्य हुए। इनकी मृत्यु सन् १८३५ ई० में अस्सी वर्ष की अवस्था में हुई। 'शेफ्ता' एक वर्ष पहिले इनकी मृत्यु होना लिखते हैं।

इन्होंने चार दीवान लिखे हैं, जो मिल कर 'नौरतन' के नाम से प्रसिद्ध हैं। तीन रचनाएँ रेख़्ते में हैं और एक रेख़्ती में।

रचनाएँ

इनके अलग अलग नाम दीवान रेख़्तः, दीवान बेख़्तः, दीवान आमेख़्तः या दीवान हज़ल और दीवान अंगेख़्तः या दीवान रेख़्ती है। मसनवी दिलपिज़ीर में माहजबीं शाहज़ादे और श्रीनगर की रानी की प्रेम कथा है। यह इंशा, क़तील आदि के तारीख के अनुसार सन् १७९८ ई० में समाप्त हुई। ईजादे रंगीं में कई कहानियाँ हैं। कई मसनवियाँ और क़सीदे भी लिखे हैं। मज़हरुल् अजायब या ग़रायबुल् मशहूर नामक मसनवी में कई घटनाओं का संग्रह है। मजलिसे रंगीं में समकालीन कवियों की आलोचनाएँ हैं जो विशेषतर कटु हैं। फ़र्सनामा अश्वविद्या पर एक प्रबंध है, जो सन् १७७५ ई० में लिखा गया है।

रंगीं रेख़्ती कविता के आविष्कारक माने जाते हैं और वे भी ऐसा ही समझते थे। यद्यपि मौलाना हाशिमी बीजापुरी और

रेख़्ती

वली के समकालीन मौलाना क़ादिरी 'ख़ाकी' ने रेख़्ती का कविता में कहीं कहीं प्रयोग किया है पर वह हिंदी भाषा का रंग था, जो आरंभिक काल

की उर्दू में मिलता है। सैयद इंशा और रंगीं की रेख़्ती उससे भिन्न निज का अस्तित्व रखती है। हिंदी कविता की भाषा अथवा काव्य-भाषा ज़नानी बोली अर्थात् स्त्रियों की बोली में नहीं होती थी पर रेख़्ती से तात्पर्य इसी से है। स्त्रियों की भाषा प्रायः प्राचीनता लिये होती है क्योंकि अशिक्षा, पर्दे आदि के कारण समय के साथ वे भाषा के महावरे आदि के परिवर्तन को उतनी शीघ्रता से नहीं ग्रहण कर लेतीं, जितना कि पुरुष। इससे इनकी भाषा में पुराना पन रहना अनिवार्य है। कुछ ऐसे भी शब्द होते हैं, जिनका प्रयोग भी वेही करती हैं और कुछ शब्द तो वे स्वयं उस अर्थ के द्योतक रूप में बना लेती है, जिन्हें वे लज्जा आदि के वश हो स्पष्टतः नहीं कह सकतीं। भाषा की इसी भिन्नता को लेकर अश्लीलता, हँसी तथा विषयवासना के रंग में अच्छी प्रकार रंग कर इंशा तथा रंगीं ने उसे समाज के आगे रखा। कुरुचिपूर्ण पुस्तकों का कुछ विशेष प्रचार होता ही है और उस समय के समाज में, विशेष कर लखनऊ तथा दिल्ली के गिरते हुए मुसल्मानी राज्यों में वेश्यादि विषयवासना धन की एक मर्यादा हो गई थी, इससे उस समय लोगों में इसका प्रचार खूब हुआ। इसके सबसे बड़े उस्ताद मीर यारअली खाँ 'जान साहब' हुए, जिनका उपनाम ही रेख़्ती कहने वाले के उपयुक्त है। इनके पिता का मीर अमन और गुरू का नवाब आशोरअली खाँ नाम था। लखनऊ के रहनेवाले थे पर रामपुर ही में अंतिम जीवन व्यतीत किया। यह

कवि सभा में स्त्रियों के वस्त्रादि पहिर कर उन्हीं की चाल से अपनी रेख़्ती कविता पढ़ते थे। जीविका की खोज में दिल्ली और भूपाल गए पर अंत में रामपुर लौट आए, जहाँ सन् १८९७ ई० में लगभग सत्तर वर्ष की अवस्था में मरे। रेख़्ती की कविता भी इन्हीं के साथ गई क्योंकि वर्तमान सभ्य समाज इसे पसंद नहीं करता।

शाह आलम द्वितीय (सन् १७५९—१८०६)

मुग़ल वंश के अन्तिम राजे कवियों के आश्रयदाता थे और उनमें कई कवि भी थे। आलमगीर द्वितीय के पुत्र मिर्ज़ा मुहम्मद अलीगौहर शाहआलम द्वितीय 'आफ़ताब' उपनाम से कविता करते थे। उन्होंने एक दीवान लिखा है तथा एक मसनवी 'मजमूने अकदस' लिखी है जो सन् १७८७ ई० में समाप्त हुई थी। यह नाम ही इसकी रचना का समय बताता है। इसमें चीन के बादशाह मुज़फ्फ़र शाह की कहानी है। फ़ारसी में भी कविता करते थे। गुलाम कादिर द्वारा अंधे किए जाने पर फारसी में जो कित: लिखा है वह अत्यंत करुणोत्पादक है। इनके दरबार में सौदा, मीर, इंशा आदि बहुत से कवियों को समय समय पर आश्रय मिला था।

इनके पुत्र मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह 'सुलेमान' भी कवि थे जो पहिले लखनऊ चले गए थे। सन् १८१५ ई० में यह दिल्ली लौट आए, जहाँ सन् १८३७ ई० में इसकी मृत्यु हो

मिर्जा सुलेमान शिकोह

गई। इन्होंने एक दीवान लिखा है। दिल्ली में शाह हातिम और लखनऊ में मुसहिफ़ी तथा इंशा को कविता दिखलाते थे। जब यह लखनऊ में थे तब दिल्ली से आए हुए कवियों को पहिले इन्हीं के यहाँ आश्रय मिलता था।

अकबर शाह द्वितीय (१८०६-१८३७)

शाह आलम की मृत्यु पर उनके पुत्र अकबर शाह द्वितीय सन् १८०६ ई० में गद्दी पर बैठे। इन्होंने अपने पिता के उपनाम 'आफ़ताब' के विचार से अपना उपनाम 'शुआअ' (किरण) रखा था। यह कभी कभी कविता लिखा करते थे।

बहादुर शाह द्वितीय

अकबर शाह द्वितीय के पुत्र अंतिम मुग़ल सम्राट् अबूज़फ़र सिराजुद्दीन मुहम्मद बहादुरशाह द्वितीय 'ज़फ़र' अच्छे कवि थे। इनका जन्म सन् १७७५ ई० में हुआ था। यह सन् १८३७ ई० में गद्दी पर बैठे और बलवे के अनंतर सन् १८५८ ई० में गद्दी से उतारे जाकर रंगून भेजे गए, जहाँ चार वर्ष बाद इनकी मृत्यु हुई। शाह नसीर, ज़ौक़ और ग़ालिब को कविता दिखलाते थे। इनके अक्षर बहुत अच्छे बनते थे। भारतीय गान विद्या के भी यह अच्छे ज्ञाता थे और इन्होंने बहुत सी ठुमरियाँ भी बनाई हैं। सादी के गुलिस्ताँ पर टीका लिखी है। इनका दीवान भी बहुत बड़ा है और इनकी ख्याति इसी पर स्थित है। इनके ग़ज़लों पर ज़ौक और ग़ालिब

की छाप स्पष्ट है पर तब भी इनके ख़ास ख़ास ग़ज़लों में इनकी निज की भी विशेषता है, जो इनके गुरुओं से भिन्न है। इनकी रचना-शैली आडंबरशून्य, सीधी तथा प्रसाद गुण पूर्ण है। साम्राज्य की दुर्दशा के कारण इनकी कविता में करुणा की छाया मिली हुई है। इनके विचार ऊँचे तथा भाव अच्छे होते थे पर अस्वाभाविकता भी झलकती रहती है। इन्होंने भी नसीर, ज़ौक, ग़ालिब आदि से सुकवियों को आश्रय दिया था।

इस काल के अन्य कवि

शेख क़ियामुद्दीन 'क़ायम' बिजनौर जिले के चांदपूर नगर के रहनेवाले थे, जो 'दर्द' और 'सौदा' के शिष्य थे। दिल्ली आकर शाही अस्त्रालय के दारोग़ा हुए। इन्होंने एक बहुत बड़ा दीवान तथा एक तज़किरः 'मख़ज़नेनिकात' और दस मसनविनाँ लिखी हैं। स्फुट कविता भी बहुत की तथा गद्य में शकरिस्तान नामक ग्रंथ लिखा। दिल्ली छोड़ने पर कुछ दिन टाँडे में रहे और फिर रामपुर चले गए।

ममनूँ

मीर निज़ामुद्दीन 'ममनूँ' के पिता मीर क़मरुद्दीन 'मिन्नत' फ़ारसी के कवि थे पर उर्दू की भी कुछ कविता की है। ममनूँ के पूर्वज सोनीपत के रहनेवाले थे पर यह दिल्ली ही में जन्मे और पले थे। अपने पिता ही से इन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। अजमेर में कुछ दिन सदरुस्सुदूर के पद पर नियुक्त थे और कुछ दिन लखनऊ में भी रहे। इसके अनंतर यह दिल्ली लौट आए जहाँ सन् १८४४ ई० में

इनकी मृत्यु हुई। इन्होंने फारसी और उर्दू दोनों में दीवान लिखा है तथा प्रसिद्ध होने के कारण इनके कई शिष्य भी हुए। यह फ़ख़्रुश्शोअरा या सुल्तानुश्शोअरा कहे जाते थे। यह पदवी बादशाह ने इन्हें दी थी।

मिर्ज़ा जाफ़र अली 'हसरत' के पिता मिर्ज़ा अबुल् ख़ैर अत्तार थे। हसरत राय सरबसिंह दीवाना के शिष्य थे और शाह आलम के गद्दीपर बैठने पर उन्हीं के आश्रित हुए। इन्होंने एक मर्सिए में गुलाम क़ादिर के अत्याचार का वर्णन किया है। यह दिल्ली से फ़ैज़ाबाद गए और नवाब शुजाउद्दौला की प्रशंसा में एक क़सीदा लिखा जिसपर कुछ वेतन मिलने लगा। नवाब आसफ़ुद्दौला के लखनऊ जाने पर यह भी अपने मित्र नवाब मुहम्मद खां के कहने पर वहाँ जाकर बस गए। जब मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह लखनऊ आए तब उनके साथ हसरत के शिष्य जुरअत भी आए जिनके द्वारा यह भी उस दरबार में पहुँचे। अब दोनों उस्ताद और चेले ने कवि सभाओं में योग देकर यहाँ भी प्रसिद्धि प्राप्त की। मिर्ज़ा अहसन अली खाँ बहादुर तथा मिर्ज़ा जहाँदारशाह भी इनके आश्रयदाताओं में थे। सौदा ने हसरत की हजो खूब की है। उस समय लखनऊ में हर एक दूसरे को गिराने के लिये प्रयत्न कर रहा था।

हसरत

हसरत के उस्ताद राय सरबसिंह दीवाना थे, जिन्होंने कसीदों का एक, ग़ज़लों के दो और मुख़म्मस मुसद्दस आदि का एक, तथा

दीवाना

रुबाइयों का एक, इस प्रकार कुल मिलाकर पाँच दीवान लिखे हैं। यह फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि थे। कहा जाता है कि यह ईरान भी गए थे, जहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ था। उर्दू के पुराने उस्तादों में इनकी भी गणना है।

सातवाँ परिच्छेद

दिल्ली-साहित्यकेंद्र का उत्तर-काल

दिल्ली के अनेक प्रसिद्ध कवियों के लखनऊ चले जाने पर तथा वहाँ के केंद्र के उन्नति करने पर भी दिल्ली-साहित्यकेंद्र किसी प्रकार कम समुज्वल नहीं था प्रत्युत् इस काल को यहाँ के कई ऐसे सुकवियों ने सुशोभित किया है, जिनका नाम तथा रचनाएँ उर्दू साहित्य के इतिहास में अमर हैं। मोमिन, ग़ालिब, ज़ौक तथा ज़फ़र इस काल के मुख्य कवि हैं। इनमें ग़ालिब का स्थान बहुत ऊँचा है। यद्यपि दो एक कवियों ने फ़ारसीपन लाने का विशेष प्रयास किया है, जो उनकी उस भाषा की विद्वत्ता के कारण हुआ है, पर अधिकतर दिल्ली की सादगी, आडंबर-हीनता तथा भाव-स्पष्टीकरण ही के पोषक रहे हैं। फ़ारसी के शब्द तथा योज़ना की अधिकता इन कवियों के बाद कम होती गई जैसा कि इन कवियों के शिष्यों में दृष्टिगोचर होता है।

विषय-प्रवेश

मुहम्मद मोमिन खाँ 'मोमिन' दिल्ली के निवासी थे। इनके पिता हकीम गुलामनबी थे, जिनके पिता हकीम नामदार खाँ शाह आलम बादशाह के समय अपने भाई कामदार खाँ के साथ आकर बादशाही हकीम हुए। इनके

मोमिन

पूर्वज काश्मीरी थे। अंग्रेजी राज्य स्थापित होने पर इनकी जागीर झज्झर के नवाब को मिली, जिसके बदले में एक सहस्र रुपया वार्षिक इन्हें मिलना निश्चित हुआ। सन् १८०० ई० में मोमिन का जन्म हुआ। बचपन की साधारण शिक्षा प्राप्त कर शाह अबुल् कादिर से अरबी पढ़ा। इनकी मेधाशक्ति इतनी तीव्र थी कि एक बार सुन लेने से वह याद हो जाती थी। अपने पिता तथा पितृव्यों से हकीमी सीखी, जो इनके वंश में चली आती थी। ज्योतिष पर भी प्रेम होने से इतनी योग्यता प्राप्त कर ली थी कि प्रश्नों के उत्तर तथा नक्षत्रों के फल ठीक बतलाते थे। शतरंज भी यह अच्छा खेलते थे। ज्योतिष तथा हकीमी को इन्होंने कभी व्यवसाय नहीं बनाया, क्योंकि ये इनके मन बहलाव के विषय थे। शारीरिक सौंदर्य तथा यौवन सभी के होने से आरंभ में इन्होंने खूब मौज किया पर शीघ्र ही उस मार्ग को छोड़कर कविता की ओर झुके। पहिले कुछ दिन शाह नसीर को कविता दिखलाते थे पर बाद को अपनी ही कुशाग्र बुद्धि पर भरोसा रखा। इन्होंने कई बार दिल्ली छोड़ा पर उसका प्रेम इन्हें बार बार वहीं खैंच लाता था। दिल्ली के कालेज में फारसी की प्रोफेसरी के ग़ालिब के अस्वीकार करने पर टामसन साहब ने इनसे प्रस्ताव किया पर सौ रुपया महीने पर वहाँ जाना इन्होंने भी स्वीकार नहीं किया। कपूरथला राज्य से इन्हें साढ़े तीन सौ मिलते थे। पर उसी दर्बार में एक गायक को इतना ही वेतन मिलता है, यह सुनकर इन्होंने

नौकरी छोड़ दी। टोंक के नवाब के यहाँ भी जाना इन्होंने स्वीकार नहीं किया। इनमें अहंकार की मात्रा अधिक थी, जिससे यह धनाढ्यों के आश्रय से दूर भागते थे। इनकी कविता में किसी आश्रयदाता की प्रशंसा नहीं मिलती। केवल एक क़सीदा मिला है, जिसमें इन्होंने पटियाला-नरेश महाराज कर्मसिंह के भाई राजा अचेतसिंह की प्रशंसा की है, जिसने एक हथिनी इन्हें पुरस्कार दिया था। प्राचीन तथा वर्तमान सभी कवियों पर घमंड के कारण व्यंग्य करते। शेखसादी पर कटाक्ष किया है कि उनकी रचना में हुई क्या है। ग़ालिब और ज़ौक की कठोर आलोचना करते थे। सामयिकों में केवल मौलवी इस्माइल तथा ख़्वाजा नसीर को मानते थे। इनके स्वभाव में शौकीनी थी। अच्छे कपड़े पहिरते थे। लंबे लंबे घुँघराले बाल थे, जिसमें उँगलियाँ बराबर फिराते रहते थे। सभी कवि-सभाओं में कविता भी बड़ी करुणापूर्ण आवाज़ से पढ़ते थे। सन् १८५२ ई० में गिरने से इनकी मृत्यु हुई।

रचनाएँ

इनकी कविता को सिलसिलेवार लगाकर कुलियात तैयार करने का पूरा श्रेय इनके शिष्य नवाब मुस्तफा खाँ 'शेफ़्ता' को है। यह सन् १२४३ हि० में पूरा हुआ था, जिसकी तारीख़ 'दीवान बेनजीर अस्त' है, जो फ़ारसी में लिखे गए तीन चार पृष्ठ की भूमिका में दिया है। इसमें क्रम से क़सीदे, दीवान, फुटकरपद तथा छ मसनवियाँ हैं। नज़ीरी, हाफ़िज़, ख़ुसरो आदि के फ़ारसी तथा दर्द आदि के उर्दू शैरों पर

तज़मीन तख़मीस आदि लिखा है। नामों पर मुअम्मे भी अच्छे लिखे हैं। पहेलियाँ और तारीखें भी लिखा है।

विचार-गांभीर्य तथा क्लिष्ट कल्पना इनकी विशेषता है। भाव तथा शब्द योजना के सौकुमार्य में रूपक, उपमादि अलंकार का संयोग कविता की श्री को खूब बढ़ाता है। प्रेम इनका अनुभूत विषय था, इससे इस विषय की कविता चित्ताकर्षक हुई है और विद्वत्ता तथा कवित्व शक्ति ने उसे और भी ऊँचे उठाया है। फारसी के विद्वान थे, इससे उस भाषा के शब्द, महावरों आदि का प्रयोग विशेष है पर कहीं कहीं हिंदी महावरों का भी अच्छा प्रयोग किया है। इनकी मसनवियों में ओज और करुणा का अच्छा संमिश्रण है, क्योंकि करुणहृदय से निकला है। किसी विरही की 'माशूक के सितम' की शिकायतें इनमें भरी पड़ी हैं। कसीदे भी अच्छे और ओजपूर्ण हैं। उर्दू साहित्य के इतिहास में इनका स्थान अमर तथा ऊँचा है। इनके शिष्यों में शेफ्ता, तस्कीं, वहशत, नसीम आदि प्रसिद्ध कवि हैं, जिनका विवरण आगे दिया गया है।

रचना-शैली

नवाब हाजी मुहम्मद मुस्तफा खाँ पलोल के जागीरदार नवाब मुर्तज़ा खाँ मुज़फ्फरजंग बहादुर के पुत्र थे, जिन्हें लार्ड लेक ने यह जागीर पुरस्कार में दिया था। नवाब मुस्तफा खाँ ने जहाँगीराबाद की रियासत क्रय की थी। इनका जन्म सन् १८०९ ई० में दिल्ली में हुआ था और

शेफ्ता

ग़दर तक यह वहीं रहे। उसके बाद यह जहाँगीराबाद चले गए। इन्होंने फ़ारसी में 'मसर्रती' और उर्दू में 'शेफ़्तः' उपनाम रखा था। यह मोमिन के प्रिय शिष्य थे और उनकी मृत्यु पर 'ग़ालिब' से सहायता लेते थे। इनकी प्रतिभा तथा कवित्वशक्ति जन्मसिद्ध थी। यह शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गए। इनके यहाँ कवि सभाएँ भी हुआ करती थीं। हज्ज से लौट कर ईश्वर की ओर मन लगाया। इन्होंने एक फ़ारसी का और एक उर्दू का दीवान लिखा है। एक कुलियात में अन्य रचनाएँ हैं। एक पुस्तक यात्रा की तथा उर्दू कवियों का एक आलोचनात्मक संग्रह 'गुलशने बेख़ार' फ़ारसी भाषा में लिखा है। इनकी आलोचनाशक्ति की गालिब, हाली आदि ने बहुत प्रशंसा की है। कविता में इन्होंने अपने गुरु मोमिन की शैली पकड़ी है और उसमें सूफ़ियाना तथा उपदेशात्मक भाव विशेष लाए हैं। भावगांभीर्य, प्रौढ़ भाषा तथा विचारों की उच्चता इनकी कविता में स्थान स्थान पर दिखलाई देती है। उर्दू साहित्य के इतिहास में यह अमर हैं।

तसकीन

मीर अहसन मीरान के पुत्र मीर हुसेन 'तसकीन' का वंश अमीरुल्उमरा हुसेन अली खाँ के घातक मीर हैदर काशगरी से मिलता है। इनका जन्म दिल्ली में सन् १८०३ ई० में हुआ था और वहीं इमामबख़्श 'सहबाई' से शिक्षा प्राप्त की थी। कविता में नसीर और मोमिन को गुरु बनाया। प्रसिद्धि तथा जीविका की खोज में

लखनऊ और मेरठ गए पर अंत में रामपुर के नवाब यूसुफ़अली खाँ के यहाँ नौकरी लगी, जहाँ अंत तक रहे। यह नवाब सन् १८५५ ई० में गद्दी पर बैठे और सन् १८६५ ई० में मरे थे, इससे इसी बीच यह वहाँ रहे होंगे। इन्होंने अपने गुरु की शैली का अनुगमन किया है। यह वास्तव में सुकवि थे। इनके पुत्र मीर अब्दुर्रहमान 'आही' भी सुकवि हुए, जिन्हें नवाब कलबअली खाँ रामपुर से वृत्ति मिलती रही।

दिल्ली के एक सर्दार नवाब आक़ाअली खाँ के पुत्र नवाब असग़रअली खाँ का पहिले 'असग़र' और फिर 'नसीम' उपनाम हुआ। पिता की मृत्यु पर अन्य भाइयों के झगड़े के कारण यह एक भाई मिर्ज़ा अकबरअली के साथ लखनऊ चले गए। इनका स्वभाव तीव्र तथा आत्मसम्मान पूर्ण था, जिससे इन्होंने कष्ट पाते हुए भी लखनऊ में जीवन व्यतीत कर दिया। यह अपने धर्म के कट्टर अनुयायी थे। रोज़ा, नमाज़ बराबर रखते थे। इन्होंने मौलवी इमामबख़्श 'सहबाई' से शिक्षा प्राप्त की थी। कविता में 'मोमिन' के शिष्य थे। अरबी, फारसी में अच्छी योग्यता प्राप्त की थी और साहित्य के अच्छे ज्ञाता भी थे। सन् १८७५ ई० के लगभग इनकी मृत्यु हुई। लखनऊ में नवलकिशोर प्रेस के लिए अलिफ़लैला की प्रथम जिल्द का पद्यानुवाद किया था पर प्रकाशक की जल्दी से चिढ़कर उस कार्य को छोड़ दिया, तब उसे तोताराम शायाँ ने पूरा किया था।

नसीम

इन्होंने बहुत कविता लिखी है, जिसका अनुसंधान हो रहा है। जो दीवान प्राप्त है, उसे स्वयं उन्होंने पसंद नहीं किया था। ग़ालिब ने इनकी प्रशंसा की है और लखनऊ में अब्दुल्ला खाँ मेह्र, अशरफ़अली "अशरफ़" तथा अमीरुल्ला 'तसलीम' इनके शिष्यों में से थे।

इनकी शैली मोमिन ही की सी थी। भाषा की दृष्टि से इनकी शब्द योजना, लखनऊ के शब्दाडम्बर तथा क्लिष्ट योजना के विपरीत परिमार्जित, सुगम तथा स्वाभाविक थी।

रचना

इनकी कल्पना की नैसर्गिक सुंदरता तथा अनुपम वर्णना गुरुदत्त ही थी। मोमिन की शैली पर फ़ारसी शब्द योजना, भाव तथा विचार आदि का प्रयोग करते थे।

शेख इब्राहीम 'ज़ौक़' के पिता शेख मुहम्मद रमज़ान नवाब लुत्फ़अली खाँ की महलसरा के एक विश्वासी दरबान थे। इन्हीं के एकलौते पुत्र ज़ौक़ का जन्म सन् १७९० ई० (१२०४ हि०) में दिल्ली में हुआ था। जब यह पढ़ने योग्य हुए तब मौलवी हाफ़िज़ ग़ुलाम रसूल 'शौक़' के यहाँ इन्होंने शिक्षा प्राप्त की। उन्हीं के संसर्ग से तथा उनके साथ कवि सभाओं में जाने से इनमें भी कविता करने की इच्छा प्रबल हुई। इन्होंने मौलवी साहब के उपनाम ही के वज़न पर अपना उपनाम 'ज़ौक़' रखा। आरंभिक कविता इन्हीं मौलवी से ठीक कराते थे पर जब इनके एक मित्र मीर काज़िम हुसेन

ज़ौक

अली शाह नसीर के शिष्य हुए तब यह भी उन्हीं के शिष्य हो गए। शाह नसीर अपने समय के सुप्रसिद्ध उस्तादों में से थे पर शिष्य की प्रतिभा, भाव-गांभीर्य तथा शब्द-योजना देखकर ईर्ष्या करने लगे और इसलाह देना तो दूर इनको अपदस्थ करने की चेष्टा करने लगे, तब इन्होंने स्वयं अपनी कविता ठीक करना आरंभ किया और किसी गुरु के फेर में न पड़े। यह अध्ययनशील थे, इसलिए शीघ्र अच्छी योग्यता प्राप्त हो गई और कवि सभाओं में बिना शुद्ध की हुई कविता पढ़ने लगे। शीघ्र ही इनकी प्रसिद्धि हो गई और अकबर शाह द्वितीय के उत्तराधिकारी मिर्जा अबू जफर 'जफर' के दरबार में अपने मित्र काज़िम हुसेन 'बेक़रार' के साथ पहुँचे। जब शाह नसीर दक्षिण चले गए तब युवराज की कविता ठीक करने का कार्य मीर काज़िम हुसेन 'बेक़रार' को मिला, पर उन्हीं दिनों जॉन एलफिंस्टन साहब के मीर मुंशी नियत होकर यह उनके साथ चले गए तब ज़ौक़ इस कार्य को करने लगे। इन्हें चार रुपये महीना वेतन मिलने लगा। उस समय बादशाह की कोप-दृष्टि के कारण युवराज को पाँच सहस्र के बदले पाँच सौ रुपया महीना मिलता था, इसीसे सभी का वेतन कम था। उसी समय मुग़ल दर्बार के सर्दार नवाब इलाही बख़्श खाँ 'मारूफ़' ने, जो सुकवि और ग़ालिब के श्वसुर थे, इनकी प्रसिद्धि सुनकर इनको बुलाया और इन्हें अपनी कविता ठीक करने के लिए नियुक्त किया। मारूफ़ के नाम से जो

दीवान अब मिलता है, वह लगभग कुल इन्हीं का ठीक किया हुआ है।

इस कार्य से ज़ौक़ को बहुत लाभ पहुँचा। नवाब साहब दानी भी थे, जिससे इन्हें आय का कष्ट नहीं हुआ। दक्षिण में कई वर्ष रहकर जब शाह नसीर दिल्ली लौटे तब यह कवि-सभा में फिर आने लगे। शाह नसीर ने इनकी प्रसिद्धि से कुढ़कर अपने एक शिष्य को इनकी कड़ी आलोचना करने तथा अशुद्धि निकालने को उभाड़ दिया। इससे आपस में खूब बहस होती पर अंत में इन्हीं की विजय हुई। इसी बीच एक कसीदे पर प्रसन्न होकर अकबर शाह ने इन्हें 'ख़ाक़ानिए हिंद' की पदवी दी। जब 'ज़फ़र' बादशाह हुए तब इनका वेतन सौ रुपया हो गया। इन्हें खान बहादुर की पदवी, जागीर तथा बहुत धन मिला। यह सन् १८५५ ई० में ६६ वर्ष (चांद्र वर्ष के अनुसार ६८) की अवस्था में मरे।

ज़ौक़ ग़ज़ल तथा क़सीदा लिखने में उस्ताद थे। नवाब हामिद अली खाँ के कहने पर 'नामए जहाँसोज़' मसनवी लिखा, जो अपूर्व थी और बलवे में नष्ट हो गई। मुख़म्मस, क़ितः तथा तारीख़ भी लिखे थे, जिनमें कुछ मिलते हैं। ठुमरी आदि गाने की चीजें भी बनाई थीं, जिन्हें 'ज़फ़र' ने अपना लिया। प्रो० आज़ाद ने इनकी प्राप्त कविता का जो संग्रह प्रकाशित कराया है वह इनसे आशु कवि की पचास वर्ष की रचना के लिए बहुत ही कम है। पर बादशाह ज़फ़र की

रचनाएँ

कविता ठीक करने में इनका बहुत समय व्यय हो जाता था और बलवे में इनकी कविता बहुत कुछ नष्ट भी हो गई। ज़ौक़ ने भाषा को अधिक महत्व दिया। इन्होंने रूपक उपमादि अलंकारों को विशेषता न देकर भाषा को लद्दू नहीं कर दिया। इनकी स्मरण-शक्ति तीव्र थी, जिससे इन्हें सहस्रों शैर याद थे। इन्होंने गानविद्या, ज्योतिष तथा हकीमी तीनों ही आरंभ में कुछ कुछ सीख कर छोड़ दिया था। यह अध्ययनशील थे और अंत तक पुस्तकावलोकन करते रहे। इतिहास, सूफी धर्म आदि के ग्रंथों का खूब मनन करते थे।

कविता में भाषा को यहाँ तक प्रधानता देते थे कि भाव-गांभीर्य तथा कल्पनाशक्ति को उसके आगे गौण ही बना रहना पड़ता था। शैथिल्य-दोष ढूँढ़े नहीं मिलता और ओज तथा प्रसाद गुण सर्वत्र मिलता है। यही कारण है कि यह कसीदा लिखने में सबसे आगे बढ़ गए हैं। ग़ज़ल में इन्होंने सौदा, जुरअत आदि कई कवियों की शैलियों को सफलतापूर्वक निबाहा है, जिससे इनका संग्रह रंग बिरंगे फूलों का गुच्छा कहलाता है। यह फारसी के विद्वान नहीं प्रसिद्ध थे, इससे बहुधा लोग इनकी विद्वत्ता पर शंका करते थे। इनके समकालीन कवियों में केवल एक 'ग़ालिब' ही थे, जिनसे इनकी तुलना की जा सकती है। भाषा-सौष्ठव, माधुर्य तथा ओज-पूर्ण कसीदों में ज़ौक़ बढ़कर थे। पर 'ग़ालिब' में प्रतिभा तथा विद्वत्ता अधिक थी। भाषा को परिमार्जित करने तथा व्यावहारिक

महाविरों के सुप्रयोग में इन्होंने खूब प्रयत्न किया है। काव्यकला के पूर्ण ज्ञाता होने से भाषा में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आने पाई है। इन्हीं गुणों के कारण ज़ौक़ उर्दू साहित्य में समुज्ज्वल रत्न के रूप में प्रतिष्ठित और अमर हैं।

ज़ौक़ के सैकड़ों शिष्य हुए पर उनमें दाग़, आज़ाद, ज़फ़र, ज़हीर और अनवर प्रसिद्ध हो गए हैं। प्रथम दो का विवरण आगे दिया गया है और तीसरे का दिया जा चुका है। यहाँ अंतिम दो का वृत्तांत दिया जाता है।

जहीर

ये दोनों सगे भाई थे, जिनके पिता मीर जलालुद्दीन हैदर और दादा मीर इमामअली नसब सुंदर लिपि लिखने के लिए प्रसिद्ध थे तथा दिल्ली दरबार में नौकर थे। ज़हीर भी ज़फ़र बादशाह के यहाँ नौकर हुए और रक़मुद्दौला की पदवी तथा क़लमदान पुरस्कार में पाया। चौदह वर्ष की अवस्था में 'ज़ौक़' के शिष्य हुए। सन् १८५७ ई० के ग़दर में यह दिल्ली से भागे और झज्झर, सोनीपत आदि में घूमते हुए कुछ साल रामपुर में रहे। यहाँ से दिल्ली लौट कर कुछ दिन म्युनिसिपैल्टी में नौकरी की और फिर 'जलवए नूर' के संपादक होकर बुलंदशहर गए। यहाँ से महाराज शिवदान सिंह के बुलाने पर अलवर गए, जहाँ चार वर्ष के लगभग रह कर जयपुर चले गए और 'शेफ़ा' की सहायता से पुलिस विभाग में १९ वर्ष तक नौकर रहे। सन् १८८० ई० में महाराज रामसिंह की मृत्यु हो जाने पर यह टोंक

गए, जहाँ पंद्रह वर्ष तक रहे। यहाँ से यह अंतिम समय हैदराबाद गए, जहाँ महाराज कृष्णप्रसाद ने इनकी सहायता की। निज़ाम दर्बार से वेतन नियुक्त होने के पहिले ही यह मृत्यु-मुख में चले गए।

इन्हों ने चार दीवान लिखे थे, जिनमें तीन छप चुके हैं। पहला गुलगश्तए-सखुन के नाम से छपा है और दो बंबई के करीमी प्रेस ने खरीदे हैं। जहीर प्रसिद्ध कवि हुए हैं। यद्यपि यह ज़ौक़ के शिष्य थे पर इनकी शैली मोमिन की थी। पुरानी उर्दू के यह अंतिम उस्ताद माने जाते हैं। इनके एक शिष्य नज्मुद्दीन अहमद 'साकिब' बदायूनी थे, जिन्हें यह पहलवाने सखुन कहते थे।

सुल्तानुश्शुअरा मीर शुजाउद्दीन प्रसिद्ध नाम उमराव मिर्जा 'अनवर' 'जहीर' के छोटे भाई थे। पहिले ज़ौक़ के शिष्य हुए और उनकी मृत्यु पर ग़ालिब से इसलाह लेते रहे। यह प्रतिभाशाली तथा भावुक कवि थे। इनकी कविता सुनकर अच्छे अच्छे कवि प्रशंसा करते थे। बलवे के दस वर्ष बाद जो कवि-सभा इन्हों ने दिल्ली में आरंभ की, उसमें दाग, जहीर, हाली, मजरूह सालिक, अज़ीज़, अर्शद, मुश्ताक आदि प्रसिद्ध कवि एकत्र होते थे। उनमें इनकी कविता ही कभी कभी सर्वोत्तम समझी जाती थी। बलवे के कारण अधिक कष्ट पाकर यह भी जयपुर चले गए थे, जहाँ ३८ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हो गई। इन्होंने

ज़ौक़, ग़ालिब तथा मोमिन तीनों ही की शैली ग्रहण की थी और उन्हें मिला कर एक नया रंग निकाला था। इनके दो पूरे दीवान नष्ट हो गए पर लाला श्रीराम एम० ए० ने वहुत परिश्रम करके इनकी प्राप्त कविता को दीवान में तरतीव देकर प्रकाशित कराया है। ज़ौक़ के प्रकाशित दीवान के संपादन में हाफिज वीरान्, जहीर और अनवर ने बहुत परिश्रम किया था।

नसीरुद्दीन 'नसीर' दिल्ली के निवासी शाह गरीब के लड़के थे। यह काले होने के कारण मियाँ कल्लू भी कहलाए। यह मायल के शिष्य थे। यह पहिले शाह आलम के दरबार में पहुँचे पर बाद को लखनऊ तथा हैदराबाद कई बार गए। हैदराबाद में उर्दू कविता को प्रोत्साहन दिया और वहीं सन् १८४० ई० में मरे। इनका रचनाकाल प्रायः साठ वर्ष लंबा था और इन्होंने बहुत कविता लिखी पर एक लाख शैर के लगभग अभी मिलते हैं। इनके शिष्य महाराजसिंह ने इनका एक संग्रह तैयार किया है।

नसीर

यह प्रसन्न चित्त, विनोदी तथा विनम्र थे। यह सुन्नी होते कट्टर नहीं थे। इनमें अहंकार नहीं था और इस कारण जिसमें घमंड का लेश भी देखते उससे चिढ़ जाते थे। ज़ौक से इसी कारण यह रंज हो गए थे। इन्हें कठिन बहर में कविता करना पसंद था और इससे इनकी रचवा में क्लिष्ट शव्द का प्रयोग अधिक है। इन्हें दृष्टांत देना अधिक प्रिय था। यह बहुत बड़े विद्वान्

नहीं थे पर बहुत से प्रसिद्ध कवि इनके शिष्य थे। यह दिल्ली में अपने गृह पर कवि सभाएँ करते थे, जिनमें प्रायः सभी प्रसिद्ध कवि आते थे।

उर्दू के सर्वोत्तम कक्षा के कवियों के अग्रणी महाकवि ग़ालिब का पूरा नाम नजमुद्दौला दबीरुलमुल्क मिर्ज़ा ग़ालिब असदुल्ला खाँ 'ग़ालिब' था। यह पहिले 'असद' उपनाम करते थे पर एक अन्य साधारण कवि के वही उपनाम रख लेने पर उसे छोड़ 'ग़ालिब' रखा। यह मिर्ज़ा नौशः के नाम से भी प्रसिद्ध थे। इनका वंश मध्यएशिया के उस प्राचीन तूरानी वंश से मिलता है, जिसका प्रथम प्रसिद्ध बादशाह अफरासियाब था। ईरान के कयानी वंश के बढ़ते हुए प्रताप के आगे इस वंश का राज्य नष्ट हो गया। कई शताब्दियों के अनंतर राज्यलक्ष्मी की कृपा फिर हुई और ईरान के तख़्त पर सेलजुकी वंश के नाम से यह वंश पुनः प्रतिष्ठित हुआ। कई पीढ़ियों के अनंतर सेलजुकी वंश का भी अंत हो गया। मिर्ज़ा ग़ालिब के पितामह पहले पहल भारत आए और शाहआलम बादशाह की सेना में भरती हो गए, जिनकी मृत्यु पर इनके पिता मिर्ज़ा अब्दुल्ला बेगखाँ लखनऊ में आसफुद्दौला के यहाँ चले आए पर कुछ दिन बाद निज़ामअली खाँ के दरबार में हैदराबाद गए। थोड़े ही दिनों बाद वहाँ से भी हट गए। अलवर-नरेश राजा बख़्तावरसिंह की नौकरी की और यहीं एक युद्ध में मारे गए।

ग़ालिब

उर्दू-साहित्य का इतिहास
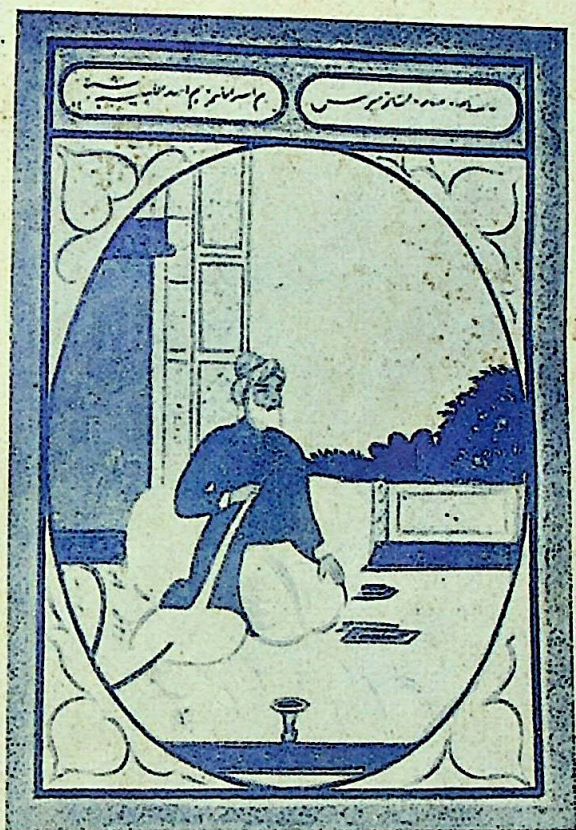
मिर्ज़ा ग़ालिब

उस समय ग़ालिब की अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी। इनके चाचा नसरुल्ला खाँ बेग मरहठों की ओर से आगरे के सूबेदार थे। सन् १८०६ ई० में अंग्रेजी राज्य होने पर आगरा कमिश्नरी हो गई, और यह चार सौ सवार के अफसर नियत हुए तथा जागीर पाई। परंतु यह भी सन् १८०६ ई० में ग़ालिब को नौ वर्ष का छोड़कर मर गए तब इनके नानिहाल वालों ने इनका पालन किया। इनके पूर्वजों की बहुत सी संपत्ति नष्ट हो गई पर भारत सर्कार की ओर से इन्हें पेंशन बराबर मिलता रहा। आगरे ही में इन्हें आरंभिक शिक्षा मिली। मियां नज़ीर अकबराबादी से कहा जाता है कि कुछ शिक्षा इन्हें मिली थी। जिस समय इनकी अवस्था चौदह वर्ष की थी, उस समय हुर्मुज नामक एक पारसी विद्वान से, जो यात्रा करता हुआ भारत आ कर मुसलमान हो गया था और अपना नाम अब्दुस्समद रखा था, भेंट हुई। इन्होंने उसे दो वर्ष तक अपने यहाँ अतिथि बनाकर रखा और अरबी तथा फारसी सीखी। यह पहिले फारसी में कविता करते थे पर समय के प्रभाव से कुछ दिनों के अनंतर उर्दू की कविता करने लगे। सन् १८२९-३० ई० में जागीर के बदले में जो पेंशन इन्हें मिलती थी, वह बंद हो गई। उसके लिये प्रयत्न करने यह कलकत्ते गए और लगभग दो वर्ष वहाँ रह कर तथा असफल प्रयत्न हो कर लौट आए। सन् १८४१ ई० में दिल्ली कॉलेज में फारसी की प्रोफेसरी की नियुक्ति के लिये इनसे प्रस्ताव किया गया। उसी भाव से यह

आगरा-सरकार के सेक्रेटरी मिस्टर जेम्स टौमसन से मिलने गए पर इनका स्वागत करने कोई नहीं आया, इससे इन्होंने अस्वीकार कर दिया। सन् १८४७ ई० के लगभग जुए के अपराध में इन्हें तीन मास की कैद की सजा मिली, जो उस समय के कोतवाल की दुष्टता थी। सन् १८४९ ई० में बहादुरशाह द्वितीय ने इन्हें नज्-मुद्दौला दबीरुल्मुल्क निज़ामजंग की पदवी दी और तैमूरी वंश का इतिहास लिखने के लिये पचास रुपये मासिक पर इन्हें नियुक्त किया। सन् १८५४ ई० में वाजिदअलीशाह ने इनकी योग्यता से प्रसन्न हो कर इन्हें पाँच सौ रुपये की वार्षिक वृत्ति दी पर दो ही वर्ष बाद वे स्वयं राज्य-च्युत हो गए। इसी वर्ष बहादुरशाह द्वितीय की कविता ठीक करने के लिए पचास रुपये मासिक पर यह नियुक्त हुए। बलवे में बहादुरशाह के संबंध के कारण इन पर शंका की गई और इनकी पेंशन बंद कर दी गई। जब इन्होंने कुल आक्षेपों का ठीक ठीक उत्तर देकर हाकिमों को संतुष्ट कर दिया तब वह पेंशन फिर मिलने लगी। इसी बीच यह रामपुर गए, जहाँ के नवाब युसुफअली खाँ सन् १८५५ ई० ही में इनके शिष्य हो चुके थे। सन् १८५९ ई० में इन्होंने ग़ालिब को सौ रुपये की मासिक वृत्ति दे कर अपने यहाँ बुला लिया। यह कुछ दिन प्रतिष्ठा के साथ वहाँ रह कर दिल्ली लौट आए और पेंशन के मिल जाने के कारण यहीं जीवन के अंतिम दिन व्यतीत किए। यहीं सन् १८६९ ई० में लगभग इकहत्तर वर्ष (सौर) की

अवस्था में परलोक सिधारे। ग़ालिब के पत्र-संग्रह को देखने से यह ज्ञात होता है कि पत्रोत्तर देने में यह आलस्य नहीं करते थे। मित्रों के प्रति उनमें कितना प्रेम तथा उदारता थी, यह भी उसी संग्रह से मालूम होता है। यह मिलनसार और उदार हृदय थे, जिससे इनके मित्र तथा प्रशंसक बहुत थे। इनमें न किसी धर्म के लिये अंध-विश्वास या कट्टरपन था और न किसी के लिये घृणा। इसी से हिंदू, मुसलमान सभी इनके मित्र थे। मुंशी हरगोपाल तुफ़्तः इनके अंतरंग मित्रों में से थे और फ़ारसी के अच्छे कवि थे। स्वयं धनाढ्य न होने पर भी मित्रों की सहायता करते थे। इनमें आत्मसम्मान की मात्रा अधिक थी और विचार-स्वातंत्र्य भी था। साथ ही नम्रता, शील तथा स्नेह भी कम न था। अपना सम्मान चाहते हुए दूसरों का भी सम्मान करना जानते थे। इनका पारिवारिक जीवन संतोषजनक नहीं था। इन्हें कोई संतान नहीं थी और स्त्री से भी प्रेम नहीं था। अंतिम काल में धन की कमी, आरिफ़ नामक एक मित्र की मृत्यु और स्वास्थ्य-हानि से इन्हें बहुत कष्ट मिला, जिसका कुछ प्रभाव इनकी कविता पर पड़ा है। संसार के सुख दुःख दोनों ही का इन्हें अनुभव हुआ था। ग़ालिब विनोद-प्रिय और प्रसन्न-चित्त मनुष्य थे, इससे इन दुःखानुभव में आशा का संचार मिलता है। इनके विनोदपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर की कहानियाँ प्रचलित हैं।

अल्पावस्था ही में पिता की मृत्यु हो जाने से इन्होंने साधारण

शिक्षा पाई थी। फारसी पर इनका इतना ममत्व था कि इन्होंने उसी में कविता की और उसी को अपनी प्रसिद्धि का आधार मानते थे। उर्दू कविता तो समय के प्रवाह में पड़कर मित्रों के अनुरोध से लिखी गई थी। पर आज ग़ालिब की प्रसिद्धि उसी की आश्रित है। पठन-पाठन पर विशेष रुचि थी, जिससे इनकी प्रतिभा और विद्वत्ता विकसित होती चली गई। अरबी साहित्य का भी मनन किया था और ज्योतिष भी जानते थे। फारसी तथा उर्दू के रीति ग्रंथों का खूब मनन किया था और उनके पूर्ण ज्ञाता थे। यह प्रतिभाशाली, विद्वान तथा अभ्यास प्रिय कवि थे और यही इनकी अमर प्रसिद्धि का कारण है। इनकी रचनाओं में 'ऊदए हिंदी' और 'ऊदए मुअल्ला' इनके पत्र संग्रह हैं, जो इनके गद्य के अच्छे नमूने हैं। प्रथम में कुछ निबंध भी हैं। सैफुल् हक़ उपनाम से लिखा गया लतायफे गैबी संग्रह मात्र है। बुर्हाने क़ातः नामक प्रसिद्ध कोष की कुछ अशुद्धियों को इन्होंने 'क़ातए बुर्हान' नामक पुस्तक में दिखलाया है, जिसका दूसरी बार 'दुरफ़्शे कावेयानी' नाम रखा। इसपर आक्षेप हुए, जिसका इन्होंने 'तेग़े तेज़' और 'नामए गालिब' में समाधान किया है। पंच आहंग फारसी का गद्य-ग्रंथ है। फारसी के कुलियात में बादशाह, अवध के नवाब, गवर्नर आदि पर लिखे गए क़सीदे, गज़ल आदि हैं। बहादुरशाह द्वितीय की आज्ञा से फारसी में 'मेह नीम रोज़' नामक एक इतिहास लिखा, जिसमें अमीर तैमूर से हुमायूँ तक का वृत्तांत है। दूसरे भाग

'माह नीम माह' में अकबर से लेकर बहादुरशाह तक का इतिहास लिखने का विचार था पर बलवे ने ऐसा न होने दिया। दस्तंव में फारसी गद्य में ११ मई सन् १८५७ ई० से १ जुलाई १८५८ ई० तक के बलवे का आँखों देखा वर्णन है। कुलियात में न संग्रहीत हुए कुछ क़सीदे, क़िते, पत्र आदि सबदचीं में संकलित हुए हैं। उर्दू का इनका जो दीवान अब प्राप्त है, वह संक्षिप्त है, जिसे इनके दो मित्रों ने किया था। संक्षिप्त करने में केवल क्लिष्ट शैर निकाले गए हैं।

अपने पद्य तथा गद्य कृतियों के कारण फारसी के साहित्येतिहास में इनका स्थान बहुत ऊँचा है और खुसरो, फ़ैजी आदि प्रसिद्ध भारतीय कवियों के ये समकक्ष माने जाते हैं। उर्दू साहित्य के इतिहास में इनका स्थान इससे भी ऊँचा है और इने गिने ही कवि इनकी बराबरी कर सकते हैं। उर्दू के यह तुलसीदास या सूरदास हैं। इनका जो दीवान प्राप्त है, उसमें अठारह सौ शैर हैं, जो बड़े दीवान का संक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है। यह सन् १८४९ ई० में प्रकाशित हुआ था। गालिब ने आरंभ में प्रायः प्रौढ़ावस्था तक प्रकृत्या फारसी की विद्वता दिखलाने के लिये फारसी शब्दावली, मुहाविरे आदि का इतना अधिक प्रयोग किया था कि दो चार शब्दों के हेर फेर से उर्दू फारसी हो जाती थी पर उक्त अवस्था में पहुँचने पर इन्होंने अपनी यह दुर्बलता

इतिहास में स्थान और रचना शैली

समझ ली और अपने मित्रों की राय तथा उनके आलोचनात्मक विचारों से प्रभावान्वित होकर यह फ़ारसी की परतंत्रता से मुक्त हुए। यद्यपि फारसी की प्रचलित शब्द योजना, मुहाविरे, कथानक आदि का इसके बाद भी प्रयोग किया है पर वह विशेष नहीं खटकता था। भाषा पर इनका अधिकार बहुत बढ़ गया था और यह थोड़े शब्दों में इतना भाव भर देते थे, पद्य में ऐसा सरल प्रवाह रहता था और मौलिकता तथा सौकुमार्यादि गुण से उसे ऐसा लबालब कर देते थे कि पाठक पढ़कर आनंद विभोर हो उठते थे। इनकी कविता में केवल पिष्टपेषण नहीं था प्रत्युत भाव-व्यंजना, अलंकार-विधान, क़ल्पना तथा वाक्य-योजना सभी में इनकी प्रतिभा तथा मौलिकता की छाप स्पष्ट है। यह कविता करने नहीं बैठते थे पर जब भाव उमड़ आते थे तभी उन्हें कविता में ढाल देते थे, जिससे कोरी तुकबंदी से यह बच गए। इन्होंने जीवन में जो कुछ दुख सुख उठाए थे उन सब अनुभूतियों को कविता में स्थान दिया है जिससे कहीं आशा की झलक है, तो कहीं निराशा का अंधकार है, कहीं आनंद की झनकार है तो कहीं शोक का उद्गार है। तात्पर्य यह कि कविता में इन्होंने अपना हृदय खोल कर रख दिया है और इसी से वह इतनी आकर्षक होगई है। धर्म के विषय में इनके विचार बहुत कुछ स्वतंत्र थे और वह छोटे छोटे दायरों में स्थित धर्मों से बहुत कुछ ऊँचे उठ गए थे। भावावेश में इन्होंने स्वर्ग-नर्क, पुण्य-पाप,

जीवन-मृत्यु आदि के रहस्य पर छोटे छोटे शैरों में ऐसे मार्के की बात कह दी है कि वे प्रत्येक विचारवान के लिये विचारणीय है। गालिब का हृदय अत्यंत कोमल था, जिस पर ज़रा ज़रा सी बातों का असर पड़ता था और उन सब की उनकी कविता पर छाया वर्तमान है। इनकी विनम्रता और विनोदप्रियता भी इन्हीं सी है। कहीं कहीं ऐसा लिखा है कि पढ़कर हृदय करुणा से भर जाता है और साथ ही बरबस हँसी भी आ जाती है। बातें इतनी गूढ़ कहते थे कि सोच विचार कर भी अर्थ लगाना कठिन हो जाता था अर्थात् कुल मतलब कह देते थे और पाठकों को समझने के लिये भी बहुत कुछ छोड़ देते थे।

गालिब के बहुत से शिष्य थे परंतु उनमें से हाली, रख़्शाँ, ज़की, मजरूह, मुंशी हरगोपाल तुफ्ता, मुंशी बिहारीलाल मुश्ताक़ आदि प्रमुख हैं। हाली का विवरण आगे दिया जायगा और अन्य शिष्यों में से दो तीन का यहाँ कुछ हाल दे दिया जाता है।

रख़्शाँ

नवाब जियाउद्दीन खाँ उर्दू में 'रख़्शाँ' और फ़ारसी में 'नैयर' उपनाम करते थे। यह गालिब के प्रिय शिष्य तथा संबंधी थे। इनकी विद्वत्ता खूब बढ़ी चढ़ी थी और अपनी आलोचना-शक्ति के कारण यह विद्वत्समाज में मान्य थे। इन्हें इतिहास से भी शौक था। इनके पुत्रों ने साक़िब और तालिब उपनाम कर कविता की है। इनके वंश में बाद को भी कवि हुए हैं।

नवाब मुहम्मद जिकरिया खाँ रिज्वी 'जकी' का जन्म दिल्ली में सन् १८३९ ई० में हुआ था। उर्दू, फारसी तथा अरबी की यहीं शिक्षा पाई और ज्योतिष, तिब, सूफी धर्मतत्व आदि में भी इनका गम था। यह सुलिपि लिख लेते थे तथा गायन-वादन का भी शौक था। कविता खूब लिखी है और कवि समाज में भी बहुत जाते थे। बड़े बलवे में यह भी दिल्ली से निकले और डिप्टी इंसपेक्टर औफ स्कूल्स् होकर कई स्थानों में घूमते अंत में बदायूँ जा बसे, जहाँ सन् १९०३ ई० में मर गए।

जकी

मीर महदी मजरूह गालिब के अत्यंत प्रिय शिष्य तथा दिल्ली निवासी थे। बड़े बलवे में यह भी दिल्ली छोड़कर पानीपत में जा बसे पर शांति स्थापित होने पर लौट आए। कुछ दिन बाद जीविका की खोज में यह पहिले अलवर के राजा शिवदान सिंह के यहाँ कुछ दिन रहे और बाद को रामपुर गए जहाँ अंत तक रहे। इन्हें छोटी बहरें पसंद थीं और उन्हीं में अच्छा लिखा है।

मजरूह

इस काल में मौलवी मुफ्ती सदरुद्दीन खाँ 'आजुर्दा' एक विशिष्ट पुरुष होगए हैं, जो अरबी, फारसी तथा उर्दू की अपनी विद्वत्ता के कारण बहुत प्रसिद्ध तथा सम्मान्य व्यक्ति होगए हैं। गवर्नमेंट ने इन्हें सदरुस्सदूर नियत किया था, जो पद प्रायः जिला-जज के बराबर था। गालिब, जौक, मोमिन आदि इनके मित्रवर्ग

में थे और सर सैयदअहमद इनके शिष्य थे। यह रामपुर तथा भोपाल के नवाबों के शिक्षक नियत हुए थे। यह अपनी उर्दू कविता शाहनसीर को दिखलाते थे। इन्होंने एक दीवान तथा एक संग्रह (तजकिरा) लिखा है। यह ८१ वर्ष की अवस्था में सन् १८६८ ई० में दिल्ली में मरे।

आठवाँ परिच्छेद

लखनऊ साहित्य केंद्र—नासिख और आतिश—अवध के कवि नवाब गण

औरंगजेब की मृत्यु के अनंतर अठारहवीं शताब्दि के आरंभ के साथ-साथ मुग़ल साम्राज्य की अवनति तथा उत्तरापथ में उर्दू साहित्य की उन्नति आरंभ होती है। जिस

लखनऊ साहित्य-केन्द्र

कल्पतरु के आश्रय में वह फलने-फूलने आई थी जब वही शीघ्र उन्मत्त द्विरदों के धक्के से नष्ट हो गया, तब उसे अन्य आश्रय खोजना पड़ा। नादिरशाह, अहमद-शाह, मराठों और जाटों के लूट-मार से दिल्ली नाम मात्र की राज-धानी रह गई और उसका ऐश्वर्य और वैभव लुप्त हो गया। कवि-तृष्णा थोथे आवभगत तथा पदवियों से क्यों तृप्त होने लगी। साम्राज्य के प्रांतीय अध्यक्षगण धीरे धीरे स्वतंत्र होकर राज्य स्थापित कर रहे थे और उनके राजकोष परिपूर्ण थे, इससे जब दिल्ली के सुप्रसिद्ध कविगण चंचला की खोज में स्वयं चंचल हो उठे तब पास ही के ऐश्वर्यशाली विख्यात् दानी आसफ़ुद्दौला के यश को सुनकर क्रमशः वे उसके आश्रित होने को लखनऊ पहुँचने लगे। मीर, सौदा, मुसहफ़ी, इंशा आदि सभी इस नए

छत्रच्छाया में पहुँच गए और उस क्षेत्र में ऐसा बीजारोपण किया कि वह आगे चलकर एक नया साहित्य केंद्र बन गया। अवध के नवाबगण दिल्ली-सम्राटों से कवि बनने तथा कवियों के आश्रय देने में पीछे पड़ना नहीं चाहते थे इसलिए वे इन आगंतुकों को बराबर सम्मानित और धन तथा पदवियों से पुरस्कृत करते रहे। साधारण कविगण भी इस उदारता से वंचित न रहे। पर यह संपर्क दोनों ही के लिए विशेष लाभदायक नहीं हुआ। मीर और सौदा से आत्मसम्मान पूर्ण कवियों को छोड़ अन्य सभी अपने स्वामियों को प्रसन्न करने में इस प्रकार दत्त-चित्त हो गए कि वे कविता-कामिनी की शालीनता का कुछ भी विचार न कर भँड़ैती तक करने पर उतारू हो गए। इन कवियों के संबंध से विषय-वासनादि में आसक्त नवाबगण और भी शीघ्र तल लोक में पहुँच गए। परंतु उर्दू कविता यहाँ का प्रोत्साहन पाकर खूब परिपुष्ट हो गई। अवध के नवाबों के सिवा यहाँ के अन्य लक्ष्मीपात्र सज्जन भी कविसभाएँ करते तथा प्रतिभावान कवियों को पुरस्कृत करते थे। क्रमशः दिल्ली से आए हुए प्रसिद्ध कवियों के कम होने तथा लखनऊ के निवासी कवियों के बढ़ने से यहाँ एक नया साहित्य केन्द्र स्थापित हो गया, जिसमें दिल्ली से विशेष पार्थक्य न होते हुए भी कुछ विभिन्नता हो गई थी। नासिख तथा उनके शिष्यवर्ग इस केंद्र की विशेषता के उन्नायक तथा पोषक हुए।

जिस प्रकार संस्कृत में वैदर्भी और गौड़ी शैलियों में विभिन्नता

है उसी प्रकार या उससे भी कम विभिन्नता इन दोनों साहित्य-केंद्रों की शैलियों में है। कविता हार्दिक उद्गार है, इसलिये जब वह शब्दाडंबर तथा आलंकारिक भाषा के दुरूह मार्ग से निकलती है तब उसमें भाव-व्यंजना तथा सरसता की अत्यल्पता हो जाती है। नासिख़ तथा उनके शिष्यवर्ग ने यही शैली पकड़ी थी और साथ ही वे अनुप्रास पर विशेष दृष्टि रखते हुए समता और सरसता का विचार कम करते थे। भाषा सुकवियों की अनुवर्तिनी होती है पर ये सुकविगण स्वयं ही उसके अनुवर्ती हो रहे थे। भाव पर कम और भाषा पर विशेष अनुराग था, इससे गंभीरता तथा रोचकता कम, पर प्रौढ़ता अधिक थी। फलतः श्लिष्टता, सौकुमार्य, प्रसाद और सरसता सभी भाषा के प्राधान्य के आगे दब गए। कल्पना तथा प्रतिभा के स्थान पर भाषा की दुरूह रचना का कठिन श्रम दर्शनीय है। नैसर्गिकता का अभाव-सा है। फारसी कवि सायब, बेदिल आदि की दुरूहता का अनुकरण किया गया था। पर यह मार्ग स्थायी नहीं था और शीघ्र ही अनीस तथा दबीर आदि ने इसे त्याग दिया। दिल्लीवाले छोटे ग़ज़ल लिखते थे पर यहाँ वाले बड़े लंबे लंबे गज़ल उस तरह में लिखते थे, जिसमें नैसर्गिक प्रवाह नहीं रहता था। जुबाँदानी में रश्क अग्रणी थे तथा बहू, सहू, अख्तर आदि भी शब्दों तथा मुहाविरों के ठीक प्रयोग करने में सिद्धहस्त थे। इन लोगों ने जो नियम बनाए हैं,

लखनऊ साहित्य केंद्र की विशेषता

उनमें कितनों को दिल्लीवालों ने भी मान लिया है। कुछ शब्दों को (जैसे ईजाद, तर्ज आदि) एक स्त्रीलिंग मानते हैं, तो दूसरे पुलिंग, ये विशेषताएँ कभी कभी अब तक तर्क-वितर्क का कारण हो जाती हैं।

शेख इमामबख़्श 'नासिख़' के पिता का नाम ज्ञात नहीं है। खुदाबख़्श नामक एक व्यापारी ने इन्हें गोद लेकर बहुत अच्छी तरह शिक्षा दी, जिससे यह एक सुप्रसिद्ध कवि हो सके। खुदाबख़्श की मृत्यु पर उसके भाइयों ने इन्हें दास कहकर उसका सब धन लेना चाहा पर आपस में कुछ समझौता हो गया। इन्हें विष देने का भी प्रयत्न हुआ और यह मामला कचहरी में गया, जहाँ इन्हीं की जीत हुई। हाफ़िज वारिसअली लखनवी से फ़ारसी पढ़ी तथा फिरंगी महल के विद्वानों से भी कुछ शिक्षा प्राप्त की। अरबी भाषा का भी इन्हें ज्ञान अच्छा था। इनके कविता-गुरु का कुछ ठीक पता नहीं। मीर तक़ी 'मीर' ने इन्हें शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया, तब यह स्वयं अपनी कविता ठीक करने लगे। मुसहिफ़ी के एक शिष्य मुहम्मद ईसा 'तनहा' को कभी कभी अपनी कविता दिखलाते थे पर विशेष कर इन्हें अपने आयास का भरोसा रहता था। सभी कवि-सभाओं में जाते और पुराने प्रसिद्ध कवियों की कविता ध्यान-पूर्वक सुनते। इंशा, जुरअत, मुसहिफ़ी आदि की मृत्यु हो जाने पर इन्होंने कवि-सभाओं में ग़ज़लें पढ़ना आरंभ किया और तब

नासिख

इनकी बड़ी प्रशंसा और सम्मान हुआ। शरीर के लंबे-चौड़े थे और व्यायाम भी इन्हें प्रिय था, इससे यह बलवान थे। प्रति दिन्न एक बार खाते थे ओर खाते भी थे कुल एक पसेरी। ईश्वर की कृपा से वर्ण भी आप का आबनूस के जोड़ का था, जिससे बहुधा इनके प्रतिद्वन्द्वी इन्हें 'दुमकटे भैंसे' की उपमा देते थे। दिन का अधिक समय खाने, स्नान करने, व्यायाम करने और लोगों से मिलने में बीतता था, इससे रात्रि के समय कविता करते थे। स्वभाव के निडर पर चिड़चिड़े थे। धन की कमी न थी, इससे किसी की नौकरी नहीं की। इतने पर भी कुछ ऐसी आकर्षणशक्ति थी कि लखनऊ के कितने अमीर और सर्दार इनके शिष्य तथा मित्र थे। सन् १८३१ ई० में आग़ा मीर ने सवा लाख रुपये इन्हें पुरस्कार दिया। नासिख़ को कई वार लखनऊ छोड़ना पड़ा। नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने इन्हें मलिकुश्शोअरा की पदवी दे कर अपने दर्बार में रखना चाहा पर इन्होंने स्वीकार नहीं किया और उस पर यह भी कहा कि नवाब की दी हुई पदवी का मूल्य ही कितना, यदि सुलेमानशिकोह दिल्ली के बादशाह हो जायँ तब वे दें या कंपनी-बहादुर दे। फल यह हुआ कि इन्हें लखनऊ छोड़कर प्रयाग जाकर रहना पड़ा। नवाब ग़ाज़ीउद्दीन की मृत्यु पर लौटे। इसी बीच महाराजा चंदूलाल 'शाँदा' ने दो बार इन्हें हैदराबाद आने के लिए बड़े आग्रह से लिखा और लगभग बारह सहस्र रुपये भी भेजे पर इन्होंने वहाँ जाना स्वीकार नहीं किया। इनके लखनऊ

लौटने पर जब मुंतजिमुद्दौला नवाब हकीम मेहदीअली खाँ, जो उस समय दीवान थे, अपने पद से हटाये गए तब इन्होंने हजो में तारीख कही; क्योंकि वह इनके मित्र आग़ा मीर के प्रतिद्वंद्वी थे। पर कुछ ही दिनों के अनंतर वे फिर उसी पद पर नियुक्त हुए, तब यह प्रयाग चले आए। हकीम मेहदी के दूसरी बार दीवानी से हटाए जाने पर यह लखनऊ लौटे और यहीं सन् १८३८ ई० में इनकी मृत्यु हुई।

इन्होंने तीन दीवान लिखे। सन् १८१६ ई० में जब यह प्रयाग में थे, उस समय पहला दीवान 'दीवाने परेशाँ' के नाम से संकलित हुआ। इसमें ग़ज़ल, क़िते और तारीखें हैं। सन् १८३१ ई० और सन् १८३८ ई० में क्रमशः अन्य दो दीवान संगृहीत हुए। इनकी तारीखें इतिहास के लिये बड़े महत्व की हैं, क्योंकि अपने समय के उर्दू कवियों तथा प्रसिद्ध पुरुषों की मृत्यु पर लिखी गई हैं। ये कसीदे और हजो नहीं लिखते थे। सन् १८३८ ई० में हदीसे मुफ़ज्जल का अनुवाद एक मसनवी में करके उसका नाम 'नज़्मे-सिराज' रखा। यह नासिख की योग्यता के योग्य नहीं है, पर यह ध्यान रखना चाहिए कि यह अनुवाद मात्र है। दूसरी मसनवी 'मौलूद शरीफ़' है, जिसमें मुहम्मद के जन्म का वर्णन है।

रचनाएँ

इनकी भाषा बड़ी ही मँजी और सुधरी हुई थी। ग्रामीण शब्द तथा पुराने-धुराने मुहाविरे इन्होंने प्रयुक्त नहीं किए पर इसके साथ

भाषा, रचना शैली और इतिहास में स्थान

इन्होंने अरबी और फ़ारसी के बड़े बड़े शब्द, जो अप्रचलित थे, कविता में ला घुसेड़ा, जिससे कविता का सरल प्रवाह खरतर हो गया। ऐसे शब्द इन्हीं के साथ चले गए। जब सुगम भाषा लिखने बैठते तो भाव-गांभीर्य में कमी और शब्द-योजना में शैथिल्य आ जाता था। भाषा प्रौढ़ थी और कविता भी निर्दोष रहती थी। यद्यपि दिल्ली से आनेवाले कवियों ही ने लखनऊ साहित्य केंद्र स्थापित किया था, पर उसमें निज की विशेषता लाना इन्हीं का कार्य था। इन्होंने बहुत-से योग्य तथा प्रतिभा-सम्पन्न शिष्य बना-कर अपनी संप्रदाय स्थापित की। लखनऊ के केंद्र में इनका प्रभाव बहुत है तथा इनकी कविता सनद मानी जाती है। उर्दू के इतिहास में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इन्होंने विशेषतः गज़लें ही लिखी हैं, कुछ तारीख़ें भी हैं, पर कसीदे नहीं लिखा। यद्यपि इनकी ओजस्विनी भाषा कसीदे के लिए उपयुक्त थी पर स्वातन्त्र्य-प्रिय स्वभाव ने वैसा नहीं करने दिया। न इन्हें चापलूसी पसंद थी और न किसी के वह नौकर थे। किसी की हँसी उड़ाना या विनोद करना इनकी प्रकृति के विरुद्ध था। इनकी प्रसिद्धि मुख्यतः इनके गज़लों पर स्थित है, पर उनमें स्वाभाविकता की कमी है। भावोत्कर्ष के लिए इन्होंने अलंकार नहीं प्रयुक्त किए हैं, प्रत्युत् उन्हीं के लिए कविता रची है। इससे काव्य-सौष्ठव आडंबर में ढँक-सा गया है। काव्य की आत्म-व्यंजना की कमी भी खटकती है, भाव

उत्कृष्ट नहीं हैं, हास्यादि रस नहीं-सा है और इसीसे इनकी कविता हृदयग्राहिणी नहीं है। फ़ारसी कवियों के भाव तथा शब्द ज्यों के त्यों उठा लेना इनका साधारण काम था। ऐसा उर्दू के अनेक अन्य प्रसिद्ध कवियों ने भी किया है।

नासिख़ शब्द का अर्थ नष्ट करनेवाला है। वास्तव में इन्होंने दिल्ली सहित्य केंद्र के प्रभुत्व का अंतकर लखनऊ का नया साहित्य केंद्र स्थापित किया था। लखनऊ में कवियों

रचना-शैली

का जमघट होते दो तीन पीढ़ियाँ व्यतीत हो चुकी थीं और वहाँ एक ऐसे नए साहित्य-केंद्र का स्थापित होना आवश्यक हो गया था, जिसमें निज की विशेषताएँ हों। नासिख़ इस ओर अग्रसर हुए और इस कार्य में मिर्ज़ा क़मरुद्दीन अहमद प्रसिद्ध नाम मिर्ज़ा हाजी से विशेष सहायता मिली, जो ऐश्वर्यवान् तथा प्रभावशाली दोनों ही थे। लखनऊ के कई कवि इनके आश्रित थे, जिनमें मिर्ज़ा क़तील और उसी के शिष्य क़ाज़ी मुहम्मद सादिक खाँ 'अख़्तर' प्रधान थे। इनके दरबार में साहित्यिक तथा भाषा-विषयक तर्क-वितर्क होते रहते थे, जिससे नासिख़ को वहुत मदद मिली। इनके शिष्य मीर अली औसत 'रश्क' ने इस कार्य में विशेष भाग लिया था। इन विशेषताओं में कुछ ऐसी भी हैं, जिन्हें दिल्लीवालों ने भी स्वीकार कर लिया है। रेख़्ता या दखिनी शब्दों के बदले में उर्दू का और रेख़्ते के बदले ग़ज़ल शब्द का प्रयोग होने लगा। पहिले वाले शब्द

एकदम बहिष्कृत कर दिए गए। अपने स्वभाव के अनुसार नित्य-प्रयुक्त सरल हिंदी शब्दों को निकालकर अरबी और फ़ारसी के अप्रयुक्त, क्लिष्ट तथा बड़े बड़े शब्द काम में लाने लगे। तर्ज़, ईजाद, कलाम आदि शब्दों में लिंग-भेद होगया था। एक केंद्र उन्हें पुलिंग कहता था तो दूसरा उन्हें स्त्रीलिंग मानता था। पहिले यहाँ, वहाँ का याँ और वाँ सा उच्चारण कर जाँ के साथ बाँध देते थे पर अब उनका जहाँ से मेल मिलाया जाने लगा। का, को, ने, से आदि विभक्तियों तथा है, नहीं आदि को भी काफ़िया के अंत में लाने लगे। अश्लील तथा ग्रामीण शब्दों का बहिष्कार पहिले ही से हो रहा था, पर अब विशेष रूप से किया गया। क्रियाओं में भी नियम बनाए गए, जैसे आए हैं गए हैं के स्थान पर आता है, जाता है प्रयोग किया जाने लगा। ये सब अदल-बदल इनके तथा इनके शिष्यों द्वारा नियमपूर्वक माने जाते थे।

यद्यपि नासिख के बहुत से शिष्य हुए पर उनमें बर्क़, वह, रश्क, मुनीर, आबाद तथा मेह्र प्रधान हैं। वज़ीर कुछ दिन इनके और कुछ दिन पहिले आतिश के शिष्य रहे थे।

बर्क़ — बर्क़ का पूरा नाम फ़तहुद्दौला बख़्शीउल्मुल्क मिर्ज़ा मुहम्मदरज़ा ख़ाँ था और यह मिर्ज़ा काज़िम अली ख़ाँ 'ख़ालिक़' के पुत्र थे। वाजिद अलीशाह 'अख़्तर' के यह प्रिय दरबारी तथा उनकी कविता के संशोधक थे। गद्दी से उतर जाने पर यह भी नवाब के साथ कलकत्ते गए और सन्

१८५७ ई० के विद्रोह के समय जब नवाब साहब फोर्ट विलियम दुर्ग में सुरक्षित रखने के लिये लाए गए, तब यह भी साथ थे। वहीं उसी वर्ष इनकी मृत्यु हुई। युवावस्था में यह बड़े तिर्छे-बांके थे और वज़ीर मेहदीअली खाँ के प्रधानत्व में अच्छे पद पर रहे। तलवार-पटा आदि में भी कुशल थे और अपने दान तथा दया के लिए प्रसिद्ध थे। अपने गुरु की बड़ी प्रतिष्ठा करते थे तथा कविता में अनुकरण भी करते थे। ग़ज़ल, मुख़म्मस आदि सभी लिखा है। एक बड़ा दीवान तथा लखनऊ पर 'शहर-आशोब' नामक एक मसनवी लिखी है, जो करुणापूर्ण है। उपमादि साम्य अलंकारों का आधिक्य है। अस्वाभाविकता का समय ही था। भाषा पर पूर्ण अधिकार था तथा काव्य के अंग-प्रत्यंग के अच्छे ज्ञाता थे।

शेख इमदाद अली 'बह्र' के पिता शेख इमामबख्श इनके गुरु शेख इमामबख्श 'नासिख' से भिन्न पुरुष थे। इनकी अधिक अवस्था लखनऊ में ही बीती और यह धनाभाव से

बह्र

सदा दुखित रहते थे। वृद्धावस्था में रामपुर के नवाब कलबअली खाँ (सन् १८६५–१८८०) ने इन पर कृपा करके इन्हें अपने यहाँ बुला लिया और आजीविका नियत कर दी। यहीं पचहत्तर वर्ष की अवस्था पाकर सन् १८८३ ई० में इनकी मृत्यु हुई। इनके मित्र नवाब सैयद मुहम्मद खाँ 'रिंद' ने, जो आतिश के शिष्य थे, इनके दीवान को संकलित कर सन् १८७८ ई० (१२८५ हि०) में प्रकाशित किया, जिसकी

तारीख़ स्वयं इन्होंने तथा मह्, तस्लीम आदि कवियों ने लिखा है। इनकी कविता में भी अलंकारों की भरमार है पर स्वाभाविकता का कहीं ह्रास नहीं होने पाया है। इनकी कविता हृदय-ग्राहिणी है तथा करुणोत्पादक है। इनकी शब्द-योजना बड़ी चुस्त होती थी, भाव गंभीर तथा अच्छे हैं और प्रसादगुण भी पूरी तरह है। काव्य-कौशल के यह अच्छे ज्ञाता थे। भाषा ज्ञान में नासिख और रश्क़ के बाद इन्हीं का स्थान है।

मीर अली औसत 'रश्क' मीर सुलेमान के लड़के थे और फ़ैज़ाबाद से लखनऊ आकर बस गए थे। भाषा के विचार से

रश्क़

नासिख़ के शिष्यों में यह सब से अधिक प्रसिद्ध थे। इनका नफ़सुल्लुग़ात् सन् १८४० ई० में समाप्त हुआ, जो बहुत बड़ा और मान्य कोष है। इसके नाम से ग्रंथ की समाप्ति की तारीख सन् १२५६ हि० निकलती है। इनके दो दीवान हैं। पहिला नज़्मे मुबारक सन् १८३७ ई० में और दूसरा नज़्मे गिरामी सन् १८४५ ई० में समाप्त हुआ था। यह नासिख़ के मार्ग का अनुसरण करनेवाले थे और शब्दों के ठीक प्रयोग करने में इनकी सम्मति नासिख के समय ही में मान्य समझी जाती थी। ये तारीखें ख़ूब लिखते थे और इनके शिष्य भी बहुत थे। इनकी कविता शृंगारात्मक तो थी ही, उसमें भी संयोग तथा स्त्रियों के शृंगार का वर्णन अधिक किया है। वृद्धावस्था में यह कर्बला चले गए, जहाँ सत्तर वर्ष की अवस्था में सन् १८६८

ई० में इनकी मृत्यु हुई। इनकी कविता भाषा के विचार से सनद मानी जाती है।

सैयद इस्माइल हुसेन 'मुनीर' के पिता सैयद अहमद हुसेन 'शुक्र' भी कवि थे और इनके पूर्वज मैनपुरी के अंतर्गत शिकोहाबाद के रहनेवाले थे। यह लखनऊ आए और यहीं शिक्षा प्राप्त की। इसके अनंतर कानपुर में नवाब निज़ामुद्दौला की सेवा में चले गए। यह पत्र-व्यवहार कर नासिख़ से कविता ठीक कराते थे और जब नासिख़ कानपुर गए, तब यह उनके शिष्य हुए। उन्हीं की सम्मति से बाद को यह रश्क के शिष्य हुए। अपने दोनों गुरु की यह बड़ी प्रतिष्ठा करते थे। लखनऊ पर इनका बड़ा प्रेम था, इससे अवसर मिलते ही वहाँ आ रहते। पहिली बार जब यह कानपुर से लखनऊ आए तब नवाब अलीअसगर के यहाँ और दूसरी बार नवाब सैयद मुहम्मद ज़की खाँ 'ज़की' के यहाँ संशोधन-कार्य पर रहे। इस बार दो वर्ष लखनऊ में रहकर फ़र्रुख़ाबाद के नवाब तजम्मुल हुसेन खाँ के यहाँ गए, जहाँ उनकी मृत्यु तक रहे। इसके अनंतर बाँदा के नवाब अली बहादुर के यहाँ रहे। यहाँ यह नवाबजान नामक वेश्या के खून के फेर में फँस गए, जिसमें इन्हें कालेपानी का दंड हुआ, पर सन् १८६० ई० में इनकी रिहाई हो गई। इसके बाद नवाब रामपुर के दरबार में गए, जहाँ सन् १८८१ ई० में इनकी मृत्यु हुई। मुंतख़बाते आलम, तनवीरुल्अशार और

(मुनीर)

नज़्मे मुनीर तीन दीवान लिखे, जिनमें प्रथम की भूमिका में अपना कुछ वृत्तांत भी दिया है। 'मेराजुल् मज़ामीन' एक मसनवी है, जिसमें इमामों का वर्णन है। एक रिसाला सिराजेमुनीर भी है। इन्होंने मर्सिये, क़सीदे, क़िते, ग़ज़ल आदि सभी लिखे हैं। इनकी कविता में कल्पना तथा भावोत्कर्ष विशेष है। सादगी, सुगमता रहते हुए भी यह अपने गुरु की शैली के अनुकरण-शील थे।

मिर्ज़ा मेहदी हसन खाँ 'आबाद' मिर्ज़ा ग़ुलाम जाफ़र खाँ के पुत्र थे और सन् १८१३ ई० में लखनऊ में इनका जन्म हुआ था।

आबाद

लखनऊ के रईसों में इनकी गिनती थी और फ़र्रुख़ाबाद के नवाब के संबंधी थे। इन्होंने सुखपूर्वक जीवन विताया। प्रत्येक कविसभा में जाते और कविता सुनाते। कविता भी बहुत की है। इनके दो दीवान, एक मसनवी और तीन वासोख़्त मिलते हैं। एक दीवान निगारिस्ताने इश्क़ सन् १८४६ ई० में लखनऊ के मुर्तजवी प्रेस से प्रकाशित हुआ था। इनका बहारिस्ताने सख़ुन नामक संग्रह विशेष प्रसिद्ध है, जिसमें नासिख, आतिश और अपने ग़ज़ल उसी बहर और क़ाफ़िया के एक साथ संग्रहीत किए हैं। इससे इन कवियों के तुलनात्मक पठन-पाठन में बड़ी सहायता मिलती है। यह भी अपने समय के प्रवाह से नहीं बचे हैं। नासिख के अच्छे शिष्यों में थे और कविता में प्रतिभा भी दिखलाई देती है। वासोख़्त अच्छे लिखे हैं पर मुहाविरों की कमी है।

मिर्ज़ा हातिम अली बेग 'मेह्र' (सूर्य) का दादा मिर्ज़ा मुराद अली खाँ क़िज़िलबाश लखनऊ में आकर बस गया। उसे नवाब शुजाउद्दौला ने रुक्नुद्दौला बहादुर की पदवी दी थी और वह अच्छे पद पर नियुक्त था। मेह्रके पिता फ़ैज़-अली बेग अलीगढ़ में कंपनी की ओर से तहसील-दार थे। मेह्र का जन्म सन् १८१५ ई० में हुआ और इसके पिता इसे चार वर्ष का छोड़कर मर गए। चौदह वर्ष की अवस्था ही से यह कविता करने लगे। यह नासिख़ के शिष्य और इनके सगे भाई मिर्ज़ा इनायत अली 'माह' (चंद्र) आतिश के शिष्य हो गए। सन् १८४० ई० में मुंसिफी की परीक्षा देकर यह चुनार में मुंसिफ के पद पर नियुक्त हुए। इन्होंने वकालत भी पास कर लिया था। सन् १८५७ के बलवे में कुछ अंग्रेजों की रक्षा की थी, जिससे इन्हें ख़िलअत और दो गाँव जागीर में मिले। तब यह आगरे आकर वकालत करने लगे। सन् १८७९ ई० में एटा में इनकी मृत्यु हुई। काशी के महाराज बलवान सिंह जब आगरे में रहने लगे, तब इन्हें अपना कविता गुरु बनाया और इन्हें पचास रुपये मासिक वृत्ति देते रहे। इनका दीवान अलमासे दुरख्शाँ कहलाता है, जिसका तारीखी नाम 'ख़ियालाते मेह्र' है। पारए उरूज छंद-शास्त्र का छोटा-सा ग्रंथ है। अयाग़े फ़िरंगिस्तान इतिहास-ग्रंथ है। दो मसनवी और दाग़े शुआए मेह्रनिगार तथा एक वासोख़्त दाग़े दिल मेह्र भी लिखा। शबीहे इशरत्, तौक़ीरे शरफ़ आदि अनेक स्फुट कविताएँ भी

इनकी हैं। तारीखें भी खूब लिखते थे। यह एक सुकवि हो गए हैं और भाषा पर इनका भी अच्छा अधिकार था, जिससे इनकी कविता में प्रसाद गुण पूरी तरह से है।

ख्वाजा मुहम्मद वज़ीर 'वज़ीर' के पिता ख्वाज़ा मुहम्मद फ़क़ीर थे, जो प्रसिद्ध फ़क़ीर ख्वाजा बहाउद्दीक नक्शबंदी के वंश में थे। यह लखनऊ में रहते थे। यह इतने एकांत प्रिय थे कि नवाब वाजिदअली शाह के दो बार बुलवाने पर भी उनके दरबार में नहीं गए। सन् १८५४ ई० में इनकी मृत्यु हुई। यह पहुँचे हुए फ़क़ीर माने जाते थे। इनका दीवान इनकी मृत्यु पर उसी वर्ष दीवाने फ़साहत के नाम से प्रकाशित हुआ, जिससे फसली सन् १२६३ निकलता है। फ़क़ीर मुहम्मद गोया आदि इनके बहुत-से शिष्य थे। नासिख की शैली के प्रधान परिपोषक और इनके प्रिय शिष्य थे। कड़े बहरों में भी अच्छी कविता की है और प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

वज़ीर

ख्वाजा हैदरअली 'आतिश' के पिता ख्वाजा अली बख्श दिल्ली के रहनेवाले थे, पर नवाब शुजाउद्दौला के समय में फैजाबाद आकर मुगलपुरा में बस गए। आतिश का यहीं जन्म हुआ। इन्हें अल्पवयस्क छोड़कर इनके पिता की मृत्यु हो गई, जिससे इनकी शिक्षा पूरी न हो सकी। इनका ढंग सिपाहियाना था और नवाब मुहम्मद तक़ी के नौकर होकर लखनऊ आ बसे। यहाँ कविसभाओं में जाते थे

आतिश

और इंशा तथा मुसहफ़ी की जो चोटें आपस में चल रही थीं, उसे देखा या सुना था। इससे कविता की ओर इनकी रुचि हुई और मुसहफ़ी को गुरु बनाया। इन्होंने साधारण शिक्षा प्राप्त की थी तथा कुछ काव्य ग्रंथ भी देखे थे पर ये अपने प्रतिद्वंद्वी नासिख़ से विद्वान् नहीं थे। इनमें संतोष की मात्रा अधिक थी, इसी से किसी धनाढ्य की प्रशंसा आदि में कविता नहीं की। अवध के नवाब से इन्हें अस्सी रुपये मासिक की वृत्ति मिलती थी और उसी में अपना कालयापन करते तथा गरीबों की सहायता भी करते थे। शिष्यगण भी यथाशक्ति भेंट लाते थे। इनके कोई पूर्वज फ़क़ीर थे, इससे इनके मुर्शिद चेले भी थे और वे भी सहायता करते थे। इनके शिष्य वजीर के शिष्य फ़क़ीर मुहम्मद गोया पचीस रुपया मासिक देते थे और मीर दोस्त अली ख़लील भी विशेष सहायता करते थे। इस प्रकार जीविका की ओर से संतुष्ट रहकर एक टूटे फूटे मकान में साधुओं की तरह इन्होंने अपना जीवन बिता दिया। यह सन् १८४७ में मरे। आतिश और नासिख़ समकालीन थे तथा उनके समय लखनऊ केंद्र दो भागों में विभाजित हो गया, जिनके ये ही दोनों प्रधान थे। आपस की प्रतिद्वंद्विता के कारण दोनों ही अपनी अपनी प्रतिभा को अच्छी तरह विकसित कर सके थे, पर इस प्रतिस्पर्धा में ईर्ष्या की मात्रा नहीं थी। आपस में गुप्त रूप से एक दूसरे पर चोटें कर लेते थे पर इनमें इंशा और मुसहफ़ी सा तू तू, मैं मैं, नहीं था। यद्यपि दोनों की शैली

भिन्न है पर अपने प्रतिस्पर्धियों की योग्यता दोनों ही मानते थे। आतिश ने तो नासिख़ की मृत्यु पर कविता करना ही छोड़ दिया कि अब कोई उनकी कविता का मर्मज्ञ ही नहीं रह गया था। इनकी रचनाओं में केवल एक दीवान है, जो उन्हीं के समय में प्रकाशित हो चुका था। दूसरा छोटा संग्रह इनकी मृत्यु पर इनके शिष्य ख़लील द्वारा प्रकाशित किया गया। उसमें पीछे से लिखी गई कविता थी। इन्होंने सिवा ग़ज़ल के और कुछ नहीं लिखा।

इनकी भाषा बिलकुल बोलचाल की भाषा थी और इनकी कविता तत्कालीन सभ्य समाज के बोलचाल की भाषा का उत्तम नमूना है। सीधी-सादी बातें शुद्ध भाषा में कविता

भाषा, शैली

बद्ध कर दी है और अलंकारादि के बोझ से उन्हें जटिल करने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया है। इनमें अस्वाभाविकता का नाम भी नहीं है और न साधारण भावों को शब्दाडंबर और क्लिष्ट वाक्य-विन्यास में छिपाया है। महाविरों की भरमार है और उनके प्रयोग के लिये इनकी कविता सनद मानी जाती है। इनकी कविता समझने के लिये प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। इनकी कृतियों में उच्चकोटि की कविता कहीं कहीं मिलती है, पर सब वैसी नहीं है। तब भी भाषा-सौष्ठव, सरलता और कवित्व-शक्ति में यह किसी से कम नहीं हैं। अपने समय के प्रवाह में यह नहीं पड़े और स्त्रियों के शृंगारादि के अश्लील वर्णन से इन्होंने अपने किसी आश्रयदाता को प्रसन्न नहीं

किया। इनकी कविता में ऐसा अच्छा प्रवाह है कि पढ़ने में गाने सा आनंद आता है। इतिहास में यह अमर हैं और प्रथम कक्षा के कवियों में इनकी गिनती है। इनमें कुछ समालोचक दोष भी निकालते हैं, जिसे वे अविद्या के कारण हुआ मानते हैं। कवित्व-शक्ति ईश्वर-प्रदत्त होती है, विद्वत्ता की मुखापेक्षी नहीं होती, पर तब भी साहित्य का कुछ ज्ञान अवश्य होना चाहिए। वास्तव में इन्होंने कुछ शब्दों का प्रयोग साधारण बोलचाल के अनुसार कर दिया है, जो अशुद्ध है। पर कविगण ऐसा कर सकते हैं और भाषा को एकदम इस प्रकार नियंत्रित करना भी ठीक नहीं।

आतिश और नासिख़ दोनों ही लखनऊ में एक समय में हुए थे और दोनों ही ने अपनी अपनी शैली का प्रचार किया, जिससे लखनऊ साहित्य केंद्र इन दोनों के प्रधानत्व में दो विभागों में बँट गया था। नासिख़ अपने समय विशेष सम्मान्य और लोकप्रिय थे तथा गुलशने बेख़ार के लेखक नवाब मुस्तफ़ा खाँ शेफ्तः ने इन्हीं को आतिश से बढ़कर माना था। पर समय ने उनकी क्लिष्ट शैली को नहीं अपनाया और उन्हें आतिश से बढ़कर माना। ग़ालिब को आतिश की कविता में नासिख़ से अधिक कवित्वशक्ति दिखलाई पड़ी और उन्होंने इन्हीं को बढ़कर माना है। आतिश की कविता में प्रसाद तथा सौकुमार्य गुण अधिक है, जिससे उसके पढ़ने में आनंद आता है पर नासिख़ की क्लिष्ट शब्दावली और

आतिश और नासिख़

योजना ने इन दोनों गुणों को न आने दिया, जिससे उनकी कविता की धारा खरतर हो गई और उसमें सरसता की कमी हो गई। आतिश में नैसर्गिकता, भावों की उच्चता, गांभीर्य और धार्मिक विचारादि अधिक हैं। यद्यपि यह भी समय के प्रवाह में पड़े थे और कुछ शृंगारिक वर्णन भी किया था पर अधिक नहीं। नासिख़ में काव्योत्कर्ष विशेष है और गहन अलंकार तथा भाषा-नैपुण्य के कारण ओज की मात्रा अधिक है। इस प्रकार विवेचना करने पर देखा जाता है कि काव्यशक्ति आतिश ही की बढ़ी चढ़ी थी।

आतिश के शिष्यों में रिंद, सबा, ख़लील, नसीम, शौक और आग़ाहज्जू शर्फ थे। नवाब सैयद मुहम्मद खाँ 'रिंद' (मस्त) के पिता नवाब मिर्ज़ा सिराजुद्दौला ग़ियासुद्दीन मुहम्मद खाँ बहादुर नसरतजंग नैशापुरी थे और माता नवाब नजफ़ खाँ ज़ुल्फ़िक़ारुद्दौला की बड़ी पुत्री थी। नजफ़ खाँ की बहिन का विवाह अवध के द्वितीय नवाब सफ़दर जंग के भाई से हुआ था। इनका जन्म सन् १७९७ ई० में फ़ैज़ाबाद में हुआ था और वहीं इन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। मीर हसन के पुत्र मीर खलीक़ को वहाँ अपनी कविता दिखलाते थे। सन् १८२४ ई० में यह लखनऊ आ रहे और आतिश के शिष्य हुए। पहिला दीवान गुलदस्तए इश्क़ सन् १८३४ ई० में और दूसरा इनकी मृत्यु के अनंतर संकलित हुआ था। यह उपनाम के अनुकूल ही विषय-वासनादि में अधिक आसक्त रहे पर अपने

रिंद

गुरु आतिश की मृत्यु पर इस सबसे विरक्त होकर हज्ज को चले पर बंबई ही में मृत्यु ने आ घेरा। सन् १८५६ ई० में विद्रोह के पहले उनकी मृत्यु हो गई। इनकी शैली सुगम है और भाषा मुहाविरेदार है। इनके भाव और विचार इन्हीं के अनुरूप और उपनाम को सार्थक करनेवाले होते हुए भी अश्लीलता से दूर हैं। कहीं अच्छे भाव भी मिलते हैं।

सबा

मीर वज़ीर अली 'सबा' के पिता का नाम वंदे अली था और इन्हें इनके मामा मीर अशरफ़ अली ने गोद लेकर अच्छी शिक्षा दी थी। इन्हें वाजिद अली शाह के दरबार से दो सौ रुपये की मासिक वृत्ति मिलती थी। नवाब मुहसिनुलमुल्क भी तीस रुपये मासिक देते थे। यह बड़े सहृदय पुरुष थे, इससे अपने गरीब मित्रों की प्रायः सहायता किया करते थे। इनके मित्र इन्हें बहुत घेरे हुए भी रहते थे और कहा जाता है कि इन मित्रों के स्वागत में लगभग एक सेर अफ़ीम इनके यहाँ नित्य व्यय होती थी। यह सन् १८५५ ई० में घोड़े से गिर कर मर गए। एक बड़ा दीवान गुँचए आर्ज़ू और वाजिद अली शाह के शिकार पर एक मसनवी लिखा है। इनकी कविता में स्वाभाविकता, सरसता तथा सरलता का अभाव लखनऊ साहित्य केंद्र की विशेषता ही थी। शृंगारिक कविता में अश्लीलता का भी मेल है और अपने गुरु आतिश का भी वर्णन करने, व्यंग्य आदि में अनुकरण किया है।

मीर दोस्त अली 'ख़लील' के पिता का नाम सैयद जमाल अली था। वह बारहा के बड़ौली ग्राम के निवासी थे और लखनऊ में आ बसे थे। यह नवाब नादिर मिर्ज़ा नैशापुरी के प्रिय मित्र थे, जिनके साथ सन् १८६२ ई० में कलकत्ते गए थे। यह आतिश के प्रिय शिष्यों में से थे। इनका एक दीवान प्राप्त है। इनकी कविता साधारण तथा उत्तम दोनों ही प्रकार की है। साधारण कोटि के शृंगारिक विचार हैं और शुद्ध तथा मुहाविरेदार होते हुए भी भाषा में अप्रचलित शब्दों का प्रयोग बहुत है।

खलील

पं० गंगाधर कौल के पुत्र पं० दयाशंकर कौल ही का उपनाम 'नसीम' था। ये काश्मीरी ब्राह्मण थे और आतिश के प्रसिद्ध शिष्यों में से थे। यही प्रसिद्ध मसनवी गुलज़ारे नसीम के रचयिता हैं। इनका जन्म सन् १८१२ ई० में लखनऊ में हुआ था और सन् १८४४ ई० में युवावस्था ही में इनकी मृत्यु हो गई। फ़ारसी की शिक्षा प्राप्त कर यह नवाब अमजद अलीशाह की सेना में मुँशी हुए और कविता की ओर रुचि होने से बीस वर्ष की अवस्था में आतिश के शिष्य हुए। पहिले इन्होंने गुलज़ारे नसीम को बड़े विस्तार से लिखा था पर आतिश की सम्मति से उसका ऐसा संक्षेप कर डाला कि केवल चुने हुए सुंदर पद मात्र रह गए। उर्दू-साहित्य में दो ही मसनवी सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं—पहिली मीर हसन की सेहुल

नसीम

बयान और दूसरी गुलज़ारे नसीम। यह सन् १८३८ ई० में प्रकाशित हुई थी। यह शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गई। सेहुल बयान से इसकी शैली भिन्न है और इससे उससे तुलना करना ठीक नहीं। इसकी कविता अपने प्रवाह, कल्पना, महावरों के प्रयोग, उपमादि अलंकार के लिये सर्वप्रिय है। अधिक भाव और विचार थोड़े में भर देना इसकी विशेषता है। यह एक ऐसी उत्तम रचना है कि केवल इसी से दयाशंकर का नाम अमर हो गया है।

नासिख़ तथा आतिश की विशेषता

तज़किरः जल्वए–ख़िज़्र और शायरुल् हिंद में नासिख़ तथा आतिश के शिष्यों ने शैली में जो अदल बदल किया था उसकी सूची सी दी गई है, जिसमें फारसी के क्लिष्ट शब्दों तथा उसकी योजना का वहिष्कार, चलते हिंदी शब्दों का पुनः प्रयोग, भरती के महाविरे का न प्रयोग करना आदि है। तात्पर्य यह कि आडंबर को अनुचित समझ कर उसका उपयोग नहीं करते थे। आतिश के एक शिष्य आगा हज्जू शर्फ़ ने वुत, मंदर, ज़ुन्नार, शराव आदि शव्द का, जो मुसल्मानों को अरुचिकर थे, कविता में नहीं प्रयोग किया था पर यह उन्हीं तक रह गया। उर्दू कविता के ये आवश्यक शब्द हैं।

दिल्ली साम्राज्य की अवनति के समय क्रमशः प्रांताध्यक्ष गण स्वतंत्र होने लगे थे। इन्हीं में अवध के नवाब बुर्हानुल्मुल्क सआदत खाँ भी थे। उसके उत्तराधिकारी सफ़दर जंग और उसके

अवध के नवावगण

बाद उनके पुत्र नवाब शुजाउद्दौला अवध के नवाब हुए। इन्हीं के पुत्र वज़ीरुल् मुमालिक नवाब यहिया खाँ मिर्ज़ा अमानी आसफ़ुद्दौला थे, जिनके दान के विषय में कहा जाता है कि 'जिसे न दे मौला उसे दे आसफ़ुद्दौला'। यह सत्ताइस वर्ष की अवस्था में सन् १७७५ ई० के जनवरी महीने में गद्दी पर बैठे। इतने ही समय में अवध राज्य की बड़ी उन्नति हुई और राजकोष पूर्ण हो गया था। आसफ़ुद्दौला फ़ैज़ाबाद से राजधानी उठा कर लखनऊ लाए और इससे इस नगर का भाग्य फिर गया। इन्हीं के समय दिल्ली के बादशाहों की पूरी अवनति हो जाने तथा राजकोष के सूने हो जाने से वहाँ के कविगण निराश्रय हो रहे थे, जिससे इनके दान की धूम सुनकर धीरे धीरे प्रायः सभी प्रसिद्ध कवि अवध चले आए और सभी को आश्रय मिला। आर्ज़ू, सौदा, मीर, इंशा, जुरअत, मुसहिफ़ी आदि बहुत से कवियों ने इसी वैभवपूर्ण दरबार में आकर अपने अंतिम दिन व्यतीत किए थे। कवियों को आश्रय देने के साथ साथ कविता करने में भी नवाब वंश मुग़ल सम्राटों से पीछे नहीं रहा। पर उसी तरह कविता के आरंभ के साथ राज्य की अवनति भी आरंभ हो गई।

आसफ़ुद्दौला 'आसफ़'

नवाब आसफ़ुद्दौला 'आसफ़' उपनाम से अच्छी कविता करते थे। मीर तथा सोज़ इनकी कविता शुद्ध करते थे और इस कारण इनके उस्ताद कहलाए। इनकी कविता में बड़ी सादगी तथा करुणा है, जो इनके गुरु 'सोज़' का

अनुकरण है। भाव अच्छे हैं और भाषा भी उसी के अनुकूल साफ सुथरी है। इनका एक दीवान है, जिसमें लगभग तीन सौ पृष्ठों के ग़ज़ल हैं, १७० पृष्ठ में रुबाई, मुख़म्मस आदि और सौ पृष्ठ में एक मसनवी है। इन्हीं के समय में मीर और सौदा लखनऊ आए और प्रतिष्ठापूर्वक वृत्ति पाकर इनके दरबार में रहे। सन् १८९७ ई० में इक्यावन वर्ष की अवस्था में यह परलोक गए। इनके पुत्र वज़ीर अली खाँ, जो उपपत्नी के पेट से थे, गद्दी पर बैठे पर भारत सरकार ने कुछ ही महीने बाद इन्हें गद्दी से उतार कर इनके चाचा नवाब सआदत अली खाँ को उस पर बिठाया।

नवाब सआदत अली खाँ सन् १७९७ ई० में गद्दी पर बैठे। यह भी कवि थे। कुछ कविता भी की है पर कोई दीवान नहीं लिखा है। यह कवियों के आश्रयदाता थे।

सआदत अली खाँ

अंग्रेजों की सहायता से यह गद्दी पर बैठे थे और उन्हीं के आश्रय पर निश्चिंत होकर अपना समय ऐशो आराम में व्यतीत किया। इंशा के अनुसार यह शीघ्र क्रुद्ध हो जाते थे पर इनका दरबार विशेषतः इसी तरह के विदूषक मसखरे आदि से भरा रहता था, क्योंकि अश्लीलतापूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर, कविता आदि पुरस्कृत और मान्य होती थी। इंशा की कवित्व शक्ति तथा विद्वत्ता इसी दरबार में स्वाहा हुई थी और उनके स्थान पर हजो इत्यादि में पक्षपातपूर्ण आक्षेप, मत्सर-युक्त

व्यक्तिगत कटाक्ष आदि ने कविता में अवतरित होकर उसके कलेवर को भ्रष्ट कर दिया। मसनवी फ़ील आदि सी पूर्णतया अश्लील मसनवियाँ यहीं उत्साह पाकर लिखी गईं। सन् १८१४ ई० में नवाब सआदत अली खाँ की मृत्यु हो गई।

नवाब सआदत अली खाँ के पुत्र ग़ाज़ीउद्दीन हैदर सन् १८१४ ई० में गद्दी पर बैठे। इन्हें लॉर्ड हेस्टिंगज़् ने बादशाह की पदवी दी और दिल्ली सम्राट् से पूर्णतया स्वतंत्र कर दिया।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर

इसके उपलक्ष में बड़े धूमधाम से लखनऊ में दरबार हुआ, जिसमें तीस सहस्र के हीरे मोती लुटाए गए थे। यह साधारण कोटि की कविता कर लेते थे। यह सन् १८२७ ई० में परिपूर्ण राजकोष छोड़कर मर गए और शाह नजफ़ में गाड़े गए, जिसे इन्होंने स्वयं इसी लिए बनवाया था। इनकी मृत्यु पर इनके पुत्र नसीरुद्दीन हैदर गद्दी पर बैठे और कुल राजकोष चौपट कर दिया।

ग़ाज़ीउद्दीन की मृत्यु पर उनका पुत्र सुलेमान जाह नवाब नसीरुद्दीन हैदर की उपाधि से गद्दी पर बैठा। दिल्ली के सम्राट् की पुत्री से इसका विवाह हुआ। इसने 'अली या आली

नसीरुद्दीन

हैदर' के उपनाम से मर्सिए और 'बादशाह' उपनाम से कुछ ग़ज़ल भी लिखा। इसकी सन् १८३७ ई० में विष खिलाने से मृत्यु होने पर इसके चाचा मुहम्मद अली शाह बादशाह हुए। सन् १८४२ ई० में इसके मरने पर इसके

पुत्र अमजद अली शाह गद्दी पर बैठे। ये दोनों साहित्य और कला के आश्रयदाता रहे और कवियों को वृत्ति देकर प्रोत्साहित करते थे।

अमजद अली शाह के पुत्र वाजिद अली शाह सन् १८४७ ई० में अपने पिता की मृत्यु पर गद्दी पर बैठे। इनकी पूर्ण यौवनावस्था थी और इनके पिता राजकोष में लगभग डेढ़ करोड़ रुपये नकद छोड़ गए थे। 'यौवनं धन संपत्तिः प्रभुत्वमविवेकता' सभी साधन एकत्र हो गए। दो करोड़ रुपए व्यय कर क़ैसर बाग़ तथा उसमें की इमारतें तैयार हुईं। वहीं रासलीला, मेले तथा विषय भोगादि में समय बीतने लगा। प्रबंध कुमंत्रियों के हाथ पड़कर नष्ट हो गया। भारत सर्कार ने कई बार चेतावनी दी पर कोई फल न निकला। अंत में यहाँ तक अशांति फैली कि कंपनी ने उस राज्य को जब्त कर लिया। बीस लाख वार्षिक वृत्ति देकर इन्हें कलकत्ते में रहने की आज्ञा मिली। मटिया बुर्ज में कुछ समय के अनंतर फिर वही रंगरलियाँ मचने लगीं। बीच में सन् १८५७ ई० का गदर आरंभ हो गया, जिससे इन्हें लगभग डेढ़ वर्ष तक फोर्ट विलिअम में नज़र कैद रहना पड़ा था। 'हुज़्ने अख़्तर' में लखनऊ से कलकत्ते पहुँचने तक का वर्णन है। कलकत्ते का इनका चिड़ियाघर इतना संपन्न था कि योरोप तक के यात्री उसे देखने को यहाँ आते थे। यह सन् १८८७ ई० में मृत्यु मुख में समा गए। नवाब वाजिद

वाजिद अली शाह

अली शाह कविता में अपना उपनाम 'अख़्तर' और ठुमरी आदि में 'जाने आलम पिया' रखते थे। गान विद्या के ज्ञाता और मर्मज्ञ थे। इमारत बनवाने के भी प्रेमी थे। यह हर समय सुंदर स्त्रियों, गवैयों तथा कवियों से घिरे रहते थे। यह अपनी कविता असीर और बर्क़ से शुद्ध कराते थे। इनके सिवा अमानत, क़लक़, बद्र, तस्लीम, सह्र, ज़की, दुरख़्शाँ आदि बहुत से कवि इनके दरबार में बराबर रहे। इनके पुत्रों में युवराज मिर्ज़ा हामिद अली, मिर्ज़ा आस्मान जाह और बिर्जीस क़द्र कौकिब, अंजुम और बिर्जीस उपनाम से कविता करते थे। इनकी बेगमों में से भी दो आलम और महबूब उपनाम से कविता करती थीं।

इनकी रचनाएँ इतनी अधिक हैं कि लगभग चालिस जिल्दें हो जाती हैं। इन्होंने ग़जलों के छ दीवान लिखे हैं, जिनके

रचनाएँ

नाम (१) शयूअ फ़ैज़ (२) क़मरे मज़मून (विषय चंद्र) (३) सख़ुने अशरफ़ (अच्छी कविता) (४) ग़ुलदस्तए आशिक़ाँ (५) अख़्तरे मुल्क (देश नक्षत्र) और (६) नज़्मे नामवर (प्रसिद्ध पद्य) हैं। हुज़्ने अख़्तर, बनी, नाजू, दूल्हन, दर फ़ने मासीक़ी, दरिआए तअश्शुक़ और ख़िताबाते महलात आदि कई मसनवियाँ लिखीं। इसके सिवा बहुत से मर्सिए और क़सीदे लिखे हैं, जो कई जिल्दों में संग्रहीत हुए हैं। दफ्तरे परेशाँ, मक़तले मोतविर, दस्तूर वाजिदी, रिसालए ईमान, इश्क़नामा आदि बहुत से

छोटे छोटे ग्रंथ लिखे हैं। इनकी ठुमरियाँ भी बहुत प्रचलित हैं। इनकी एक प्रिय बेगम मुमताज़ जहाँ ज़ीनत बेगम लखनऊ ही में रह गई थीं, जिन्हें ये बराबर पत्र लिखते रहे। इन पत्रों का एक संग्रह नवाब की आज्ञा से अकबर अली खाँ तौक़ीर ने किया था और इसकी भूमिका लिखी थी। ये पत्र समयानुक्रम से लगाए गए हैं और सन् १८८० ई० में यह संग्रह समाप्त हुआ था। वाजिद अली शाह आशु कवि थे, पर इनकी कविता साधारण है। यह आप बीती कहने में स्पष्टवादिता को विशेषता देते थे और इसीसे हुज़्ने अख़्तर करुण रस पूर्ण तथा स्वाभाविक होने से हृदय-ग्राही हो गया है।

सैयद मुज़फ़्फ़र अली 'असीर' के पिता मदद अली मुहम्मद सालिह करोड़ी के वंशज थे। ये अमेठी के रहनेवाले थे। बारह वर्ष की अवस्था में असीर का विवाह लखनऊ के शेखज़ादों के घराने में हुआ तब यहीं आकर फ़िरंगी महल के विद्वानों से शिक्षा प्राप्त की। कविता में मुसहिफ़ी के शिष्य हुए पर वे दो ही तीन वर्ष बाद मर गए, इसलिये स्वयं आयास करते रहे। नसीरुद्दीन हैदर के समय नौकर होकर अमजद अली शाह के समय बादशाही कचहरी के सरिश्तेदार और कारीगारों के दारोग़ा हुए। वाजिद अली शाह ने तदबीरुद्दौला मुदब्बिरुल्मुल्क बहादुर जंग की पदवी दी और इनसे कविता में इसलाह लेते रहे, पर जब ये राज्यच्युत होकर कलकत्ते

असीर

जाने लगे तब ये साथ न गए। इससे नवाब को बहुत दुख पहुँचा। विद्रोह के बाद रामपुर के नवाब युसुफ़ अली खाँ ने इन्हें बुलाकर अपने दरबार में रखा, जहाँ यह अंत तक रहे। इनकी सन् १८८२ ई० (१२९९ हि०) में चौरासी वर्ष की अवस्था में मृत्यु हुई। इन्होंने चार दीवान, दुर्रतुल्ताज नामक मसनवी और छंदशास्त्र पर एक पुस्तक लिखी। इनके दो दीवान और भी सुने जाते हैं। इन्होंने क़सीदे और मर्सिए भी खूब लिखे हैं। छंदशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे और भाषा तो इनकी अनुवर्तिनी थी। इनके सबसे अधिक प्रसिद्ध शिष्य अमीर मीनाई थे और अन्य शिष्यों में इनके दोनों पुत्र हकीम और अफ़ज़ल तथा शौक़, वासिती और असद थे।

अमानत

सैयद आग़ा हसन 'अमानत' मीर आग़ा रिज़्वी सैयद अली रिज़्वी के वंशधर थे। इनका जन्म सन् १८१६ ई० हुआ था और आरंभ में मर्सिया कहने की ओर इनकी रुचि हुई, इसलिए मियाँ दिलगीर के शिष्य हुए। जब यह ग़ज़ल लिखने लगे तब स्वयं उसे ठीक करते थे। सन् १८४४ ई० में करबले गए, जहाँ से लौटने पर गूँगापन जाता रहा। पहेली बुझौवल बहुत कहा है। इनका दीवान ख़ज़ा-यनुल्फ़साहत, गुलदस्तए अमानत और इंदर सभा तथा मर्सिए प्रकाशित हो चुके हैं। परंतु यह अपने वासोख़्त तथा इंदर सभा के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। यह इंदर सभा उर्दू नाटकों में सर्व प्रथम होने से विशेष प्रसिद्ध है। इनकी कृतियों में शब्दावली अति

उत्तम है और महाविरेदार भाषा की छटा दर्शनीय है पर सब अस्वाभाविक तथा आडंबरपूर्ण है। नासिख़ की चलाई प्रथा का इनमें पूर्ण विकास हुआ है। इनकी ये रचनाएँ लोक प्रिय हुईं। अमानत अपने दो पुत्र—लताफ़त और फ़साहत—को छोड़कर सन् १८५८ ई० में 'इंदरलोक' सिधारे।

आफ़ताबुद्दौला ख़्वाजा असद बहादुर अर्शद अली खाँ 'क़लक़' के पिता का नाम ख़्वाजः बहादुर हुसेन 'फ़िराक़' था और दादा अटक निवासी ख़्वाजः मिर्जा खाँ थे। यह अपने मामा वज़ीर के शिष्य थे, जो नासिख़ के प्रिय शिष्य थे। यह वाजिद अली शाह के दरबारी कवि थे और अपने को उनका शिष्य लिखा है। इन्होंने एक दीवान लिखा है। इनकी कविता में अश्लील शृंगार का वर्णन है। इनकी मसनवी तिलस्मे उलफ़त अच्छी है। अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में जो कसीदा लिखा है, कैसर बाग पर जो ग़ज़ल है और राज्य-च्युति पर जो मुखम्मस लिखा है, ये सब अच्छे हैं। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था और कुछ कविता उच्च कोटि की भी है।

कलक़

सैयद अली खाँ 'दुरख़्शाँ' के पिता का नाम मीर मुग़ल था। लखनऊ के रहनेवाले और असीर के शिष्य थे। इन्हें महताबुद्दौला कौकिबुल्मुल्क सितारएजंग पदवी मिली थीं। यह वाजिद अलीशाह के साथ कलकत्ते

दुरख़्शाँ

गए, जहाँ इनकी मृत्यु हुई। यह ज्योतिष भी जानते थे। इन्होंने एक दीवान लिखा है। साधारण कवि थे।

काज़ी मुहम्मद सादिक 'अख्तर' के पिता क़ाज़ी लाल मुहम्मद हुगली के रहनेवाले थे। यहीं इनका जन्म हुआ था पर यह सन् १८१४ ई० के लगभग लखनऊ चले आए, जहाँ ये मिर्ज़ा क़तील के शिष्य हुए। मुसहफ़ी, इंशा आदि की कविसभाओं में योग दिया और आतिश तथा नासिख के समय तक रहे। नवाब गाज़ीउद्दीन हैदर ने इन्हें मलिकुश्शोअरा की पदवी दी। यह कुछ दिन फर्रुखाबाद में रहे। वाजिद अली शाह ने इनका उपनाम अपनाया था, इसलिये इनको पुरस्कृत और सम्मानित किया था पर कुछ दिनों के अनंतर किसी प्रकार इन पर नाराज़ होगए, जिससे यह लखनऊ छोड़कर इटावे चले गए। यहाँ अंत तक यह तहसीलदार रहे। यह विद्रोह के बाद सन् १८५८ ई० में मरे। यह लखनऊ के प्रसिद्ध विद्वानों और कवियों में परिगणित थे। इनकी कविता में तीव्रता, विनोद और गांभीर्य्य है। इनकी फ़ारसी रचना अधिक है। महामिद हैदरियः, सुबह सादिक, नूरुलइंशा, दीवान फ़ारसी और पाँच सहस्र फ़ारसी कवियों की जीवनियों तथा कविता का संग्रह आफ़्ताबे आलमताब फ़ारसी की कृतियाँ हैं। उर्दू में एक दीवान लिखा है।

अख्तर

शेख मेहदी अली खाँ 'ज़की' के पिता करामत अली लखनऊ

के शेखजादों में से थे। यह मुरादाबाद के रहनेवाले थे, जहाँ इनका जन्म हुआ था। नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के समय

जकी

लखनऊ आकर नासिख के शिष्य हुए। नवाब की प्रशंसा में क़सीदा लिखा, जिससे अच्छा पुरस्कार मिला। इसके अनंतर दिल्ली और दक्षिण गए, जहाँ अच्छा सम्मान हुआ। फिर लखनऊ लौटने पर नवाब वाजिद अलीशाह के दरबारी कवि हुए। कुतुबुद्दौला की सहायता से मलिकुश्शोअरा की पदवी मिली। अवध की नवाबी का अंत होने पर मुरादाबाद चले गए। फिर वहाँ से नवाब यूसुफ़ अली खाँ के बुलाने पर रामपुर गए। यहीं सन् १८६४ ई० में इनकी मृत्यु हुई। यह काव्यशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे और उस विषय पर एक पुस्तक भी लिखी है, जो सन् १८४८ ई० में प्रकाशित हुई। इनका एक दीवान है, जो प्रकाशित हो चुका है। यह एक विद्वान और सुकवि हो गए हैं।

नवाँ परिच्छेद

लखनऊ साहित्य-केंद्र—मर्सिए और मर्सियागो—ज़मीर और खलीक़—अनीस और दबीर

मर्सिए शोक-गीत को कहते हैं, जो मृत की प्रशंसा तथा स्मृति में लिखा जाता है। मुसलमानों में यह कृति सम्मान्य है तथा हसन और हुसेन आदि कर्बला युद्ध में मारे गए वीरों की याद में होने से इस धर्म के इतना ही प्राचीन है। मुहर्रम के अवसर पर ताजियों के जुलूस के साथ यह गाया जाता है। यह कविता आरंभ में केवल धार्मिक उत्साह से की जाती थी और इसमें पंद्रह बीस शैर से अधिक न होते थे। उनमें वास्तविक उद्‌गार रहता था और करुणा रस से ओत-प्रोत होता था पर मृत की कोरी प्रशंसा कवि को तृप्त नहीं कर सकती थी, इससे मर्सियों की कमी और क़सीदों का आधिक्य होने लगा। फ़ारसी कविता में शृंगार तथा प्रेम का प्राधान्य होने पर नैसर्गिकता का ह्रास हो गया और ऊपरी दिखावट बढ़ने लगी। करुणा रस के लिए हृदय में सच्चा उद्गार होना ही सर्वस्व है, जिसका अभाव सा हो रहा था। फ़िर्दौसी, फ़र्रुखी, सादी तथा खुसरो ने भी छोटे छोटे शोक गीत लिखे हैं, पर उसका विशेष प्रचार नहीं हुआ था।

मर्सिया

उर्दू-साहित्य का आरंभ दक्षिण में गोलकुंडा तथा बीजापुर के दरबार से होता है, जो शीआ थे। यहाँ के राजे स्वयं कवि थे और कवियों के आश्रयदाता थे। इन लोगों की रचनाओं में मर्सिया को भी स्थान मिला है। वली ने सलाम लिखा है। मीर और सौदा के समय में बहुत से कवि मर्सिया ही लिखते थे, जिनमें सिकंदर, अमानी, आसिमी, मिस्कीं, मीर हसन आदि उल्लेखनीय हैं। ये रचनाएँ केवल धार्मिक विचारों से लिखी जाती थीं और इनका पुरस्कार पुण्य मात्र था। ये कवित्व शक्ति तथा विद्वत्ता दिखलाने के लिये नहीं प्रणीत होती थीं। मीर और सौदा ने स्वयं भी कहने को मर्सिया लिखा है। मीर हसन तथा उनके पिता के मर्सिए भी विशेष प्रशंसनीय नहीं हैं। पहिले के मर्सिए चार मिसरों के होते थे पर सौदा ने पहिले पहल छ मिसरों के मुसद्दस का मर्सिए में प्रयोग किया, जिसका ख़लीक़ और ज़मीर ने प्रचार किया। उस समय तक तीस चालीस बंद तक के मर्सिए होते थे पर मीर ज़मीर ने पहिले पहिल एक बहुत बड़ा मर्सिया लिखा, जिसमें शाहज़ाद: अली अकबर के मारे जाने का बयान है। आरंभ में भूमिका देकर वस्तु-प्रवेश दिखलाया, फिर नख शिख तथा युद्धस्थल का वर्णन किया और अंत में मारे जाने का वृत्तांत लिखा। इसमें प्राकृतिक वर्णन, आलंकारिक भाषा आदि का भी प्रयोग किया गया था। यह शैली अनीस और दबीर के समय पूर्णता को पहुँची। पहिले

उर्दू-साहित्य में मर्सिया

मर्सिए सोज़ में पढ़े जाते थे पर अब तहत लफ्ज़ में पढ़े जाने लगे।

मीर मुज़फ्फ़र हुसेन 'ज़मीर' के पिता मीर क़ादिर अली लखनऊ के रहने वाले थे। ज़मीर मुसहफ़ी के शिष्य थे। कविता के साथ साथ अरबी तथा फ़ारसी में अच्छी योग्यता रखते थे। धर्म प्रिय तथा शुद्धात्मा होते हुए भी विनोदप्रिय और चंचल स्वभाव के थे।

ज़मीर

यद्यपि पहिले ग़ज़ल इत्यादि लिखते थे और इनका एक दीवान भी कहा जाता है, पर फिर केवल परलोकगत जीवों की प्रशंसा में मर्सिए ही कहने लगे। जैसा उल्लेख हो चुका है, इन्होंने नखशिख (सरापा), युद्ध तथा युद्धस्थल वर्णन आदि का समावेश कर सौ सौ पद तक के मर्सिए लिखे हैं। मीर ख़लीक़ इनके समकालीन तथा प्रतिद्वंद्वी थे और आपस की इस समानता में दोनों की प्रतिभा ने पूरा विकास पाया। उस समय मियाँ दिलगीर और मियाँ फ़सीह दो और भी मर्सियागो थे, जिनमें दूसरे हज्ज को गए तो वहीं रह गए तथा पहिले मर्सिए नहीं पढ़ते थे क्योंकि तुतलाते थे। इस कारण इन्हीं दो के लिए मैदान खाली था। जमीर विद्वता तथा प्रतिभा के कारण काव्य-वातावरण में अच्छी प्रकार उड़ान लेते थे और ख़लीक भाषा के अच्छे ज्ञाता थे।

मीर मुस्तहसिन 'ख़लीक़' मीर हसन के पुत्र थे और इन्होंने फ़ैज़ाबाद तथा लखनऊ में शिक्षा प्राप्त की थी। सोलह वर्ष की

अवस्था में यह ग़ज़ल बनाने लगे। पहिले पिता

ख़लीक़

ही को कविता दिखलाते थे पर समयाभाव से उन्होंने इन्हें मुसहिफ़ी की शिष्य-मंडली में भर्ती कर दिया। शीघ्र ही प्रसिद्धि प्राप्त कर नैशापुरी वंश में पंद्रह रुपये मासिक वृत्ति पाने लगे। इसी वंश के मिर्ज़ा तक़ी 'तरक़्क़ी' ने फ़ैज़ाबाद में कवि सभा स्थापित करने को आतिश को बुलवाया था पर इनके ग़ज़लों को सुनकर उन्होंने अपनी ग़ज़ल फाड़ डाली कि ऐसे योग्य कवि के रहते उन्हें वहाँ बुलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसी समय पिता की मृत्यु हो जाने से गृहस्थी का कुल भार इन पर आ पड़ा, जिससे यह अपनी ग़ज़लें बेंचने लगे। इस पर भी एक पूरा दीवान लिख डाला। यह अपने मर्सियों ही के लिए प्रसिद्ध हुए, जिसे वे स्वयं सभाओं में पढ़ते थे। मीर ज़मीर आदि के समकालीन थे। मीर ख़लीक़ ने भाषा सौष्ठव, कारुण्य तथा उपयुक्त प्रवाह लाने में विशेष नैपुण्य दिखलाया है। मीर ज़मीर में कवित्व शक्ति, कल्पना तथा विद्वत्ता अधिक है। ख़लीक़ का वंश ही उर्दू के शुद्धतम प्रयोग का कोष समझा जाता था।

मीर बबरअली 'अनीस' का जन्म लगभग सन् १८०२ ई० को फ़ैज़ाबाद में हुआ था। वहीं इन्होंने पिता की तत्वावधानता में शिक्षा पाई। प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर यह अपने

अनीस

छोटे भाई मीर मेहअली 'उन्स' के साथ लखनऊ आए। इसके बहुत दिनों बाद कुल परिवार ही

लखनऊ आकर बस गया। अनीस भारी विद्वान नहीं थे पर उनमें कवित्वशक्ति ईश्वरदत्त थी। इन्होंने साधारण शिक्षा प्राप्त की थी। युद्धविद्या में यह बड़े कुशल थे और घुड़सवारी के भी प्रेमी थे। कविता में इन दोनों कलाओं के ज्ञान का पूरा उपयोग किया गया है। कविमात्र सौंदर्य के उपासक होते हैं। अनीस में इसकी मात्रा अधिक थी और काव्यपरंपरा को छोड़ जीवमात्र में वे सौंदर्य ढूँढ़ लेते थे। साथ ही कविता इन्हें रिक्थ-क्रम में मिली थी, जैसा कि इन्होंने स्वयं कहा है कि 'पाँचवी पुश्त है शव्वीर की मद्दाही में'। इन्हें अपने वंश का अभिमान भी बहुत था और इसी से लोगों से मिलने-जुलने में ये अदब कायदे के बड़े पाबंद थे। कवित्वशक्ति ने इनकी प्रतिष्ठा भी बहुत बढ़ा दी थी, यहाँ तक कि हैदराबाद के नवाब तहौव्वर जंग ने इनकी जूतियाँ उठाकर पालकी में रखने में अपना सम्मान समझा था। इनमें संतोष भी अधिक था और इसी से किसी धनी की प्रशंसा कर रुपये उगाहने की इनकी इच्छा ही नहीं रहती थी। अवध के नवाबों के शीआ होने से मुहर्रम का तेहवार दस दिन के बदले चालीस दिन तक मनाया जाने लगा था और वहाँ के रईस तथा जनसाधारण इसमें अधिक योग देते थे। मर्सिए, सलाम आदि के पढ़ने के लिये मजलिसें जगह जगह नित्य होती रहती थीं। इस प्रकार मर्सिए पढ़ने ही से इन्हें काफ़ी आय हो जाया करती थी। अवध की नवाबी के अंत होने पर भी ये कहीं जाना नहीं चाहते थे, पर अंत में जाना ही पड़ा। सन् १८५९ ई०

और १८६० ई० में दो बार यह पटने गए और दूसरी बार लौटते समय बनारस में भी ठहरे थे। सन् १८७१ ई० में यह हैदराबाद गए और लौटती समय प्रयाग में ठहरे थे। सभी स्थानों में इन्होंने मर्सिए सुनाए और सभी जगह इनकी खूब प्रशंसा हुई। सन् १८७४ ई० (१२९१ हि०) में लगभग ७४ वर्ष की अवस्था में ज्वर से इनकी मृत्यु हुई।

पहिले इन्होंने मीर ज़ाहक के मित्र फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि 'हज़ीं' के उपनाम को अपनाया था पर जब इनके पिता खलीक़ इन्हें लेकर नासिख के पास मिलने गए तब उन्हीं के कहने पर 'अनीस' उपनाम किया। इन्होंने ग़ज़ल लिखना आरंभ किया था पर पिता के कहने पर उसे छोड़कर मर्सिए की ओर झुक पड़े और उन्हीं के सामने ही अच्छा नाम पैदा कर लिया था। ख़लीक और ज़मीर की मृत्यु पर अनीस और दबीर मर्सिए के अखाड़े में उतरे और इस प्रतिद्वंद्विता ने दोनों ही की प्रतिभा को विशेष जागृत किया। इन्होंने ग़ज़लों का एक दीवान लिखा है और मर्सिए, किते, रुबाइआँ आदि बहुत लिखी हैं। मर्सिया की ६ जिल्दें प्रकाशित हो चुकी हैं और बहुत से अप्रकाशित पड़े हुए हैं। इनके पढ़ने की चाल भी अच्छी थी, जिसे वे अपने भाई उन्स और मूनिस की चाल पर आईनः आगे रखकर ध्यान पर चढ़ाते थे।

रचनाएँ

अनीस के पूर्वज दिल्ली के रहनेवाले थे और कई पीढ़ियों से

सुकवि होते आए थे, इससे इनके घर की भाषा उर्दू की टकसाली भाषा मानी जाती थी तथा दिल्ली और लखनऊ दोनों स्थानों में सम्मानित थी। यह स्वयं भी अपनी भाषा के कुछ महावरों का प्रयोग लखनऊ की चाल से भिन्न अन्य प्रकार से करते थे। नासिख़ आदि कई प्रसिद्ध कवियों ने इनके वंश को उर्दू भाषा की टकसाल माना है और उसे सीखने के लिए लोगों को राय भी देते थे। अनीस ने भी उर्दू भाषा को परिमार्जित करने में बहुत प्रयत्न किया है और कितने नए शब्द चलाए हैं। इनकी शब्द-योजना बड़ी ही सरल और प्रसादमयी होती थी। कविता का प्रवाह ऐसा सुंदर होता था कि पढ़ने में कहीं अटक नहीं होती थी। उर्दू-साहित्य में स्फुट कविता ही विशेष है। प्रबंध काव्य में केवल मसनवियाँ प्राप्त थीं पर पौराणिक महाकाव्यों का बिलकुल अभाव था। इस कमी को कहा जाता है कि इन्होंने पूर्ण किया। महाभारत और रामायण, इलिअड और इनीअड आदि से ग्रंथों की गुंजाइस उर्दू भाषा में कहाँ से हो सकती है, जिसका जन्म तथा पोषण रँगीले बादशाहों और नवाबों की छाया में हुआ है। इतने पर भी अनीस का युद्ध-स्थल, सेनाओं, वीरों, अस्त्रशस्त्रादि का वर्णन बहुत ही उत्तम हुआ। फ़िर्दौसी तथा निज़ामी के वर्णनों से ये कभी घटकर नहीं हैं। प्राकृतिक शोभा का वर्णन ऐसा है मानों उसका चित्र ही खींच दिया है। सूर्योदय, चंद्रास्त, समीर-विचरण, पुष्प, वृक्ष आदि के

भाषा तथा साहित्य पर प्रभाव

वर्णन की शैली इनकी निज की है और अत्यंत हृदय-ग्राही है। मनुष्य के आनंद, कष्ट, ईर्ष्या, द्वेष आदि मानसिक विकारों का भी कहीं कहीं कविता में अच्छा विश्लेषण किया है और पात्र के अनुकूल भाषा भी रखी है।

जैसा कि लखनऊ की प्रथा थी, उसके विपरीत इन्होंने भाव, अर्थ तथा शब्द-योजना को प्रधानता देते हुए अलंकारादि का प्रयोग किया है, जिससे कविता का सौंदर्य्य बहुत बढ़ गया है। अशियोक्ति का उपयोग वहीं तक किया है जहाँ तक वह सार्थक और संभव था। इन्होंने अनूठी और अछूती उपमाएँ ही काम में लाई हैं। भाषा ओज और प्रसाद मय है और उसका प्रवाह भी अत्यंत सरल है। एक ही बात को इन्होंने अनेक बार नई नई रीति पर कहा है और सभी मनोहर और आकर्षक हैं। इनकी कविता में इतिहास के साथ साथ काल्पनिक घटनाएँ समाविष्ट हैं। इनकी कविता की आलोचन करते हुए कुछ विद्वानों ने अशुद्धियाँ निकाली हैं और दूसरों ने उत्तर भी दिए हैं। अधिक लिखने वाले प्रसिद्ध कवियों की सभी कविता एक सी नहीं होती, साँचे में वे ढली नहीं रहतीं, इससे किसी साधारण पद को लेकर सब पर आक्षेप करना ठीक नहीं है। ऐसी अशुद्धियाँ रही जाती हैं और ऐसी साधारण कविता होती ही है, जो उनसे प्रसिद्ध कवियों के योग्य नहीं हैं पर वे भी उनकी अमर रचना के साथ अमिट

रचना शैली तथा इतिहास में स्थान

हो रहती हैं। उर्दू-साहित्य के इतिहास में इनका स्थान बहुत ऊँचा है और ये उर्दू के फ़िर्दौसी और होमर समझे जाते हैं।

मिर्ज़ा सलामत अली 'दबीर' का जन्म सन् १८०५ ई० (१२२० हि०) में दिल्ली में हुआ था पर ये अपने पिता ग़ुलाम हुसेन काग़ज़ी के साथ सात वर्ष की अवस्था ही में लखनऊ में आकर बस गए और यहीं शिक्षा प्राप्त की। विद्या-प्राप्ति में बड़ा उत्साह था और अन्य विद्वानों से तर्क वितर्क करने का इनका स्वभाव होने से इनकी बुद्धि अधिक तीव्र हो गई थी। यह कविता में ज़मीर के शिष्य हुए और शीघ्र ही अपनी कवित्व शक्ति तथा अध्ययन से अपने गुरु के प्रिय शिष्य हो गए। इनकी प्रसिद्धि भी बहुत जल्दी हो गई। यहाँ तक कि बीस बाईस वर्ष की अवस्था ही में नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने इनकी कविता सुनी थी। इन्हीं नवाब के राज्यकाल में लिखे गए 'सरूर' के फ़िसनाए अजायब में प्रसिद्ध मर्सिया गोओं में इनका नाम भी दिया गया है। बहुत से धनाढ्य गण भी इनके शिष्य हो गए और उर्दू भाषा साहित्य के यह भी विद्वान माने जाने लगे। कविसभाओं में 'ज़मीर' इन्हीं को पहिले पढ़ने की आज्ञा देते थे और तब उसके अनंतर स्वयं पढ़ते थे। 'दबीर' का लिखा हुआ एक मर्सिया उन्हें इतना पसंद आया कि इन्होंने उसे स्वयं पढ़ने के लिये ले लिया और उसे बड़े परिश्रम से ठीक ठाक कर नवाब शरफ़ुद्दौला की कविसभा में गए। परंतु मित्रों के बहकाने तथा ख्याति

दबीर

के लोभ में दबीर ने उसी मर्सिए को स्वयं ठीक कर नियमानुसार पहिले ही कविसभा में पढ़ डाला। यह उसे सुनकर बड़े दुखी हुए और इस प्रकार गुरु शिष्य में मनोमलिन्य हो गया पर आपस का यह मालिन्य शीघ्र दूर हो गया। दबीर अपने गुरु की बराबर प्रतिष्ठा करते रहे। फैजाबाद से अनीस के लखनऊ आने के समय तक दबीर ने अच्छी ख्याति अर्जित कर ली थी। इन दोनों की प्रतिद्वंद्विता ने दोनों ही के यश को अधिक उज्ज्वल किया और दोनों की कविता को उत्कृष्टतर कर दिया। दोनों ही एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिलते जुलते थे और ईर्ष्या द्वेष से एक दूसरे को गिराने का कभी प्रयत्न नहीं किया। सन् १८७४ ई० में दबीर की आँखें जाती रहीं। नवाब वाजिद अली शाह ने कलकत्ते बुलाकर इनकी आँखें बनवा दीं। इसके पहिले सन् १८५८ ई० और १८५९ ई० में यह क्रमशः मुर्शिदाबाद और पटना गए थे। सन् १८७५ ई० (२९ मुहर्रम १२९२ हि०) में ७२ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हुई।

इन्होंने मर्सिए ही लिखे हैं, जिनका संग्रह कई जिल्दों में प्रकाशित हो चुका है। इन्होंने अपना सारा जीवन इसी प्रकार की रचना में व्यतीत कर दिया। यह फ़ारसी तथा अरबी के विद्वान थे और इस कारण इनकी कविता में क्लिष्ट शब्द-योजना और अर्थ-गांभीर्य विशेष था। नए भावों का उपयोग करते हुए करुणात्मक व्यंजना,

रचनाएँ तथा रचना शैली

प्रभावशाली शब्दों का प्रयोग और ओजमयी वर्णन इनके पदों में दर्शनीय है। इनकी कल्पना शक्ति बढ़ी चढ़ी थी और इनके पद्-प्रवाह में तीव्रता और उद्दंडता थी। इसी प्रकार का एक धूमधाम का मर्सिया इन्होंने एक कवि सभा पढ़ा, जिसमें ख्वाजा आतिश भी, जो बहुत वृद्ध थे, निमंत्रित होकर आए थे। उस मर्सिए में शत्रु पक्ष शाम की ओर के एक पहलवान की भयंकर राक्षस सी कल्पना की गई थी। मर्सिया पढ़ने के अनंतर जब इन्होंने आतिश से सम्मति माँगी तब उन्होंने यही उत्तर दिया कि मुझे यह न ज्ञात हुआ कि यह मर्सिया है या लंधौर बिन सादाँ की दास्तान है। तात्पर्य यह कि कल्पना के ज़ोर से स्थल की उपयुक्तता का विचार न कर बहुत बढ़ाकर कह डालते थे। अरबी के मिसरे भी बड़ी योग्यता से मर्सिया में खपा देते थे, जिससे सौंदर्य-वृद्धि ही होती थी। ये आशु कवि कहे जा सकते हैं, क्योंकि अति शीघ्रता से अच्छी कविता कर लेते थे। अलंकारों में इनकी उपमा तथा उत्प्रे-क्षाएँ भी नवीन तथा उत्तम होती थीं। इन्हीं सब गुणों के कारण दबीर भी अनीस के समकक्ष होकर उर्दू साहित्य के श्रेष्ठ कवियों में परिगणित हैं।

इन दोनों समकालीन प्रसिद्ध कवियों के पक्षपाती गण क्रमशः अनीसिए और दबीरिए कहलाने लगे। ये आपस में झगड़े कर एक दूसरे से बढ़कर रहना चाहते थे। जब प्रथम

अनीस और दबीर

अपने सर्दार के प्रसाद गुण की प्रशंसा करता तो

दूसरे अपने सर्दार की ओजस्विनी भाषा के गुण गाता था। इसी प्रकार एक दूसरे में दोष-गुण निकालते थे पर वास्तव में दोनों ही एक से एक बढ़कर थे, कोई कल्पना के मैदान में निकल जाता था तो दूसरा भाषा-सौष्ठव में ऊँचे उठ जाता था। दोनों ही लगभग साथ ही पैदा हुए, बढ़े और समान ही अवस्था पाकर पाँच छ महीने आगे पीछे साथ ही जमींदोज़ हुए। अनीस का जन्म ही कवि वंश में हुआ था पर दबीर स्वयं ही कवि होकर जन्मे था। अनीस ने जितना भाषा की स्वच्छता तथा सौंदर्य, महाविरों के सुप्रयोग और कविता के सरल प्रवाह पर परिश्रम किया है उतना ही परिश्रम दबीर ने भाषा में ओज तथा प्रभाव, अरबी के शैर आदि के अच्छे प्रयोग और भाव तथा कल्पना में उच्चता लाने में किया है। ऐसा करने में दबीर की भाषा में वह सारल्य नहीं आ सका, जो चित्ताकर्षक होता पर यह उनकी विद्वत्ता का दोष है। इन्हीं दोनों सुकवियों के कारण मर्सिए इतनी उन्नत अवस्था को पहुँच गए।

अनीस का वंश

जिस प्रकार अनीस के पूर्वजगण कवि हुए हैं, उसी प्रकार इनके वंशजों में भी अब तक कवि होते आए हैं। यह कम से कम आश्चर्य की बात है कि किसी वंश में आठ दस पुश्त तक बराबर विद्वान और सुकवि होते चले जायँ। इनके पुत्र मीर नफ़ीस ने लिखा है कि 'शमशेरे फ़साहत प है यह सातवाँ सैक़ल' अर्थात् उनके समय

तक सात पीढ़ियाँ, क्रमशः मीर इमामी, ख्वाजा अज़ीज़ुल्ला, मीर ज़ाहक, मीरहसन, मीर ख़लीक़, मीर अनीस और मीर नफ़ीस, पूरी हुईं। इनमें प्रत्येक में पिता-पुत्र ही का संबंध चला आया है। नफ़ीस के पुत्र 'जलीस' भी सुकवि थे। इस वंश के अन्य पुरुष भी सुकवि हुए हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक है।

अनीस के दो छोटे भाइयों का नाम मीर मुहम्मद 'मूनिस' और मीर मेह अली 'उन्स' था। ये दोनोंही अच्छे मर्सिया लिखने वाले और पढ़नेवाले थे। इन दोनों में मूनिस अधिक प्रसिद्ध हुए और इनके रचित मर्सिए तीन जिल्दों में प्रकाशित हो चुके हैं। महमूदाबाद के राजा अमीर हसन खाँ मर्सिए लिखने में इन्हें काफी धन देते थे। मूनिस को कोई पुत्र नहीं था और यह सन् १२९२ हि० के लगभग मरे। 'उन्स' के दो पुत्र मीर वहीद और मीर तअश्शुक अच्छे कवि हुए। यह नव्बे वर्ष की अवस्था में सन् १८९७ ई० के लगभग मरे।

मूनीस

अनीस के तीन पुत्रों में सबसे बड़े तथा योग्य पुत्र मीर खुर्शीद अली 'नफ़ीस' थे और इन्होंने अपने पिता के नाम को बढ़ाया, जिसके यह शिष्य भी थे। इनके भाइयों का नाम मीर सलीम और मीर रईस था। नफ़ीस के मर्सियों तथा अन्य रचनाओं के कई बड़े बड़े संग्रह हैं और इनकी कविता भी उच्च कोटि की है। यह सन् १९०१ ई० में पच्चीस वर्ष की अवस्था में मरे।

नफ़ीस

सैयद मुहम्मद हैदर का पुत्र सैयद अली मुहम्मद 'आरिफ़' नफ़ीस का दौहित्र था, जिसका कुल भार नफ़ीस ने स्वयं अपने ऊपर लिया था। इन्होंने कविता भी सिखलाई। मर्सिए लिखने में यह बड़े कुशल हुए और शीघ्र ही लखनऊ में अच्छा नाम पैदा कर लिया। महमूदाबाद के राजा सर मुहम्मदअली मुहम्मद खाँ इनसे कविता शुद्ध कराते थे और इन्हें सवा सौ रुपये मासिक देते थे। इनकी रचना में ओज अधिक है और यह मुख्य कथा भाग पर ही विशेष ज़ोर देते थे। इधर उधर का प्रपंच बढ़ाकर कविता का विस्तार नहीं करते थे। यह सन् १९१८ ई० में सत्तावन वर्ष की अवस्था में मरे।

आरिफ़

मीर अनीस के पौत्र और सलीम के पुत्र सैयद अबू मुहम्मद 'जलीस' 'रशीद' के शिष्य थे। यह होनहार सुकवि थे पर यौवन ही ही में सन् १३२५ हि० में मर गए। इन्होंने भी कुछ मर्सिए और ग़ज़ल लिखे हैं। इस वंश के अन्य कवि उरूज, फ़ायक, हसन और कदीम आदि हैं।

जलीस

मर्सियागोओं में 'अनीस' के वंश के अतिरिक्त एक और वंश भी प्रसिद्ध है, जो सैयद मुहम्मद मिर्ज़ा 'उन्स' का है। इनके पिता फ़ैज़ाबादनिवासी सैयदअली मिर्ज़ा और पितामह ज़ुल्फ़िक़ार अली मिर्ज़ा थे। यह नासिख़ के प्रसिद्ध शिष्यों में थे, जहाँ बहुधा इनके अन्य गुरुभाई गण एकत्र हुआ करते थे। अवध दर्बार से सौ रुपये मासिक वृत्ति

उन्स

मिलती थी पर उस राज्य का अंत होने पर अवध के नवाब मुहम्मदअली शाह की बेगम मलकए जहाँ के दारोग़ए-सफ़ा के पद पर नियुक्त हुए, जिसे योग्यता से निबाहा। रामपुर के नवाव कलबअली खाँ ने अपने कविता-गुरु अमीर मीनाई को इन्हें बुलाने के लिए भेजा था, जिससे यह वहाँ कुछ दिन जाकर रहे थे। सन् १८८५ ई० में पंचानबे वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हुई। इनके पाँच पुत्र थे—हुसेन मिर्ज़ा 'इश्क', अहमद मिर्ज़ा 'साबिर', सैयद मिर्ज़ा 'तअश्शुक', अब्बास मिर्ज़ा 'सब्र' और नवाव मिर्ज़ा। इनमें इश्क़ और तअश्शुक विशेष प्रसिद्ध हुए।

इश्क़ अपने पिता के शिष्य हुए और इन्होंने एक दीवान लिखा है। यह अपने समय के सुप्रसिद्ध मर्सियागो हुए हैं और अनीस तथा दबीर के समकालीन थे। इनके पौत्र मिर्ज़ा अस्करी 'मुअद्दब' भी अच्छे मर्सियागो थे, जो अपने चाचा 'रशीद' के शिष्य थे। 'तअश्शुक' सैयद साहब के नाम से प्रसिद्ध कवि हुए, जिन्होंने मर्सिए और ग़ज़ल दोनों लिखे हैं। यह दो बार कर्बला गए और अपने भाई 'इश्क' की मृत्यु पर लौटकर प्रसिद्धि प्राप्त की। बड़े भाई का प्रतिद्वंद्वी न बनने की इच्छा ही से यह वहाँ चले गए थे। यह नासिख़ के शिष्य थे और इनकी कविता में सरसता, भाव गांभीर्य्य और करुणा विशेष हैं। यह अच्छे कवि हो गए हैं। सन् १३०९ हि० में इनकी मृत्यु हुई और एक पुत्र मिर्ज़ा तअल्लुक छोड़ गए।

उन्स के द्वितीय पुत्र साबिर का सन् १८४७ ई० में अनीस की पुत्री से विवाह हुआ, जिससे ये दोनों प्रसिद्ध मर्सियागो वंश संबद्ध हो गए। इस संबंध के फल रूप यह

रशीद

'रशीद' पैदा हुए थे। वाजिद अली शाह साबिर को बराबर वृत्ति देते थे और नवाब मलकए-जहाँ के यहाँ दारोग़ा भी नियत कर दिया था। वाजिद अली शाह ने कलकत्ते जाते समय ज़ुहरामहल बेगम के यहाँ इन्हें नौकर रखा दिया था, जो बादशाह के यहाँ बेगम के नाम आए हुए पत्रों के जवाब की पांडुलिपि तैयार करते थे। यह ७२ वर्ष की उम्र प्राप्त कर सन् १८९४ ई० में मरे। रशीद का नाम मुस्तफा मिर्ज़ा उर्फ़ प्यारे साहब था और सन् १८४७ ई० में इनका जन्म हुआ था। अनीस की पौत्री से इनका विवाह हुआ। यह अपने चाचा 'इश्क' के शिष्य हुए, पर अनीस को कविता दिखलाते थे। इश्क़ के मरने पर तअश्शुक को भी कविता दिखलाते थे। भाषा में अनीस का और रीति में तअश्शुक का विशेष अनुकरण किया है। मर्सिया, ग़ज़ल, सलाम, रुबाई आदि खूब लिखा है। क़सीदे भी कुछ लिखे हैं। फारसी की वाक्य योजना का प्रयोग कम किया है। इनकी कविता में सरसता, सौकुमार्य और महाविरों के सुप्रयोग अच्छे हैं पर साथ ही कल्पना, व्यंजना आदि की कमी भी है। मर्सिए में साक़ीनामा और बहार (वसंतऋतु-वर्णन) का समावेश इन्होंने विशेष रूप से किया है। पहिले भी इसका समावेश होता था और

साधारण रूप में अनीस आदि इन पर कुछ लिख दिया करते थे पर इन्होंने इसे अधिक बढ़ाया। सन् १८९४ ई० में यह रामपुर गए। इसके अनंतर पटना और हैदराबाद गए, जहाँ इनका अच्छा सम्मान हुआ। यह सन् १९१८ ई० में मरे। हमीद, मुअद्दब, नसीरी, जलीस, अश्शार आदि प्रधान शिष्य थे।

औज

मिर्जा दबीर के सुपुत्र मिर्जा जाफ़र का उपनाम 'औज' था। यह अपने पिता के प्रदर्शित पथ पर चले और मर्सियागोई में अच्छी ख्याति पाई। पटना की जाफ़री बेगम साहिबः इन्हें दो सहस्र वार्षिक वृत्ति मार्सियागोई के लिए देती थीं। हैदराबाद और रामपुर के दरबारों तथा अवध के नवाबों से भी इन्हें बराबर सहायता मिलती थी। छंद शास्त्र के धुरंधर विद्वान थे, जिस पर एक अच्छा ग्रंथ लिखा है।

मर्सिया तथा उसका उर्दू साहित्य पर प्रभाव

सन् ६८० ई० में कर्बला युद्ध हुआ था, जिसमें अली के पुत्र हुसेन मारे गए थे। उस घटना को लेकर जो कविता की जाती उसी को मर्सिया कहते हैं। लखनऊ के नवाबगण शीआ थे और शीओं ही में प्रति वर्ष मुहर्रम महीने में इस घटना का उत्सव मनाया जाता है। इन नवाबों की छत्रच्छाया में यह उत्सव विशेष धूम-धाम से मनाया जाने लगा और मर्सिए पढ़े जाने लगे। पहिले इनमें शोकोद्गार मात्र रहता था पर मीर ज़मीर ने इसमें पहिले पहिल युद्ध-स्थल तथा युद्ध का वर्णन कर इसे रज़्मियः

अर्थात् युद्धीय बना डाला। उसमें बाद को सरापा अर्थात् नख-शिख का और अस्त्र शस्त्र, घोड़े आदि के वर्णन बढ़ाए गए। इस प्रकार सौ या उससे अधिक पदों के मर्सिए लिखे जाने लगे। ज़मीर और ख़लीक़ के दिखलाए पथ को अनीस और दबीर ने और भी प्रशस्त किया। मुसद्दस का प्रयोग इन्हीं लोगों ने किया, जो आगे चलकर प्रकृत कविता का प्रधान साधन हो गया। मर्सिया धार्मिक कविता है, इससे इसमें शराब, सुंदर युवक, वस्ल, विरह आदि को स्थान नहीं मिला और उर्दू साहित्य में वीर रस की कविता का जो अभाव था, उसे इसने पूरा कर दिया। अश्लील से अश्लील कवि भी जब इस मैदान में आता था तब वह पूरा भद्र बन जाता था और उसे धर्मभाव ही से कविता करना पड़ता था। वीरता, सत्य, न्याय आदि के वर्णन इसमें अच्छे होते हैं। द्वंद्व युद्ध, सेनाओं, युद्ध-वर्णन, वीरों के उत्तर-प्रत्युत्तर, शस्त्रों की प्रशंसा आदि प्रशंसनीय हैं। साथ ही उर्दू साहित्य में अभी तक स्फुट कविता विशेष थी और कभी कभी कोई मसनवी के रूप में प्रबंध काव्य लिखता था। पर मर्सियों के कारण संबद्ध लंबी लंबी कविता लिखना आरंभ हुआ। इसमें प्राकृतिक दृश्य के चित्रण तथा मनुष्य के मानसिक विकारों का वर्णन अच्छा होने लगा। कई लाख पंक्तियाँ लिखकर अनीस, दबीर आदि ने शब्दों, मुहाविरों आदि के मानों कोष ही तैयार कर डाले। यही मर्सिया हाली, आज़ाद और सरूर की कविता का आदर्श हुआ था।

दसवाँ परिच्छेद

उर्दू-साहित्य के अन्य केंद्र

जो उर्दू-साहित्य मुहम्मद शाह के समय में उत्तरी भारत में जन्म लेकर पहिले दिल्ली में और फिर दिल्ली तथा लखनऊ में केंद्रीभूत हो रहा था, वह दोनों स्थानों के आश्रयदाताओं के राज्य-भ्रष्ट होने पर सन् १८५७ ई० के अनंतर आश्रय की खोज में अन्य स्थानों में फैल गया।

विषय-प्रवेश

नवाब वाजिद अलीशाह के आश्रित बहुत से कवि कलकत्ते में रहते थे, जिनमें सात अधिक प्रसिद्ध थे। ये मटियाबुर्ज के सप्तर्षि कहलाते थे, जिनके उपनाम बर्क़, दुरख़शाँ, सौलत, बह्र, ऐश और हुनर थे। स्यात् ध्रुव स्थान पर अख़्तर स्वयं थे। अन्य प्रसिद्ध कविगण भी आते-जाते थे। उसी प्रांत के एक कवि अब्दुल्ग़फ़ूर ख़ाँ ख़ाल्दी 'नसख़' थे, जो राजशाही में डिप्टी कलेक्टर थे। सन् १८७५ ई० में इन्होंने 'सख़ुनेशोअरा' नामक एक संग्रह-ग्रंथ लिखा था। दफ़्तरे बेमिस्ल, क़ितए-मुंतख़िब, चश्मए-फ़ैज़, शहीदे-इशरत आदि कई पुस्तकें लिखीं। यह अच्छे समालोचक भी थे और इनकी अनीस तथा दबीर की आलोचना पठनीय है। मटियाबुर्ज के सिवा रामपुर, हैदराबाद, फ़र्रुख़ाबाद, पटना, मुर्शिदाबाद, भूपाल, टोंक

आदि अन्य स्थानों में इन दोनों केंद्रों से निकले हुए अन्य कवियों ने आश्रय पाया था। इनमें प्रथम दो विशेष उल्लेखनीय हैं, इसलिए पहिले साधारण स्थानों ही के विषय में लिखा जाता है। इन स्थानों के सिवा आगरे का नाम भी केवल 'नजीर' के कारण उल्लेखनीय हो गया है, जिन्होंने कभी राज्याश्रय की परवाह नहीं की।

'नजीर' का नाम वली महम्मद था और इसका पिता मुहम्मद फारुक दिल्ली-निवासी था। अहमद शाह अब्दाली की चढ़ाई के समय यह आगरे अर्थात् अकबराबाद आ बसा

नजीर अकबराबादी

और यहीं अपना विवाह कर लिया। इसे एक पुत्र गुलजार अली और एक पुत्री इमामी बेगम थी। फारसी तथा अरबी का ज्ञाता था और खुशखत लिखता था। यह संतोषी था इसलिए निमंत्रित होने पर भी लखनऊ नहीं गया। आगरे में शिक्षण-कार्य कर कालयापन करता था। यह लकवे से सन् १८३० ई० में वृद्ध होकर मरा। यह स्वभाव से विनोद प्रिय था और गाना सुनने, तमाशा देखने तथा तेहवारों में योग देने का प्रेमी था। इसमें धर्मांधता की कमी थी। इसने पहिले बाजार की बहुत हवा खाई पर बाद को सूफी हो गया।

नजीर ने कविता बहुत लिखी थी पर उसको संग्रह कर रखने में उसने ढिलाई की, जिससे इस समय जो संग्रह उसके नाम से मिलता है उसमें केवल छ सहस्र शैर हैं। रोटी

रचना

नामा, पैसानामा, बंजारानामा, कन्हैया का बालपन

आदि आदि कविताओं के पढ़ने तथा सुनने में जो आकर्षण है, उनके सिवा उनमें सांसारिक ऐश्वर्य में विरक्ति, भावोत्कर्ष और कवित्वशक्ति भी अपूर्व है। हिंदू-मुसलमान द्वेष का भी इसकी रचना में अभाव है। इसकी कविता इन कारणों से विशेष लोक प्रिय है तथा हिंदी लिपि में भी ये इसी कारण अनेक बार प्रकाशित हो चुकी हैं। इसने त्योहारों का भी अच्छा अनुभूत वर्णन किया है और बुलबुल तथा भालुओं की लड़ाई, पतंगबाजी, चिड़िओं आदि का भी सुंदर वर्णन किया है। इसने बाजार में यौवन में जो अनुभव प्राप्त किए थे, उसका वर्णन करने में भी यह नहीं चूके।

इनकी भाषा देशी थी, और उसे वलायती बनाने का कभी इन्होंने प्रयत्न नहीं किया। इनका चलती भाषा पर पूरा अधिकार था और फारसी तथा अरबी के कोषों से चुन-चुन कर अपनी भाषा को लद्दू बनाने की इन्हें आवश्यकता नहीं पड़ी। जैसा विषय चुना वैसी ही भाषा ली और वैसी ही वास्तविकता से उसका चित्रण भी कर डाला। इन पर अश्लीलता, ग्राम्य तथा भाषा-निरंकुशता का दोष लगाया जाय पर इन्हीं सबसे इनका ऐसे विषयों का वर्णन सजीव तथा मनोहर होगया है।

उर्दू साहित्य में मसनवियों को छोड़ दें तो मुक्तक कविता ही का आधिक्य है और नजीर ने ही पहिले पहिल छोटे छोटे विषय लेकर अल्प प्रबंध काव्य लिखे। यह प्रकृति का पुजारी न था पर

नगरस्थ बाग आदि का इसने वर्णन किया है। नजीर का विनोद भँड़ौआ नहीं था जिस पर सारा दरबार हो हो कर उठे, क्योंकि वह स्वतंत्र-प्रकृति का था और उसे किसी की चापलूसी नहीं करना था। इस प्रकार विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि इसका उर्दू साहित्येतिहास में निज का स्थान है और उसके अग्रगण्य कवियों में वह गिना जा सकता है।

यहाँ के नवाब अहमद खाँ बंगश के एक सर्दार तथा दत्तक पुत्र नवाब मेहबान खाँ 'रिंद' सुकवि थे और गानविद्या के भी ज्ञाता थे। मीर मुहम्मदी 'सोज़' तथा मिर्जा रफ़ीअ 'सौदा' लखनऊ जाते समय कुछ दिन यहाँ ठहरे थे और इन पर क़सीदे भी लिखे थे। इसके अनंतर यहाँ इसका विशेष प्रचार नहीं रहा, क्योंकि यह एक छोटी-सी रियासत थी और यहाँ के नवाबगण बराबर कविता-प्रेमी नहीं होते गए।

फर्रुखाबाद

राजा शिताबराय, जो बिहार के नायब दीवान थे, स्वयं कवि तथा कवियों के आश्रयदाता थे। इनकी मृत्यु पर सन् १७७३ ई० में इनके पुत्र राजा कल्याणसिंह उसी पद पर नियुक्त हुए। यह भी कवि थे और उपनाम 'राजा' रखते थे। मीर ज़ियाउद्दीन 'ज़िया' को कविता दिखाते थे। 'फ़ुग़ाँ' ने भी मुर्शिदाबाद और फ़ैज़ाबाद से लौटकर यहीं सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत किया था। मीर मुहम्मद बाक़र

अज़ीमाबाद (पटना)

'हज़ीं' नवाब सआदत जंग के दरबार में अंत तक रहे। दबीर के पुत्र औज को पटने की जाफ़री बेगम साहब बराबर सहायता देती रही थीं।

बंगाल के नवाब गण तथा उनके दरबारियों ने पश्चिमोत्तर से आए हुए कवियों का अच्छा स्वागत किया था। मीर सोज़ पहिले यहीं आए थे। प्रसिद्ध मीर क़ुदरतुल्ला 'क़ुदरत' भी यहाँ आए और यहीं सन् १२९१ ई० में इनकी मृत्यु हुई। मिर्ज़ा ज़हूर अली 'ख़लीक़' भी नवाजिश मुहम्मद खाँ शुहाबजंग के निमंत्रण पर आए, जो मर्सियागो और कवि थे। इस दरबार से कुछ तो उस देश के अशांत रहने तथा किसी एक राजवंश के दृढ़ता से न जमने के कारण उर्दू-साहित्य को विशेष आश्रय नहीं मिला।

मुर्शिदाबाद

रामपुर के पास यह एक स्थान है। जब नवाब शुजाउद्दौला ने रामपुर का राज्य नवाब फ़ैज़ुल्ला खाँ को दिया, तब उनके छोटे भाई नवाब मुहम्मद यार खाँ 'अमीर' को भी पचास सहस्र की जागीर दी थी। यह स्वयं कवि थे और कवियों का सम्मान भी करते थे। मीर सोज़ और सौदा तो बुलाने पर नहीं आए पर शेख़ क़ियामुद्दीन 'क़ायम' चाँदपुरी को इन्होंने अपना गुरु बनाया और सौ रुपये मासिक वृत्ति दी। मुसहिफ़ी, फ़िद्वी लाहौरी, मीर मुहम्मद नईम पर्वाना आदि अन्य कवियों का भी सम्मान किया था। यह चित्र-

टाँडा

कारी अच्छी जानते थे और विनयशील तथा योग्य पुरुष थे। सन् १७७४ ई० में इनकी मृत्यु हुई।

टोंक के नवाब मुहम्मद इब्राहीम अली खाँ सन् १८६६ ई० में गद्दी पर बैठे। यह 'खलील' उपनाम से कविता करते थे। अमीर 'मीनाई' के शिष्य हाफ़िज सैयद मुहम्मद हुसेन 'बिस्मिल' ख़ैराबादी को गुरु बनाया और इनकी मृत्यु पर इनके छोटे भाई 'मुज़तिर' से कविता ठीक कराते थे। ज़हीर तथा असद आदि कई प्रसिद्ध कवि इनके यहाँ सम्मानित हुए थे। असद के यहाँ कई शिष्य हुए, जिनमें असगर अली आबरू, हबीबुला जब्र आदि प्रसिद्ध हैं। इन नवाब के शाहज़ादे भी कविता के प्रेमी हैं।

टोंक

भूपाल के नवाब नज़र मुहम्मद खाँ की पुत्री नवाब सिकंदर बेगम का विवाह नवाब जहाँगीर मुहम्मद खाँ से हुआ था, जो 'दौलत' उपनाम से कविता करते थे। इनका उर्दू दीवान प्रकाशित हो चुका है। इनकी पुत्री नवाब शाहजहाँ बेगम स्वयं कवि थीं। उर्दू में पहिले 'शीरीं' और फिर 'ताजवर' उपनाम रखा था तथा फ़ारसी में 'शाहजहाँ' था। इनका पहिला विवाह बख़्शी बेह मुहम्मद खाँ से हुआ था, जिसकी पुत्री वर्तमान नवाब सुल्तान जहाँ बेगम हैं। दूसरा विवाह सन् १८७१ ई० में नवाब सादिक़ हुसेन से हुआ, जो 'तौफ़ीक़' उपनाम से कविता करते थे। फ़ारसी और अरबी में

भूपाल

'नवाब' उपनाम है। इन्होंने धर्म आदि विषयों पर लगभग डेढ़ सौ पुस्तकें लिखी हैं। भूपाल की वर्तमान बेगम का उर्दू पर विशेष आग्रह है और मुस्लिम यूनिवर्सिटी आदि शिक्षा देने वाली संस्थाओं को काफी सहायता दी है। भूपाल में कई स्कूल खुल गए हैं। यह स्वयं विदुषी हैं और कई पुस्तकें लिखी हैं। कवियों तथा लेखकों को पुस्तक-प्रकाशन आदि में बराबर सहायता देती रही हैं।

पूर्वोल्लिखित स्थानों के सिवा काठियावाड़ में मंगरोल स्थान के नवाब बहादुर ने अपने जीवन-काल में जलाल, तसलीम, दाग और शमशाद आदि को निमंत्रित कर सम्मानित किया था। पर यह स्थान इतना दूर और साधारण है कि उर्दू-से साहित्य के लिये वह उपयुक्त नहीं हुआ।

अन्य स्थान

अलवर-नरेश महाराज शिवदान सिंह ने ज़हीर, तस्वीर, तिश्नः, मजरूह, सालिक आदि को आश्रय दिया था। फ़िसानए-अजाएब के रचेता सरूर को भी अपने यहाँ बुलाया था। ज़हीर जयपुर भी गए थे तथा उनके छोटे भाई 'अनवर' भी वहीं सम्मानित होकर अंत तक रहे। मालेर कोटला और भावलपुर में भी कवियों की प्रतिष्ठा हुई थी। अब रामपुर तथा हैदराबाद (दक्षिण) के विषय में संक्षेप में लिखा जाता है।

यह राज्य दिल्ली और लखनऊ के बीच में पड़ता है और दोनों ही स्थानों से प्रायः बराबर दूरी पर होने के कारण यहाँ लोगों का आना-जाना बना हुआ था। दिल्ली से निकले हुए

रामपुर

कविगण इसी ओर से होते हुए लखनऊ जाते थे। यहाँ के नवावगण स्वयं कवि थे तथा गुणियों के आश्रयदाता थे। पुरस्कार तथा वृत्तियाँ देने में उदार भी थे। ये इन कवियों को निरा वेतनभोगी सेवक न समझकर उनसे मित्रवत् व्यवहार करते थे, जिससे थोड़े ही पर संतोष कर कविगण इस दर्वार को नहीं छोड़ते थे। इन्हीं कारणों से रामपुर उर्दू साहित्य का एक अच्छा केंद्र वन गया।

नवाव मुहम्मद सैयद खाँ की मृत्यु पर सन् १८५५ ई० में यह गद्दी पर बैठे। दस वर्ष के राज्य-काल में इन्होंने रियासत की प्रतिष्ठा वढ़ाई। बलवे में सर्कार की सहायता कर सम्मानित हुए। यह साहित्य और कला के प्रेमी तथा कवियों के आश्रयदाता थे। स्वयं उर्दू और फ़ारसी में कविता करते थे और नाज़िम उपनाम रक्खा था। पहिले मोमिन तब ग़ालिब और ग़ालिव की मृत्यु पर अमीर को कविता दिखलाते थे। दिल्ली और लखनऊ दोनों स्थानों के कवियों का इनके यहाँ जमघट हुआ, जिससे दोनों केंद्रों की विशेषताओं का संमिलन आरंभ हुआ, जो इनके पुत्र के समय पूरा हुआ। ग़ालिव, तस्क़ी, असीर, जलाल, अमीर, मीनाई, दाग़ आदि सुप्रसिद्ध कविगण दोनों स्थानों से यहाँ बराबर आया करते थे। इनकी मृत्यु सन् १८६५ ई० में हुई।

नवाव यूसुफ़ अली खाँ

नवाव यूसुफ़ अली खाँ की मृत्यु पर उनके पुत्र नवाव कलव

अली खाँ बहादुर इकतीस वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे। यह अपने पिता से भी बढ़कर गुणियों के प्रेमी हुए और इसी से इन कवियों को अपने कार्य में कुछ भी रुकावट नहीं हुई। यह एक सुयोग्य प्रबंध-कर्त्ता थे जिससे राज्य-वृद्धि के साथ साथ कवियों, गायकों तथा अन्य गुणियों का अच्छी प्रकार आदर-सत्कार भी करते रहे। अब्दुल हक ख़ैराबादी, अब्दुल हक मुहंदिस, इर्शाद हुसेन, सैयद हसन शाह मुहद्दस, मुफ्ती सादुल्ला आदि योग्य विद्वान, मुहम्मद इब्राहीम, अली हुसेन, अबुल् अली, हुसेन रज़ा आदि विख्यात हकीम और असीर, अमीर, दाग़, जलाल, तस्लीम, बह्र, मुनीर, क़लक़, उरूज, हया आदि प्रसिद्ध कवि इनके आश्रय में रहते थे। नवाब कुछ ही सज्जनों को सौ से अधिक वेतन देते थे और उसमें से बहुतों को राज्य के कार्य में लगा दिया था, जिससे वे सहायता पाते हुए राज्य को बोझ भी नहीं हुए। इनकी मृत्यु १३ मार्च सन् १८८७ ई० को हुई थी। पहिले इन्होंने मौलाना फ़ज़ल हक से शिक्षा प्राप्त की। उर्दू और फारसी गद्य में बुलबुले नग़मए संज, तरानएगम, क़ंदीले हरम आदि कई पुस्तकें लिखीं। अमीर मीनाई उर्दू में इनके कविता गुरु थे। इनका उपनाम 'नवाब' था। फ़ारसी में इनका एक दीवान ताजेफ़र्रुखी है। उर्दू में इन्होंने नशए-ख़ुसरवानी, दस्तंबूरीए ख़ाक़ानी, दुर्रतुल इंतखाब और तौक़ें सख़ुन चार दीवान लिखे, जो अच्छे हैं। शब्द विज्ञान का

नवाब कलब अली खाँ

भी इन्हें प्रेम था; इससे तर्क-वितर्क में स्वयं भाग लेते थे और अशुद्ध तथा अनुपयुक्त शब्दों को वहिष्कृत कर देते थे।

इनके दर्बार की एक और विशेषता यह थी कि दोनों साहित्य केंद्रों के कवियों का यहाँ संमिलन हो रहा था और क्रमशः दोनों ही पत्त वालों ने एक दूसरे के गुणों को अपनाया। नासिख की शैली की अस्वाभाविकता तथा आडंबर का अंत हो चला और दिल्ली केंद्र के पुराने शव्द तथा महावरों के प्रयोग निकाल दिए गए। समय के अनुकूल शुद्ध भावपूर्ण कविता का प्रचार बढ़ रहा था, इससे कविगण भी अपनी अपनी लीक पीटना छोड़कर सच्चे हार्दिक उद्गार को प्रसाद युक्त भाषा में कविता बद्ध करने लगे थे। अमीर, असीर, वह्न, कलक़ आदि लखनऊ के कवि थे और दाग़ तथा तस्लीम दिल्ली की शैली के समर्थक थे। जनता में अंतिम दो की कविता का बहुत ही प्रचार था, इससे अंत में लखनऊ के कवियों ने भी उन्हीं की शैली पकड़ी। अमीर के दूसरे दीवान सनमखानए इश्क़ के देखने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। इनके शिष्य हफ़ीज़, जलील, रियाज़ तो और भी इस ओर बढ़े हैं।

रामपुर के वर्तमान नवाब सन् १८८९ ई० में १६ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे। ये बड़े ही योग्य और गुणियों के आश्रय दाता हैं। यह स्वयं कवि हैं और कवियों तथा विद्वानों को अच्छी प्रकार पुरस्कृत करते हैं। भिन्न भिन्न उपयोगी संस्थाओं को भी बराबर दान देकर सहायता करते हैं।

नवाब मुहम्मद हामिद अली खाँ

मुंशी अमीर अहमद 'अमीर' के पिता का नाम मौलवी करम मुहम्मद था और इनका जन्म सन् १८२८ ई० में लखनऊ में हुआ। हज़रत मख़दूम शाह मीना नामक एक फ़कीर के संबंध के कारण यह मीनाई कहलाए। इस फ़कीर का मक़बरा लखनऊ में है। लखनऊ के फिरंगी महल में इन्होंने शिक्षा प्राप्त की। बुद्धि तथा प्रतिभा अधिक थी, इससे शीघ्र ही फ़ारसी तथा अरबी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। वैद्यक, ज्योतिष आदि में अच्छा गम हो गया था। चिश्ती साबरिय: के सज्जादनशीन अमीर शाह को धर्म का गुरु बनाया और कविता में सैयद मुज़फ्फ़र अली ख़ाँ 'असीर' के शिष्य हुए। प्रतिभाशाली तथा ईश्वरप्रदत्त कवित्व-शक्ति युक्त होने से यह शीघ्र अपने गुरु से आगे बढ़ गए। समय भी आरंभ में नासिख तथा आतिश की प्रतिद्वंद्विता का था और फिर सबा, ख़लील, रिंद आदि की कविताओं के साथ साथ अनीस तथा दबीर के मर्सियागोई की गूंज से इनका मस्तिष्क परिष्कृत हो चुका था। इनकी प्रसिद्धि शीघ्र ही फैल गई और सन् १८५२ ई० में चौबीस ही वर्ष की अवस्था में नवाब वाजिदअली शाह ने इन्हें बुलवा कर इनकी कविता सुनी और प्रसन्न होकर अपने दर्बार में रख लिया। बादशाह की आज्ञानुसार इर्शादुस्सुल्तान और हिदायतुस्सुल्तान लिख कर ख़िलअत तथा पुरस्कार पाया। इस प्रकार इनकी ख्याति उन्नति पर थी कि अवध राज्य का अंत हो गया। कुछ दिन

अमीर मीनाई

जीविका की खोज में रहे पर अंत में नवाब यूसुफ़अली खाँ के बुलाने पर वहाँ गए और वहीं रह गए। यूसुफ़अली खाँ ने इन्हें अदालत दीवानी में काम दे दिया जिस कारण यह मुफ्ती कहलाए। इनकी मृत्यु पर यह नवाब कलबअली खाँ के कविता-गुरु हुए। इस समय रामपुर में बहुत से प्रसिद्ध शायर एकत्र थे और ग़ालिब भी कभी कभी आया करते थे। जब कलकत्ते से हैदराबाद जाते हुए सन् १९०० ई० में निज़ाम बनारस में ठहरे थे, तब मिर्ज़ा दाग़ के द्वारा इन्हें भी स्वागत में कसीदः पढ़ने का अवसर मिला था। उसी वर्ष यह रामपुर छोड़कर हैदराबाद को रवाना हुए। मार्ग में कुछ दिन भूपाल में ठहरे थे। यह हैदराबाद पहुँचे पर वहाँ ऐसे माँदे हुए कि डेढ़ महीने बाद वहीं १३ अक्तूबर सन् १९०७ ई० को तिहत्तर वर्ष की अवस्था में मर गए। दाग़ और रत्ननाथ सरशार ने इनकी अच्छी सुश्रूषा की। इनके दो पुत्र लतीफ़ अहमद अख़्तर और जलील भी साथ थे।

इर्शादुस्सुल्तान और हिदायतुस्सुल्तान का ऊपर उल्लेख हो चुका है। ग़ैरतेबहारिस्तान में बलवे के पहिले की कविताओं का संग्रह था और वह बलवे में नष्ट हो गया। इसका कुछ अंश स्मरण-शक्ति द्वारा लिखा जा कर दीवाने मुंतख़िब में प्रकाशित हुआ है। नूरे तजल्ला और अब्रे करम दो मसनवी बलवे के पहिले लिखा था। पैगंबर की प्रशंसा में एक मुसद्दस, जन्म पर सुबहे अज़ल, मृत्यु पर शामे आबाद

रचनाएँ

और लैलतुलक़द्र कविताएँ लिखीं। सन् १८६८ ई० में छ वासोख़्तों का एक संग्रह मजमूअए वासोख़्त के नाम से संकलित हुआ। इंतख़ाबे यादगार या तज़्किरः शोअराए-रामपुर नवाब कलबअली खाँ की आज्ञा से सन् १८७३ ई० में लिखा गया था। मिरातुल् ग़ैब दूसरा, जो पहिला माना जाता है, और सनमख़ानएइश्क तीसरा दीवान है। ख़ातिमुन्नबी नामक दीवान नातियः मिरातुलग़ैब के साथ प्रकाशित हुआ। जौहरे इंतख़ाब और गौहरे इंतखाब दो छोटे छोटे संग्रह इन दीवानों में परिशिष्ट रूप में दिए गए हैं, जो मीर तथा दर्द की शैली पर लिखे गए कहे जाते हैं। चौथे दीवान में क़सीदे, रुबाई आदि हैं। सुर्मए बसीरत में फारसी तथा अरबी के कुछ शब्दों के शुद्ध प्रयोग बताए गये हैं। अमीरुल् लुग़ात नामक वृहत् कोष लिखना आरंभ किया, जिसकी केवल तीन जिल्दें लिख सके। प्रथम दो बड़ी बड़ी जिल्दें, जिनमें केवल प्रथम अक्षर ही आया है, प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनसे इनकी विद्वत्ता, गवेषणा तथा भाषा विज्ञान की परदर्शिता और परिश्रम ज्ञात होता है। यह नवाब कलब अली खाँ के समय ही आरंभ हो चुका था। बहारे हिंद उर्दू का छोटासा कोष भी तैयार किया था। ख़ियाबानिए आफ़रीनश मुहम्मद के जन्म स्थान पर एक छोटी पुस्तक है। इनके पत्र तथा गद्य पद्य के भिन्न भिन्न लेख भी बहुत हैं, जिनमें इनके पत्रों का संग्रह अहसनुल्ला खाँ 'साक़िब' ने संपादित कर प्रकाशित कराया है।

इनके शिष्यों की संख्या भी वहुत है, जिनमें कुछ प्रसिद्ध कवि हुए हैं। इनमें रियाज़, जलील, मुज़तिर, कौसर, नवाव, असगर, हफ़ीज़, सरशार, आह, जाह, ज़ाहिद, वसीम, हैराँ,

शिष्य तथा संतान

अख़्तर, कमर आदि प्रसिद्ध हैं। इनके चार पुत्र थे, जिनके नाम क्रमशः मुंशी मुहम्मद अहमद 'महो' और 'कमर', मुमताज अहमद 'आर्ज़ू', मसऊद अहमद 'जमीर' और लतीफ अहमद 'अख़्तर' हैं।

यह प्रतिभाशाली कवि और योग्य विद्वान थे। इनकी आरंभिक कविताएँ शिथिल हैं और लखनऊ साहित्य-केंद्र के नासिख की चलाई शैली की विशेषताओं से पूर्ण हैं पर

रचना शैली

इन्होंने उसे समय के अनुकूल न पाकर अपनी शैली वदल दी, जैसा इनके दीवानों के मनन करने से स्पष्ट ज्ञात हो जायगा। इन्होंने अपने प्रतिद्वंद्वी दाग़ की दिल्ली की शैली को सर्वसाधारण-प्रिय होते देखकर उसी का अनुकरण किया और इससे इनकी कविता अधिक लोकप्रिय होने लगी। यह सभी प्रकार के छंदों में कविता लिखने में सिद्धहस्त थे। इनकी कविता श्लिष्ट और प्रसाद तथा सौकुमार्य गुणों से पूर्ण होती थी। विचार-गांभीर्य के साथ अलंकारों की अनावश्यक भरमार भी नहीं थी। इन्हें छंदों की धारा ऐसी सिद्ध थी कि उनमें गान सा प्रवाह रहता था। यह सूफ़ी मत के समर्थक तथा पीर वन गए थे, इससे उसका रंग भी इनकी कविता पर पूरा है। उर्दू कविता में

विरह-पीड़ित प्रेमी की करुणपूर्ण गाथा सभी ने गाई है पर इसमें भी इन्होंने अपनी विशेषता रखी है।

इतिहास में इनका स्थान

अमीर बड़े ही सज्जन और विनम्र पुरुष थे। पक्षपात छू नहीं गया था और सभी से मिलते जुलते थे। इन्होंने कभी किसी की हजो नहीं की और न किसी के उभाड़ने से अपने प्रतिद्वंद्वी दाग़ से किसी प्रकार का विरोध किया। बराबर दोनों में मित्रता बनी रही। धार्मिक विचारों में बड़े कट्टर थे और इनका आचरण भी मत के अनुसार सच्चा था। ऐसे गुणों का कविता पर भी असर पड़ा और ये अपने समकालीन लोगों में बहुत ही सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। इनकी रचनाओं के देखने ही से ज्ञात हो जाता है कि उर्दू साहित्य के इतिहास में इनका स्थान कैसा होगा। इनकी कविताएँ बड़ी रुचि से पढ़ी जाती हैं और वर्तमान समय के कवियों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है।

दाग़

नवाब मिर्ज़ा दाग़ का जन्म सन् १८३१ ई० में हुआ था और इनके पिता नवाब शम्शुद्दीन खाँ लोहारु के नवाब जिआ-उद्दीन के भाई थे। जब यह पाँच या छ वर्ष के थे तभी इनके पिता की मृत्यु हो गई, जिसके बाद इनकी माता ने बहादुरशाह ज़फ़र के पुत्र मिर्ज़ा मुहम्मद सुल्तान से विवाह कर लिया। दाग़ दिल्ली के किले में रहने लगे। यहाँ इन्होंने अच्छी शिक्षा प्राप्त की। सुलिपि लिखना,

घुड़सवारी तथा युद्ध विद्या भी सीखा और मौलवी ग़ियासुद्दीन से फारसी पढ़ा, जो प्रसिद्ध कोष ग़ियासुल्लुगात के रचेता कहे जाते हैं। तेरह वर्ष की अवस्था थी, तभी कविता करने का शौक़ हुआ और यह ज़ौक के शिष्य हुए। शीघ्रही यह प्रसिद्ध हो गए और इनकी आरंभिक रचना की बादशाह 'ज़फ़र' ने भी प्रशंसा की। इनके बहुत से शिष्य भी होने लगे। सन् १८५६ ई० में इनके द्वितीय पिता की मृत्यु हो गई और दूसरे ही वर्ष बलवा भी हो गया, जिससे दिल्ली का राजाश्रय नष्ट हो गया। तब यह सपरिवार रामपुर चले गए, जहाँ यह दारोग़ए अस्तबल और युवराज कलब अली खाँ के दरबारी नियुक्त हुए। यह सन् १८८७ ई० में नवाब कलब अली खाँ की मृत्यु तक वहीं आराम से रहे, जिसके अनंतर अभिभावक समिति ने कवियों को फालतू बताकर निकाल दिया। इन्होंने इसी बीच नवाब के साथ मक्के की यात्रा की तथा लखनऊ, पटना और कलकत्ते भी घूम आए। रामपुर से यह दिल्ली चले आए और फिर इसके उपरांत लाहौर, अमृतसर, कृष्णगढ़ आदि स्थानों में घूमते हुए सन् १८८८ ई० में हैदराबाद पहुँचे। राजा गिरधारी प्रसाद सक्सेना 'बाक़ी' के द्वारा निज़ाम से भेंट करना चाहा पर बहुत दिन ठहर कर दिल्ली लौट आए। दो वर्ष बाद नवाब आस्मानज़ाह के बुलाने पर फिर हैदराबाद गए और निज़ाम से परिचय हुआ। यह निजाम के कविता-गुरु नियुक्त किए गए और साढ़े चार सौ रुपये मासिक वेतन मिलने लगा,

जो बढ़कर सहस्र और फिर डेढ़ सहस्र रुपये मासिक हो गया। इसके सिवा और भी भेंट पुरस्कार मिलता गया, जिनका कसीदों में उल्लेख किया है। इन्हें उस्तादुस्सुलतान, नाजिमयारजंग, दबीरुद्दौला, फसीहुल मुल्क जहाँ-उस्ताद की पदवियाँ मिली। ये लगभग पंद्रह वर्ष हैदराबाद में रहे, जहाँ इनकी सन् १९०५ ई० में मृत्यु हुई। इन्होंने नसीर की मृत्यु के अनंतर हैदराबाद की मुरझाती काव्यलता को फिर से प्रफुल्लित कर दिया था। दाग़ बड़े शीलवान, विनम्र, विनोद प्रिय और स्पष्टवादी पुरुष थे। आत्माभिमानी होते हुए भी घमंडी न थे और अपने प्रतिद्वंद्वियों से कभी द्वेष या वैमनस्य न रख कर प्रेमपूर्ण बर्ताव ही करते रहे। इन्होंने किसी की हजो नहीं कही पर अपनी उन्नति के मार्ग को सदा प्रशस्त करने में सयत्न रहे। इनकी प्रसिद्धि भी शीघ्र और बहुत हुई तथा इनके समकालीन अमीर, जलाल आदि की ख्याति से बढ़ गई थी। प्रसिद्धि के साथ साथ धन की प्राप्ति भी खूब हुई और इनके शिष्यों की संख्या भी सैकड़ों थी।

गुलज़ारे दाग़, आफ़तावे दाग़, माहतावे दाग़ और यादगारे दाग़ नामक चार दीवान हैं, जो प्रेम से शराबोर हैं। प्रथम दो रामपुर की रचनाएँ हैं और वहीं प्रकाशित हुई हैं। इनमें छंदशास्त्र पर ध्यान दिया गया है, क्योंकि ये उन कवि सभाओं में पढ़ी जाती थीं, जिनमें अमीर जलाल, तसलीम आदि आते थे। अंतिम दो में हैदराबाद की

रचनाएँ

रचित कविताएँ हैं, जिनमें प्रौढ़ता विशेष होते हुए भी कवित्व की कमी ज्ञात होती है। अंतिम के साथ जमीमए यादगारे-दाग़ भी इनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ था। इन्होंने कलकत्ते की एक वेश्या मुन्नी बाई 'हिजाब' के प्रेम पर फरियादे-दाग़ मसनवी लिखा है, जिसमें काव्य-सौष्ठव के साथ अश्लीलता भी काफी है। प्रेमोपासक होने के कारण इनके क़सीदे ओजपूर्ण नहीं हो सके। ये सौदा, जौक क्या, अमीर के क़सीदों को भी नहीं पहुँचे। इनकी रुबाइयाँ भी इसी प्रकार की हैं। तारीख़ें अच्छी कही हैं। विद्रोह से दिल्ली के नष्ट होने पर जो कविता की है वह कारुण्यपूर्ण है।

इनके शैली की सफलता की पहिली कसौटी उसकी लोकप्रियता है। इनकी शैली का मर्म यही था कि उसमें विद्वत्ता दिखलाने को क्लिष्ट वाक्य योजना, फारसी-अरबी के कठिन शब्दों के प्रयोग, वागाडंबर में अर्थ छिपाने का प्रयत्न नहीं है, प्रत्युत् यथाशक्ति सारल्य तथा सुगमता लाने ही का प्रयास है। प्रसाद गुण से इनकी कविता ओत-प्रोत है और भाषा की स्वच्छता के लिए यह विशेष प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता में भरती के शब्द नहीं हैं और न छंद के लिए कम ही है। अलंकार कविता के सौंदर्य को बढ़ाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं, उनके लिए कविता नहीं की गई है। इनकी कविता बहुत ही श्लिष्ट होती थी और अर्थ समझने में कभी कष्ट नहीं होता था। प्रवाह ऐसा स्वच्छ है कि पढ़ते ही बनता है। विरहियों के कष्टमय उद्गार, प्रेम

रचना शैली

तथा श्रृंगारादि वर्णन, उत्तर प्रत्युत्तर आदि हृदयग्राही और चित्ता-कर्षक हैं। इन्हीं सबसे इनकी कविता सर्व साधारण में विशेष प्रचलित हुई। इनकी कविता कुरुचिपूर्ण है, इनका प्रेम उच्च नहीं है प्रत्युत् क्रयविक्रय की वस्तु है। श्रृंगारादि दिखावटी हैं, हावभाव-वर्णन अश्लील है और विरह-वेदना करुण तथा स्वाभाविक नहीं है। प्रत्येक महाकवि का कुछ संदेश रहता है, इनमें कहीं कुछ नहीं है। मानसिक विकारों का विश्लेषण और विचार-गंभीर्य विशेष नहीं है। इतना होने पर भी दाग़ का स्थान उर्दू साहित्य के इतिहास में बहुत ऊँचा है। भाषा-सौष्ठव तथा लोकप्रिय रचना के कारण यह अमर कवि हुए हैं और अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवि अमीर के प्रतिद्वंद्वी रहे।

शिष्य गण

हैदराबाद के नीज़ाम मीर महबूब अली खाँ 'आसफ़', डा० इक़बाल, सायल देहलवी, अहसन, बेखुद देहलवी, बेखुद बदायूनी नूह नरवी, अहसन मारहरवी, नसीम भरतपुरी, जिगर मुरादाबादी, फ़ीरोज, आग़ा देहलवी आदि बहुत से प्रसिद्ध कवि इनके शिष्य थे। कहा जाता है कि लगभग डेढ़ सहस्र कवि इन्हें अपना उस्ताद मानते थे।

अमीर और दाग़

ये दोनों कवि समकालीन थे और प्रायः बहुत दिनों तक एक ही आश्रय में रहने से प्रतिद्वंद्विता के कारण दोनों ने एक ही तरह में बहुत कविता की है। ख्याति में वे प्रायः समान ही थे पर कुछ लोग दाग़ की प्रसिद्धि अधिक मानते

की तुलना हैं। दोनों ही के शिष्यों की संख्या बहुत थी और सम्मान भी था, पर कविता से धन तथा यश की प्राप्ति दाग़ ही को अधिक हुई। दाग यदि लोकप्रिय थे तो विद्वन्मंडली में अमीर को अधिक आदर मिलता था। एक दिल्ली और दूसरा लखनऊ की शैली का जन्म से पोषक रहा पर रामपुर में सम्मिलन होने पर प्रथम का द्वितीय पर कुछ रंग चढ़ गया। दोनों ही की शैली का अलग अलग उल्लेख हो चुका है। इस शैली परिवर्तन में यद्यपि अमीर बहुत सफल हुए हैं पर अपने प्रतिद्वंद्वी को नहीं पा सके। कवित्व के सभी गुणों की विवेचना करने पर दोनों ही बहुत ऊँचे नहीं उठते और इन दोनों में भी अमीर ही को विशेष महत्व देना चाहिए। अमीर विद्वान थे, जिससे उनकी कविता में किसी प्रकार का दोष या अशुद्धि नहीं है, पर दाग इससे बचे नहीं हैं। दाग केवल गजल में सिद्धहस्त थे और इसीसे कसीदे में अमीर की समानता भी न कर सके। गद्य लेखन और समालोचना में अमीर की योग्यता बहुत बढ़ी चढ़ी थी। शब्द के गौरव, भाव-गांभीर्य तथा सौकुमार्य में भी अमीर बढ़कर हैं। पर भाषा-सौष्ठव, व्यंग्य, सारल्य और प्रवाह में दाग कहीं बढ़ गए हैं। उर्दू की इस शैली की कविता का विशेष प्रचार दाग़ ही के कारण हुआ। हैदराबाद में जम जाने पर ऐश्वर्य के साथ इनकी कविता शिथिल होती गई पर अमीर की अवस्था के साथ प्रौढ़तर होती चली गई।

हकीम असरार अली दास्तानगो के पुत्र हकीम जामिनअली 'जलाल' का जन्म सन् १८५३ ई० में लखनऊ में हुआ था।

जलाल

फारसी तथा अरबी और हकीमी का आरंभ ही से अध्ययन करते रहे पर शीघ्र ही कविता की ओर झुकाव हो जाने के कारण इन गहन विषयों का पठन पाठन रुक गया। नासिख के प्रसिद्ध शिष्य 'इश्क' से इसलाह लेने लगे और कवि सभाओं में बराबर जाने से इनकी प्रतिभा भी जागृत होने लगी। इश्क के एराक़ जाने पर यह बर्क के शिष्य हुए। सन् १८५७ ई० के विद्रोह के बाद इन्होंने अत्तारी की दूकान खोली, पर कविता का प्रेम बना ही रहा। इनके पिता नवाब रामपुर के यहाँ दास्तानगो अर्थात् कहानी कहनेवाले रह चुके थे, इससे यह वहीं सौ रुपये मासिक पर नियुक्त हो गए। ये बीस वर्ष वहाँ रहे और कई बार तुनुक-मिजाज़ी के कारण नौकरी छोड़ा पर गुणग्राही नवाब बराबर बुलाकर इन्हें फिर नियत करते थे। नवाब कलबअली खाँ की मृत्यु पर यह मंगरोल के नवाब हुसेन मिआँ के बुलाने पर वहाँ गए पर कुछ दिन बाद वहाँ से लखनऊ लौट आए। इस पर भी वह इन्हें पच्चीस रुपये पेंशन भेजते रहे और प्रत्येक क़सीदे के लिए सौ रुपये देते थे। सन् १९०९ ई० में सतहत्तर वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हुई।

शहीदे शोख़तबअ, करश्मः जाते सख़ुन, मज़मूनहाय दिलकश और नज़्मे निगारीं नाम के चार दीवान क्रमशः लिखे। उर्दू महाविरों

रचनाएँ और रचना शैली

का एक बड़ा कोष सरमायए ज़बाने उर्दू के नाम से लिखा है। तारीख़ लिखने पर इफ़ादए तारीख़, हिंदी के शब्दों की व्युत्पत्ति पर मुतंख़बुल् क़वायद और लक्षणों पर मुफ़ीदुल् फ़ुसहा नामक पुस्तकें लिखीं। गुलशने फ़ैज़ नामक उर्दू का एक कोष लिखा और एक कोष 'तनकीहुल्लुग़ात्' कोषों को शुद्ध करने के लिए लिखा था। इन्होंने अपने गुरु की तरह भाषा पर अधिक ध्यान दिया और उसी पर कई पुस्तकें भी लिखीं। इनमें अहंमन्यता की मात्रा अधिक थी और इसीसे प्रायः अच्छे कवियों के बीच में कविता पढ़ना भी हेय समझते थे। एक बार किसी शब्द पर ग़ालिब से तर्क करते समय ग़ियासुल्लुग़ात् के रचेता ग़ियासुद्दीन को बालकों का पढ़ानेवाला कह डाला था। इस कारण इनसे बहुधा अन्य लोगों से बहस हो जाती और तसलीम के एक शिष्य 'शौक़' ने तो दो पुस्तकें ही लिखकर इनकी अशुद्धियाँ दिखलाई हैं। इनकी शैली लखनऊ के नासिख़ की शैली का अनुकरण है और इनकी कविता में विशेष प्रतिभा नहीं दिखलाती। साधारण कविता ही इनके भारी दीवानों में भरी है पर यह अधिक स्वाभाविक और शुद्ध है। शब्दों के प्रयोग तथा योजनाएँ निर्दोष हैं। महाविरे के प्रयोग भी इनके बड़े सुंदर हैं। इनकी कविता के साधारण होने का प्रधान कारण यही है कि यह स्वयं भी बहुत लिखते थे और अपने शिष्यों की बीसियों ग़ज़ल और क़सीदे नित्य शुद्ध करते थे। यह सब होते हुए भी

इतिहास में इनका स्थान अच्छा है और इनके शिष्य भी बहुत हुए हैं। इनमें इनके पुत्र कमाल तथा आर्जू, अहसन और सर्दार उधमसिंह प्रसिद्ध हैं।

अहमद हुसेन अमीरुल्ला 'तस्लीम' का जन्म सन् १८२० ई० में फैजाबाद के एक गाँव मंगलसी में हुआ था। इनके पिता मौलवी अब्दुस्समद लखनऊ आकर नवाब मुहम्मद अली शाह के फौजी विभाग में नौकर हुए, जहाँ अंत में तीस रुपये तक वेतन मिलने लगा था। अपने पिता के वृद्ध हो जाने पर तस्लीम भी सेना में भर्ती हो गए। अपने पिता और शहाबुद्दीन से फारसी तथा भाई अब्दुल्लतीफ़ और मौलवी सलामतुल्ला से अरबी सीखा। इन दोनों भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। खुशखत लिखनेवाले थे, इससे नवल-किशोर प्रेस में बीस रुपये मासिक पर नौकरी की। कविता में नसीम के शिष्य हुए और इसीसे दिल्ली की शैली के समर्थक हुए। जिस पल्टन में यह नौकर थे, उसके टूटने पर यह जीविका जाती रही तब मिर्जा मेहदी अली खाँ कबूल के द्वारा वाजिद अली शाह के दरबार में तीस रुपये मासिक पर नियत हो गए। ग़दर की गड़बड़ी में यह जीविका के खोज में रामपुर गए पर कुछ दिन टक्कर खाने पर नवाब कलब अली खाँ के सामने एक कसीदा पढ़ सके। विद्रोह शांत होने पर लखनऊ और फैजाबाद लौटकर परि-वार वालों से मिले। उसी समय नवलकिशोर प्रेस में नौकरी कर

तस्लीम

ली और नवाब मुहम्मद तकी खाँ से भी दस रुपये मासिक कविता ठीक करने के मिल जाते थे। सन् १८५७ ई० में इनकी मृत्यु पर रामपुर गए और तीस रुपये महीने पर पेशकार नियत हुए। स्कूलों के डिप्टी इन्सपेक्टर होने पर पचास रुपये पाने लगे। नवाब कलब अली की मृत्यु पर टोंक और मंगरोल गए। पर कुछ ही दिन बाद नवाब हामिद अली ने पुनः रामपुर बुलाकर चालीस रुपये पेंशन कर दिया, जहाँ अंत तक रहे। सन् १९११ ई० में सौ वर्ष से अधिक अवस्था पाकर यह मरे।

बलवे के समय इनका प्रथम दीवान गुम हो गया और इनके दूसरे दीवान 'नज्मेअर्जुमंद' में बलवे के पहिले कुछ क़सीदे, क़िते और दो मसनवियाँ प्रकाशित हुईं। यह लखनऊ में छपा था। नज्मे दिलअफ्रोज़ और दफ्तरे ख्याल नाम के दो दीवान रामपुर में प्रकाशित हुए। इनकी मसनवियों के नाम—नालए तस्लीम, शामे ग़रीबाँ, सुबहे खंदाँ, दिलोजान, नगमए बुलबुल, शौकते शाहजहानी, गौहरे इंतखाब और तारीखे वदीह या तारीखे रामपुर है। इनके सिवा सफ़रनामए नवाब रामपुर लिखा है, जिसमें नवाब के विलायत यात्रा का लगभग पचीस सहस्र शैरों में वर्णन किया है। इनकी कविता श्लिष्ट और ओजपूर्ण होती थी। मसनवियाँ अच्छी लिखी हैं और कसीदे में भी ओज की कमी नहीं है। इनके ग़ज़ल भी मनोहर होते थे पर विशेष लिखने से नवीनता की कमी स्व-

रचनाएँ तथा रचना शैली

भावतः ही रह गई। रामपुर के कवियों के चार स्थम्भ में से एक यह भी थे। इनके शिष्यों में शौक़, हसरत मोहानी, उर्श गयवी, नश्तर आदि सुकवि हुए हैं। इनमें उर्श ने हयाते जावेदानी में तस्लीम की जीवनी लिखी है। तस्लीम संतोष प्रिय थे और यद्यपि इन्हें कभी धन प्रचुरता से नहीं प्राप्त हुआ पर कभी इस कारण इन्होंने प्रतिद्वंद्वियों पर आक्षेप नहीं किया।

उर्दू भाषा तथा साहित्य की जन्म भूमि दक्षिण में हैदराबाद के निज़ामों का राज्य स्थापित हुआ, जिसने भी उस भाषा के साहित्य के परिपोषण में निरंतर भाग लिया है।

हैदराबाद तथा इसके संस्थापक

यहाँ के तथा बाहर से आए हुए कवियों को इस राज्य में बराबर आश्रय मिलता रहा और इसी उदारता को सुन सुनाकर उत्तरी भारत ही क्या समरकंद और अरब तक से कवि तथा विद्वान गण यहाँ आते थे। ये निज़ामगण केवल आश्रय ही नहीं देते थे पर स्वयं भी विद्वान और कवि होते थे। इस राज्य के संस्थापक मीर कमरुद्दीन खाँ आसफजाह निज़ामुल्मुल्क सन् १७२३ ई० में दक्षिण के सूबेदार हुए पर साम्राज्य का अवनति-काल था इसलिए यह वहाँ के स्वतंत्र नवाब बन बैठे। यह फारसी कविता करते थे और शाकिर तथा आसफ उपनाम करते थे। फारसी में इनके दो दीवान मिलते हैं। उर्दू में कविता नहीं मिलती। सन् १७४८ ई० में इनकी मृत्यु पर इनके द्वितीय पुत्र नासिरजंग गद्दी पर बैठे पर पठान सर्दारों

द्वारा मारे जाने पर इनके भांजे मुज़फ्फ़र जंग निज़ाम हुए। यह भी एक सैनिक बलवे में मारे गए। तब प्रथम निज़ाम के तृतीय पुत्र सलावत जंग गद्दी पर बैठे। सन् १७६१ ई० में इन्हें गद्दी से उतार कर इनके भाई निज़ाम अली निज़ाम बन गए। इन्होंने अंग्रेजों से कई बार संधि की और तोड़ी पर सन् १७९८ ई० की संधि, जो इनके पुत्र अली जाह के विद्रोह पर हुई, मान्य रही। यह मराठों से कुर्डला युद्ध में परास्त हुए। सन् १८०३ ई० में इनकी मृत्यु पर इनके पुत्र सिकंदर जाह निज़ाम हुए और सन् १८२९ ई० में इनके पुत्र नासिरुद्दौला गद्दी पर बैठे। सन् १८५७ ई० में इनकी मृत्यु हुई और इनके लड़के अफ़ज़लुद्दौला नवाब हुए। सैनिकों ने बलवा करना चाहा पर सर सालार जंग ने उसका दमन कर दिया। यह निज़ाम भी सन् १८६९ ई० में मर गए और इनके पुत्र नवाब मीर महबूब अली खाँ आसफ़जाह गद्दी पर बैठे।

इनका जन्म अगस्त सन् १८६६ ई० को हुआ और यह तीन वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे। राज्य-प्रबंध के लिये एक अभिभावक समिति स्थापित हुई, जिसके सर सालार जंग सभापति नियुक्त हुए। इनकी शिक्षा के लिये बहुत अच्छा प्रबंध किया गया था। राजनीति की शिक्षा सर सालार जंग ने दी, जिनकी मृत्यु पर सन् १८८३ ई० में महाराज नरेंद्रप्रसाद अभिभावक

नवाब महबूबअली खाँ 'आसफ़'

समिति के सभापति हुए। ५ फ़रवरी सन् १८८४ ई० को लार्ड रिपन ने इनको स्वयं राज्य सँभालने का अधिकार दिया। सन् १८८५ ई० में जी० सी० एस० आई० की और सन् १९०३ ई० में जी० सी० बी० की पदवी मिली। सन् १८८७ ई० में सीमा की रक्षा के लिए साठ लाख रुपया दिया था। इनके राज्य-काल में बहुत प्रकार की उन्नति हुई। व्यापार के लिए कई कारख़ाने खोले गए, सींचने के लिए ज़ल का उत्तम प्रबंध किया गया और स्थान स्थान पर पाठशालाएँ खोली गईं। इनके समय में दूर दूर से विद्वान् बुलाए जाकर राज्य में नियुक्त किए जाते थे, जिससे उन्हें जीविका की चिंता नहीं रह जाती थी और वे स्वतंत्रतापूर्वक साहित्य-सेवा किया करते थे। नीज़ाम महबूब अली खाँ कविता में 'आसफ़' उपनाम करते थे और अमीर मीनाई के शिष्य जलील को गुरु बनाया था। इनके दो दीवान प्रकाशित हुए, जो दाग़ की शैली पर लिखे गए हैं। इनकी कविता की भाषा महाविरेदार और सुगम होती थीं। ओज और प्रसाद गुण दोनों ही रहते थे तथा व्यंग्य का पुट भी रहता था।

नवाब उसमान अली खाँ 'उसमान'

इनके पुत्र तथा उत्तराधिकारी नवाब मीर सर उसमान अली खाँ बहादुर फ़तेहजंग का जन्म सन् १८८६ ई० में हुआ था और यह २९ अगस्त सन् १९११ ई० को गद्दी पर बैठे। यह भी अपने पिता के समान ही साहित्य-सेवियों के उदार आश्रयदाता और स्वयं कवि भी

हैं। उसमानिया विश्वविद्यालय तथा पाठ्यग्रंथों के लिए एक अनुवादक-समिति स्थापित करके उर्दू भाषा की आपने जो सहायता की है, वह अभूतपूर्व है। वर्तमान समय में आप उर्दू के सबसे बढ़कर सच्चे सहायक हैं। कविता में आप अपना उपनाम 'उसमान' रखते हैं और जलील ही से कविता का संशोधन कराते हैं। एक दीवान प्रकाशित भी हो चुका है। आपकी कविता श्लिष्ट, सरल और हृदयग्राही होती है। अरबी और फारसी का भी अच्छा ज्ञान है। यूरोप के बड़े युद्ध में साठ लाख रुपये चंदा देकर आपने अपनी राजभक्ति का भी परिचय दिया था।

निजाम सरकार के सर्दारों में महाराज चंदूलाल 'शादाँ' कवि तथा कवियों के आश्रयदाता थे। ये जाति के खत्री थे और सन् १७६६ ई० में इनका जन्म हुआ था। अपने चाचा राय नानक राम की अधीनता में कुछ दिन काम करते रहे। सन् १८०६ ई० में यह पेशकार नियुक्त हुए और मीर आलम की मृत्यु पर प्रधान मंत्रित्व वास्तव में इन्हीं के हाथ में था, यद्यपि मुनीरुल्-मुल्क नाम के लिए दीवान थे। लगभग पैंतीस वर्ष तक यही हैदराबाद राज्य के कर्णधार रहे और सन् १८४३ ई० में तीस सहस्र रुपये मासिक पेंशन पाकर घर बैठे। १५ अप्रैल सन् १८४५ ई० को इनकी मृत्यु हुई। यह अपनी विद्वत्ता तथा उदारता के लिये प्रसिद्ध थे। उत्तरीभारत तथा फारस के कवि इनकी

महाराज चंदूलाल शादाँ

कवि सभा में आते थे। नसीर देहलवी प्रायः आते थे। ज़ौक़ और नासिख को भी रुपये भेज कर बुलाया पर इतनी लंबी यात्रा से वे रुक गए और नहीं गए। यह स्वयं उर्दू तथा फारसी के कवि थे और प्रायः तीन सौ के लगभग कवि इनके दर्बार में रहते थे। इशरत कदए आफ़ाक़ नामक एक पुस्तक लिखी, जिसमें अपना वंश-परिचय तथा निजाम सरकार की अपनी सेवा का वर्णन किया है।

राजा गिरधारी प्रसाद 'बाक़ी'

राजा गिरधारी प्रसाद प्रसिद्ध नाम महबूब निवाजवंत राजा बंसी बहादुर सक्सेना कायस्थ थे और आप के पिता का नाम राजा नरहरि प्रसाद और पितामह का राजा स्वामी प्रसाद था। संस्कृत और फ़ारसी की अच्छी योग्यता थी तथा अरबी भी जानते थे। निजाम सरकार के राजभक्त जागीरदार और राज्य-सेना के सरिश्तेदार थे। निजाम के यह कृपापात्र थे और दरबार का प्रबंध इन्हीं के सुपुर्द रहता था। सन् १८८८ ई० में आपके दो जवान लड़के जाते रहे। सन् १९०० ई० में आप भी साठ वर्ष की अवस्था में चल बसे। इन्होंने पंद्रह सोलह पुस्तकें रची हैं। आपका एक दीवान 'बक़ाए बाक़ी' सन् १८९१ ई० में प्रकाशित हुआ था। फारसी में भागवत का पद्यमय अनुवाद किया। केशो-नामा, कुलियात, यादगारे बाक़ी, प्रिंसनामा, कनूज़ुल् तारीख, कसायदे बाकी, सियाके बाकी, पैरायए उरुज्, आईनए सखुन

आदि अन्य कृतियों के नाम हैं। इनमें धार्मिक उदारता भी थी और विरक्त भाव रखते थे। कविता में शम्शुद्दीन फ़ैज़ को गुरु बनाया था।

महाराजा कृष्णप्रसाद बहादुर का जन्म सन् १८६४ ई० में हुआ था। इनकी शिक्षा पहिले घर ही पर तथा फिर मदरसए-आलियः में हुई। अरबी और फ़ारसी के सिवा अंग्रेजी, मराठी और तेलगू भी अच्छी प्रकार जानते थे। यह महाराजा चंदूलाल ही के गोत्र में से हैं और महाराज नरेंद्र प्रसाद के नाती हैं, जिन्होंने इनकी शिक्षा का पूरा प्रबंध किया था। अपने नाना की जागीर आदि के यही उत्तराधिकारी हुए। यह फ़ारसी, अरबी तथा उर्दू तीनों ही भाषा में लिखते थे। गद्य तो बड़ी उत्तमता से लिखते थे। कविता में यह शागिर्दे-ख़ास-आसफ़ियः कहलाते थे और शाद उपनाम था। दबदबए आसफ़ियः और महबूबे कलाम नामक दो पत्रों का संपादन भी करते थे। दूसरे में निजाम बराबर लेख भेजते थे। इनका उर्दू तथा फ़ारसी का दीवान छप चुका है। 'ख़ुमकदए रहमत' में मुहम्मद की प्रशंसा की है। इनकी कविता में सूफ़ियत की झलक अधिक है। यह भी कवियों तथा साहित्य-सेवियों की बराबर सहायता करते थे। इन्होंने लगभग चालीस ग्रंथ के लिखे हैं, जिनमें बज़्मे ख़्याल की तीन जिल्दें, रुबाइआते-शाद, फ़रियादे-शाद, नग़्मे-शाद आदि मुख्य हैं। यह इतनी जल्दी

महाराज कृष्णप्रसाद 'शाद'

कविता करते थे कि इन्हें आशु कवि कह सकते हैं। यह सन् १८९२ ई० में पेशकार के पद पर नियुक्त हुए और इन्हें राजए-राजगाँ महाराज बहादुर की पदवी मिली। इसके अनंतर यह युद्धीय विभाग के मंत्री नियत हुए। सन् १९०१ ई० में यमीनु-स्सल्तनत की पदवी से प्रधान मंत्री नियत किए गए, जिस पद पर सन् १९१२ ई० तक रहे। सन् १९०३ ई० में के० सी० आई० ई० और सन् १९१० ई० में जी० सी० आई० ई० की पदवी मिली।

२२ सितंबर सन् १९१८ ई० के फर्मान के अनुसार हैदराबाद में उसमानिया विश्वविद्यालय स्थापित हुआ, जिसमें प्रत्येक विषय की शिक्षा उर्दू ही के माध्यम से दी जाती है। अंग्रेजी की शिक्षा आवश्यक कर दी गई है, क्योंकि पाश्चात्य विचारों के जानने का वही प्रधान साधन है। इसके साथ एक ही कालेज है, जिसे उसमानिया यूनीवर्सिटी कालेज कहते हैं। भारत सरकार ने भी इस विश्वविद्यालय की परीक्षाओं तथा डिगरियों को अपने यहाँ के विश्वविद्यालयों द्वारा दी गई डिगरियों के बराबर मानना स्वीकृत कर लिया है। पाठ्य-ग्रंथों के अभाव की पूर्ति के लिये 'अनुवाद समिति' स्थापित की गई, जिसमें एक प्रसिद्ध विद्वान के संपादकत्व में आठ योग्य अनुवादक कार्य करते थे। पाँच वर्ष में इन लोगों ने एफ० ए० और बी० ए० की कक्षाओं के योग्य पाठ्य-ग्रंथों का संग्रह

अनुवाद समिति

कर डाला। प्राचीन तथा वर्तमान और प्राच्य तथा प्रतीच्य इतिहास, गणित, विज्ञान, दर्शन आदि सभी विषयों पर पुस्तकें तैयार हुईं तथा हो रही हैं। इस समिति ने अब तक लगभग डेढ़ सौ पुस्तकें तैयार करके उर्दू साहित्य तथा मुसल्मानों की शिक्षा की अच्छी उन्नति की है।

अंजुमने-तरक्किए उर्दू अर्थात् उर्दू-प्रचारिणी-सभा का आरंभ हैदराबाद में हुआ था पर अब औरंगाबाद ही में इसका आफिस है। इसके अवैतनिक मंत्री मौ० अब्दुलहक बी० ए० अंजुमने तरक्किए उर्दू की तत्वावधानता में यह संस्था अपने नाम के अनुरूप ही अच्छा कार्य कर रही है। यह सच्चे उर्दू-भक्त हैं और उसका प्रचार ही इनका आजन्म व्रत रहा। यह इस समय उसमानिया विश्वविद्यालय के उर्दू के प्रधान प्रोफेसर हैं। उर्दू-लिपि में इन्होंने संशोधन किया पर विरोधियों के कारण यह कार्य सफल नहीं हुआ। इस समय ६३ वर्ष की अवस्था में यह उर्दू के एक बृहत्कोष की तैयारी में लगे हैं, जिसमें व्युत्पत्ति, सप्रमाण अर्थ तथा महाविरे आदि भी दिए हों। इसके लिए दस साल तक एक हजार रुपए महीने की सहायता का भी आपको वचन मिल चुका है। इन्होंने कालेज में हिंदी को भी स्थान दिया है। अब तक इसके ग्रंथमाला में लगभग सत्तर ग्रंथ निकल चुके हैं। उर्दू के प्राचीन कवियों की रचनाएँ सुसंपादित होकर प्रकाशित की गई हैं और की जा रही हैं। उर्दू की प्राचीन

हस्तलिखित पुस्तकों के संग्रह करने में यह संस्था प्रयत्नशील है। वृहत् अंग्रेजी-उर्दू कोष तैयार होकर अब प्रकाशित हो रहा है। वैज्ञानिक तथा साहित्यिक कोषों के अभाव की ओर भी इसकी दृष्टि है और निज़ाम साहब के आश्रय तथा अपने सभासदों की सहायता से यह बराबर उन्नति करती जा रही है। निजाम सर-कार से पाँच सहस्र तथा भोपाल-सरकार से पाँच शत मुद्रा वार्षिक सहायता मिलती है। इसके दो त्रैमासिक पत्र 'उर्दू' तथा 'साइन्स' नामक निकलते हैं, जिनके संपादक मंत्री महाशय ही हैं। ये अपने लेखों के कारण विशेष महत्व की हैं। ये दोनों उर्दू टाइप में छपती हैं, जो मौलवी साहब के प्रयत्नों का फल है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

उर्दू साहित्य का वर्तमान काल

विषय प्रवेश

अब तक दिल्ली तथा अवध के वादशाहों की छत्रच्छाया में जो कविता फल फूल रही थी वह इन दोनों के नष्ट हो जाने पर तथा बड़े बलवे के कारण इधर उधर आश्रय की खोज में बहुत टक्कर खाती रही पर उसे वैसा आश्रय कहीं न मिला। अंग्रेजी राज्य के जम जाने से जनसाधारण उनके संपर्क से भावमय वातावरण से जीवन की वास्तविकता की ओर विशेष आकृष्ट हुए। अंग्रेजी शिक्षा बढ़ने लगी और उसके विशाल साहित्य—पद्य, गद्य—का उर्दू साहित्य पर प्रभाव पड़ने लगा। जो लोग अंग्रेजी नहीं जानते थे उन पर अनुवादों के पठन पाठन से असर पड़ रहा था। पर इस प्रभाव का यह फल नहीं हुआ कि जो कुछ प्राचीन है वह हेय है और सभी नवीनता उत्तम है। इस काल के प्रमुख अग्रणी हाली, आजाद तथा सर सैयद अहमद अंग्रेजी के बहुत कम ज्ञाता थे पर इन पर परिवर्तनशील समय का पूरा प्रभाव पड़ चुका था और वे उसी के अनुकूल मार्ग पर साहित्य को ले चले। प्राचीन काल की कविता के संकुचित क्षेत्र को—आशिक माशूक के विरह, प्रेम, रोने गाने

आदि—अब विस्तृत कर अन्य अनेक विषयों को उसमें स्थान दिया गया। गजलों में विशेष कहने की गुंजाइश न देखकर प्रबंध-काव्य के लिए मसनवी और मुसद्दस चुने गए तथा उनमें कवि को अपने विषय का पूर्ण रूपेण विवेचन करने का अवसर मिला। अतिशयोक्ति के लिए अनर्गल, असंभाव्य बातों के बदले स्वाभाविक वर्णन को विशेषता दी जाने लगी। जिस प्रकृति की ओर अब तक कविगण लाल आँखों से कटाक्षपात मात्र करते थे अब उसे स्वच्छ नेत्रों से निरीक्षण कर उसका वर्णन भी करने लगे। स्वदेश की नदी, पर्वत, ऋतु आदि पर कृपा होने लगी। यह सब होते हुए भी धार्मिक जोश इन सबको दबाए हुए है।

पाश्चात्य संसर्ग के कारण एक दल ऐसा बन जाता है, जो प्राचीनता के सभी चिन्हों का शत्रु हो जाता है और एक दल ऐसा होता है जो प्राचीनता से चिमट कर बैठ रहता है। परंतु वास्तविक कर्मशील पुरुष वे ही हैं जो दोनों के गुण ग्रहण करते हुए आगे बढ़ते हैं और अपने देश तथा देशवासियों को लाभ पहुँचाते हैं। वे प्राचीन साहित्य को रिक्थक्रम में मिली हुई अपनी अमूल्य निधि समझ कर उसकी रक्षा करते हैं और नवीन साहित्य निर्माण कर उस कोष को बढ़ाते हैं। ऐसे ही साहित्यकारों में आजाद, हाली, सरूर, शरर, सरशार, बर्क, अकबर आदि हो गए हैं और इकबाल, अजीज, हसरत, सफी आदि मौजूद हैं।

अल्ताफ हुसेन 'हाली' का जन्म सन् १८३७ ई० में पानीपत

में हुआ था। इनके पूर्वज गुलाम वंश के समय हिरात से भारत आए और पानीपत में बस गए थे। इनके पिता

हाली

एज़दबख्श इन्हें नौ वर्ष का छोड़कर मर गए, जिससे इनकी शिक्षा सुशृंखलित रूप से नहीं हुई। बड़े होने पर इन्होंने स्वयं दिल्ली आकर नवाज़िश अली से शायरी, फ़िलसफ़ा, व्याकरण आदि सीखा। अंग्रेजी की ओर यह मायल नहीं हुए। हिसार में इन्हें एक सर्कारी नौकरी मिली पर उसके दूसरे ही वर्ष बड़े गदर के कारण इन्हें घर लौट आना पड़ा। इस के चार वर्ष बाद यह नवाब मुस्तफा खाँ 'शेफ्ता' के मित्रों में परिगणित हो गए और उनके सत्संग से बहुत लाभ उठाया। कविता करने का प्रेम यहीं अधिक बढ़ा और यह अपनी कविता ग़ालिब के पास भेजने लगे। यहाँ यह आठ वर्ष रह कर लाहौर गए और वहाँ सर्कारी बुकडिपो में अंग्रेजी के अनुवादों की भाषा ठीक करने पर नियत हो गए। इससे अंग्रेजी साहित्य से इनका परिचय होने लगा, जिससे इनकी विचार-परंपरा पर बहुत प्रभाव पड़ा। यहाँ चार वर्ष रह कर यह ऐंग्लो-अरबिक स्कूल में मास्टर हो कर दिल्ली लौट आए। यह बीच में कुछ दिन लाहौर के चीफ्स-कालेज में भी रहे थे। दिल्ली में यह सर सैयद अहमद के मित्र-मंडल में आ गए और यहीं अपना मुसद्दस लिखा। सन् १८८७ ई० में हैदराबाद के सर आसमान जाह अलीगढ़ आए थे और सर सैयद के इनका परिचय देने पर निजाम सरकार से ७५ रु०

मासिक वृत्ति इनको मिलने लगी कि यह उर्दू साहित्य का कार्य स्वतंत्रता पूर्वक करते रहें। अलीगढ़ कालेज के डेपुटेशन के साथ यह हैदराबाद गए तो वह मासिक वृत्ति १००) रु० हो गई। सन् १९०४ ई० में इन्हें शम्सुलउल्मा की पदवी मिली और इसके दस वर्ष बाद ७७ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हो गई। यह पूर्ण रूपेण साहित्य-सेवी सज्जन थे। यह विनम्र तथा मिलनसार थे और बाहरी आडंबर से एक दम शून्य थे। इनमें धर्मांधता कम थी और इनकी रचनाओं में इसका आभास बराबर मिलता है।

इनकी काव्य-रचनाओं में मुसद्दस हाली विशेष प्रसिद्ध हैं, जो सर सैयद अहमद के कहने पर लिखी गई थी। वास्तव में इसमें कविता बिलकुल नए मार्ग पर चली है।

रचनाएँ

पुरानी शैली पर कविता करनेवाले साधारण कवियों पर अच्छी चोट की गई है। इसमें सजीवता है और नई विचार-धारा की जनता के अनुकूल होने के कारण इसकी लोकप्रियता अब तक कम नहीं हुई है। छ पंक्तिवाले इस बहर में ओज इतना है कि पाठक तथा श्रोता दोनों के हृदयों पर असर पड़ता है। देशभक्ति इसमें भरी हुई है और प्राचीन गौरव का याद दिलाते हुए वर्तमान दुरवस्था पर आँसू गिराए गए हैं। वर्षा ऋतु, हुब्बेवतन, निशाते उम्मेद, मनाज़रए रह्मो-इंसाफ आदि मसनवियाँ भी अपनी सादगी तथा प्रसादपूर्ण वर्णन से अत्यंत लोकप्रिय हो गई और पाठ्य-ग्रंथों में रक्खी गई। इनकी भाषा में क्लिष्ट तथा

खास विलायती शब्द चुन चुन कर नहीं रखे गए हैं, जिससे यह दुरूह नहीं होने पाई है। वर्षा तथा उसके कारण निर्मल हुई प्रकृत्ति का सुंदर वर्णन पठनीय है। कृपा तथा न्याय की गोष्ठी भी भावपूर्ण है। शिकवए हिंद तथा क़सीदए-गयासिया में भी हिंदुस्तान के प्राचीन गौरव तथा वर्तमान दुरवस्था की तुलना की गई है। इन्होंने गालिब, सर सैयद तथा हकीम महमूद खाँ की मृत्यु पर मर्सिए लिखे हैं, जिनमें करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है। मुनाजाते-बेवा और चुप की दाद में स्त्रियों के प्रति समवेदना तथा सहानुभूति प्रगट की गई है। दीवाने हाली के आरंभ में काव्य-मर्म समझाते हुए एक अच्छी भूमिका दी गई है, जिसके अनंतर किते, गजल, रुबाई आदि का संग्रह है। गज़ल ही का आधिक्य है। इनमें प्राचीन तथा नवीन भाव-धारा लिए हुए कविताएँ हैं। इश्किया गज़लों के साथ देश की दुर्दशा पर भी इन्होंने गज़लें लिखी हैं। अपनी प्रकृति के अनुसार गज़लों में भी इन्होंने सरल भाषा का प्रयोग किया है। मजमूअए नज़्मे हाली में उर्दू की और मजमूअए नज़्म फारसी में फारसी की कविता का संग्रह है।

वर्तमान काल के प्रमुख कवियों में से एक होते हुए भी इनका स्थान किसी से कम नहीं है। भाषा तथा भाव दोनों के परिष्करण में इनका हाथ रहा और अपनी रचनाओं से इन्होंने उर्दू क्षेत्र को विशद कर नए नए मार्ग दिख-

रचना शैली तथा

इतिहास में स्थान

लाए। लोक-हितकर कविता की ओर विशेष झुके, जिससे परवर्ती कवियों के लिए वह आदर्श हो उठी। भाषा इन्होंने सरल रखा और विद्वत्ता का ढोंग दिखलाने का कहीं प्रयास नहीं किया। उर्दू-साहित्येतिहास में हाली का स्थान विशेष महत्व का है और गद्य लेखक तथा आलोचक की दृष्टि से वह अमर हो जाता है। उर्दू साहित्य का हित ही इनके जीवन का व्रत रहा।

नवीन परंपरा के हाली के सहयोगी मुहम्मद हुसेन आजाद उर्दू साहित्य के एक अमर कवि तथा गद्य लेखक हो गए हैं।

आज़ाद

जौक के एक मित्र के पुत्र होने के कारण इन्हें भी कविता पर प्रेम हो गया। यह कवि-सभाओं में जाते तथा वहाँ कविता के गुण-दोष-विवेचन को सुनते। बड़े बलवे के कारण इन्हें भी भागना पड़ा और यह लाहौर पहुँचे। वहाँ कर्नल हालरॉयड के कहने पर अंजुमने पंजाव स्थापित किया, जिसका उद्देश्य उर्दू कविता को परिष्कृत करना था। इसके कई अधिवेशनों में आजाद ने कविता के गुण-दोष पर व्याख्यान दिए थे। जौक की मृत्यु पर आजाद अपनी कविता ऐश को दिखलाते थे। इनकी उस समय की कविता बलवे में नष्ट हो गई। इसके अनंतर यह कुछ दिन तक झींद रियासत में रहे और वहाँ लिखी हुई इनकी कविता 'नज़्मे आज़ाद' के नाम से सन् १८९९ ई० में इनके पुत्र इब्राहीम ने प्रकाशित कराई। इसमें

गज़ल, कसीदे, मर्सिए आदि हैं। ये सब पुराने ढर्रे पर हैं पर ओज तथा प्रसाद गुण पूर्ण हैं। नवीन परंपरा के अनुसार पहिले इन्होंने प्रकृति-सौंदर्य पर कई मसनवियाँ लिखीं। मसनवी शवेक़द्र में रात्रि के आगमन का विशद दृश्य खींच दिया है। यद्यपि कट्टर पंथियों ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई पर आज़ाद अपने पथ पर दृढ़ रहे। सुबहे-उम्मीद में प्रकृति के सुंदर दृश्य के साथ मानव कर्मठता का अच्छा वर्णन किया है। मसनवी अब्रे-करम में वर्षा ऋतु का विवरण दिया है। मसनवी हुब्बे-वतन तथा मसनवी ख्वाबे-अमन में देश-प्रेम पर अच्छी उक्तियाँ कही हैं। इनके सिवा मसदरे-तहज़ीब, गंजे क़नाअत, ज़मिस्तान, विदाए-इंसाफ, दादेइंसाफ़, शराफ़ते हक़ीक़ी, मारफ़ते इलाही आदि बहुत सी छोटी मसनिवाँ लिखीं।

आजाद की प्रसिद्धि पद्य से अधिक उनकी गद्य-रचनाओं पर स्थित है। इनका भाषा तथा भाव पर समान अधिकार था। सरल प्रवाह, मुहाविरों के प्रयोग, वर्णनाशक्ति तथा कल्पना की उड़ान सभी एक से एक बढ़कर हैं पर इनका वास्तविक क्षेत्र गद्य ही था और उसीमें इन्हें पूरी स्वतंत्रता के साथ अपने विचार, भाव तथा कल्पना के वातावरण में विचरण करने का अवसर मिला है। इस पर भी कविता क्षेत्र की नवीन परंपरा के यह अग्रणियों में हैं और उर्दू साहित्येतिहास में इनका निज का स्थान है। इनकी गद्य कृतियों पर आगे विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

रचना शैली

मुंशी दुर्गा सहाय 'सरूर' का जहानाबाद में सन् १८७३ ई० में जन्म हुआ था। यह जन्मसिद्ध कवि थे और इनका जीवन अत्यंत सादगी से बीता था। यह सुरा देवी के भी अनन्य भक्त थे और सैंतिस वर्ष की अवस्था में यह उसी पर निछावर होगए। इनकी सन् १९१० ई० में मृत्यु हो गई। यह भी नवीन परंपरा के प्रधान स्तंभ हुए और ईश्वरदत्त प्रतिभा के कारण इतनी अल्पावस्था ही में अपना नाम उर्दू साहित्य में अमर कर गए। प्राचीन तथा नवीन दोनों का इन्होंने अच्छा सामंजस्य किया है। कविता ही इनके जीवन का एकमात्र व्रत था। यह उदार भी थे और इस कारण दारिद्र्य देवी की भी इन पर कृपा रहती थी। इनमें स्वभावतः धर्मांधता नहीं के समान थी और यही कारण है कि इनकी कविता किसी विशिष्ट धर्म या मत के लिए न होकर समग्र देश के लिए होती थी। इनमें प्रकृत्या करुण रस की मात्रा अधिक थी और इसलिए करुणापूर्ण विषयों पर यह जो कुछ लिख गए हैं वह हृदयग्राही हुआ है। सरूर की कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं। ज़माना पत्र में इनकी जितनी कविता निकली थी वह 'ख़ुमख़ानए-सरूर' में संग्रहीत हुई हैं और इंडियन प्रेस ने 'जामे-सरूर' में इनकी अन्य कविता संकलित कर प्रकाशित किया है। इन्होंने अपनी बहुत सी कविता बेंच डाली, जिसका पता सरूर की मृत्यु पर उनके पत्र-व्यवहार के प्रकाशित होने से लगा है।

सरूर

ख़ाके वतन, उरूसे हुब्बे वतन, मादरहिंद, यादेवतन तथा हसरते-वतन सभी इनके देश-प्रेम के परिचायक हैं। इनमें इनका हृदयस्थ प्रेम छलका पड़ता है और उच्च विचार तथा भाव भरे हुए हैं। गुलो बुलबुल का फ़िसाना तथा शमओ पर्वाना प्रेम की कविता हैं पर इनमें देश-प्रेम की छाप लगी हुई है। गंगा, यमुना, प्रयाग का संगम, सती, पद्मिनी की चिता, सीता जी की गिरियओ ज़ारी, नल-दमयंती आदि कविताएँ भी देश ही की कहानी हैं। इन सबमें हिंदी भाषा की शब्दावली का अधिक प्रयोग अत्यंत नैसर्गिक तथा सुरुचिपूर्ण हुआ है। यह करुण रस के कवि हुए हैं तथा यादे-तिफ़्ली, हसरते शबाब, हसरते दीदार तथा मातमे-आर्ज़ू के साथ साथ मुर्गे सय्याद, मुर्गाने कफ़स, बुलबुल का फ़िसाना, दीवारे-कुहन तथा अंदोहे-ग़ुर्बत मसनवी लिखी हैं। इन सब में करुण रस ही प्रधान है। इनके सिवा अंग्रेजी कविताओं के भी इन्होंने बहुत से अनुवाद किए हैं, जो मौलिक से ज्ञात होते हैं। कितनों के भाव मात्र लेकर अपनी शैली पर कह गए हैं। अदाए शर्म, ज़ने खुशखू आदि में इन्होंने उपदेशमय होने का प्रयास किया है। यह सुकवि थे और इनसे साहित्य को बहुत कुछ आशा थी। इतनी थोड़ी अवस्था में इतना लिख जाना इनकी प्रतिभा तथा अध्यवसाय का द्योतक है। इनकी कविता में नैसर्गिकता, उच्च भावों का व्यक्तीकरण, गांभीर्य्य, भाषा का अलंकरण

रचनाएँ, शैली तथा स्थान

तथा ओज, प्रसाद और सौकुमार्य गुणों का समावेश बहुत ही अच्छा हुआ है। इन्हीं कारणों से यह अपने समय के प्रमुख कवियों में गिने जाते थे। पर सितम्बर १९११ ई० के ज़माना में एक टिप्पणी है कि पूना-उर्दू-कान्फरेंस के सभापति ने एक शब्द भी बर्क़ (मुंशी ज्वाला प्रसाद) तथा सरूर के असामयिक मृत्यु पर नहीं कहा।

अकबर

सैयद अकबर हुसेन रिज़्वी 'अकबर' का जन्म १६ नवंबर सन् १८४६ ई० को इलाहाबाद जिले के बारा स्थान में हुआ था। इनके पिता तफ़ज़्ज़ुल हुसेन आढ्य नहीं थे इसलिए इनकी शिक्षा आरंभ में उचित रूप से नहीं हुई। सन् १८६६ ई० में यह नाएब तहसीलदार और सन् १८७० ई० में हाईकोर्ट के मिस्लख्वाँ नियत हुए। सन् १८७२ ई० में प्लीडर परीक्षा पास कर आठ वर्ष वकालत की, जिसके बाद मुंसिफ हुए। उन्नति करते सन् १८९४ ई० में सदराला तथा सेशन-जज हो गए। चार वर्ष बाद खान वहादुर की पदवी मिली और सन् १९०२ ई० में इन्होंने पेंशन ले ली। ये प्रयाग विश्व-विद्यालय के फेलो भी थे। उन्नीस वर्ष पेंशन का उपभोग करते हुए साहित्य चर्चा में निरत रहकर सन् १९२१ ई० में यह मर गए। यह आतिश के शिष्य गुलाम हुसेन वहीद को अपनी कविता दिखलाते थे। यह कट्टर सुन्नी मुसलमान थे पर अन्य धर्मों से शत्रुता नहीं रखते थे। इनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था और

अपनी स्त्री तथा प्रिय पुत्र हाशिम की मृत्यु से शोकान्वित रहते थे। यह स्वभावतः विनोदपूर्ण थे और गोष्ठियों में ऐसे चुटकुले छोड़ते कि सभी प्रसन्न हो जाते थे। इनकी कविता में इसी कारण हास्य रस उमड़ा पड़ता है। यह अंग्रेजी की नकल करने के विरोधी थे और इसकी अच्छी खिल्ली उड़ाई है। इनमें देशभक्ति तथा समाज-सुधार की लगन थी। फारसी, अरबी तथा गणित की घर ही पर अच्छी शिक्षा प्राप्त कर यह अंग्रेजी की ओर झुके थे और इनमें कविता के तीनों साधन ईश्वरदत्त प्रतिभा, मननशीलता तथा अभ्यास उपस्थित थे। यही कारण है कि यह अपने समय के श्रेष्ठतम कवि थे।

आरंभ में यह पुरानी प्रथानुसार गजलें कहते तथा कवि-सभाओं में सुनाते थे, जहाँ ऐसी ही कविता पर प्रशंसा मिलती थी। अवस्था के बढ़ने के साथ इनकी गजलों में परिपक्वता आने लगी, स्वाभाविकता बढ़ने लगी और निजी व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ने लगा। इनकी गजलों में भावुकता, हृदयग्राहिता तथा गांभीर्य की अधिकता होने लगी। सन् १८७९ ई० में लखनऊ से अवधपंच निकलने लगा। इसमें यह हास्यात्मक गद्य-पद्य लेख लिखने लगे और इन्होंने एक अपनी शैली निकाली। प्रौढ़ता इनमें आ ही गई थी, जिससे निजी शैली में इन्हें पूर्ण सफलता मिली। विनोदपूर्ण कविता में ईश्वर निष्ठा, देश-समाज-सेवा तथा अन्य लोक हितकर कार्यों की ओर

रचनाएँ

इंगति करते हुए पुराने इश्क, हिज्र, अतिशयोक्ति आदि की हँसी उड़ाई है। यद्यपि इस समय भी ग़ज़ल विशेष कहा है पर उनमें भी परिहास की प्रचुरता है। परंपरागत सांसारिक अश्लील प्रेम से यह ऊपर उठकर सच्चे प्रेम तथा मौलिक विचारों की ओर विशेष आकर्षित हो गए। बीसवीं शताब्दि के आरंभ तक की इनकी कविताओं के दो संग्रह कुलियात अव्वल और दोयम निकल चुके हैं।

इस समय के बाद की कविता में शृंगारिकता का प्रायः अभाव है और उस पर सूफियाना रंग खूब चढ़ गया है। राजनैतिक कविता में हिन्दू मुस्लिम एकता, समाज-सुधार तथा देशभक्ति का बोलबाला है और अकबर ने समय के अनुसार गांधीनामा लिखकर उनपर अपनी श्रद्धा और भक्ति दिखलाई है। ऐसी कविता में भी इनके स्वभावगत विनोद की मात्रा कम नहीं है। इनमें अवस्था के साथ विरक्ति तथा ईश्वर के प्रति आकर्षण बढ़ता गया। इन सब कविता के दो संग्रह और भी प्रकाशित हो चुके हैं।

अकबर का भाषा पर पूर्ण अधिकार था और इसी कारण सभी प्रकार की कविता में उसका सरल प्रवाह मुग्धकर हो उठा है। इन्होंने मुहाविरों के अच्छे प्रयोग किए हैं और हिंदी तथा अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रचुरता से उपयोग किया है। इन भाषाओं के छंदों का भी प्रयोग करने में यह नहीं चूके। ऐसे भी बहुत से शब्द, जो

शैली तथा स्थान

मौखिक मात्र हैं साहित्यिक कभी न थे, इनकी कविता में मिलते हैं और उनका प्रयोग ऐसा सुव्यवस्थित हुआ है कि वे शिष्ट हो गए हैं तथा उनमें ग्राम्यदोष नहीं आया है। इन सब कारणों से इनकी भाषा हिंदी के बहुत कुछ पास आ पहुँची है। रसों में शृंगार तथा करुणा का इनकी कविता में अच्छा परिपाक हुआ है पर यह हास्यरस ही के आचार्य कहे जायँगे। इनकी यही रससिक्त शैली थी और इन्होंने भाषा, भाव, काव्यकला सभी को इसी रस के अनुकूल बना रखा था। यद्यपि अवस्था बढ़ने पर इसका अधिक्य कम हो चला अर्थात् केवल विनोद या परिहास ही के लिए कविता न करते थे पर उसका पुट अंत तक की कविता में रहा। हास्यरस के कारण अश्लीलता को इन्होंने कभी पास तक फटकने न दिया। इन्होंने शेख, सैयद, बिरहमन, मिस, बड़े-छोटे, नव्य-प्राचीन सभी पर फबतियाँ कसी हैं पर कभी किसी को विद्रूप करने के लिए ऐसा नहीं किया है। आरंभ में प्रायः ऐसी बहुत कविता हुई, जो केवल मजाक के लिए लिखी गई थी पर बाद को उन सब में कुछ न कुछ उपदेश, संदेश या उक्ति रहने लगी। अकबर राजनीतिज्ञ न थे और न वह राजनीति के फंदे में फँसकर अपनी या आपस-वालों की स्थिति बिगाड़ना चाहते थे, अतः कविता में उस विषय की बातों को विनोद मात्र के लिए गुंफित कर देते थे। तब भी उनमें कुछ न कुछ अर्थ रहता ही था। धार्मिक कट्टरता इनमें न थी और यह धर्म को श्रद्धा की प्रतिच्छाया मात्र समझते थे। यह ईश्वर

१५

की अद्वैतता के माननेवाले थे और उसी को प्रसन्न करना अपना ध्येय समझते थे, क्योंकि उसके प्रसन्न होने से उसके सभी बंदे प्रसन्न हो जायँगे। व्यंग्य भी यह खूब कसते थे और पाश्चात्य सभ्यता के अंध-नकल की इन्होंने कड़ी आलोचना इसी प्रकार की कविता में की है। ऐसी चुनौतियों का प्रभाव भी विशेष पड़ता है। स्त्रियों की साधारण शिक्षा तथा पर्दा-प्रथा के यह पक्षपाती थे और इसके विरोधियों तथा पर्दा तोड़ने या उच्च शिक्षा की हानियाँ दिखलाते हुए खूब मीठी चुटकियाँ ली हैं। प्राचीन अच्छी प्रथाओं के उठा देने के प्रयत्न देखकर उनपर इन्होंने दुख भी प्रगट किया है। पूर्वोक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि अकबर अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे तथा उनका उर्दू साहित्येतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। इनके पद ऐसे लोकप्रिय हैं कि लोगों के मुख से बहुधा सुनने में आते हैं।

पं० ब्रजनारायण चकबस्त का जन्म सन् १८८२ ई० में फ़ैजाबाद में हुआ था। इनके पिता पं० उदितनारायण जी इन्हें अल्पावस्था ही में छोड़कर चल बसे। इनकी माता तथा बड़े भाई महाराज नारायण ने इनकी शिक्षा का जो सुप्रबंध किया था उसी के यह फलस्वरूप थे। सन् १९०७ ई० में वकालत पास किया। वकालत भी आप की चल निकली। यह पं० बिशन नारायण दर को अपना गुरु मानते थे। आप पक्के समाज-सुधारक थे और सेवा-कार्य में भी

वर्क

आप सन्नद्ध रहा करते थे। इनका स्वभाव ऐसा था कि घर तथा बाहर सभी लोगों के वह प्रिय रहे। पहिले आप नास्तिक थे, ऐसा कहा जा सकता है, पर बाद को आप में ईश्वर पर पूर्ण विश्वास हो गया था। शांति आप के मुख पर ही विराजमान थी और इन्हें क्रोध कभी नहीं आता था। १२ फरवरी सन् १९२६ को एक मुकद्दमे के कारण रायबरेली से लौटते समय इन्हें फालिज ने ऐसा मारा कि चार घंटे ही में इनका अंत हो गया।

इनकी कविता का एक संग्रह सुबहे-वतन के नाम से प्रकाशित हुआ है। हिंदी लिपि में भी यह प्रकाशित हो गया है। इनकी दाग की आलोचना भी अत्यंत मार्मिक हुई है। इन्होंने कमला नामक एक ड्रामा लिखा है और काशीदर्पण में इनके कई आलोचनात्मक लेख निकल चुके हैं। इनकी कविता में स्वदेश-प्रेम की मात्रा पूरी है और राजनैतिक कविताओं में भी उसी का रंग भरा हुआ है। इन्होंने अधिक नहीं लिखा पर जो कुछ लिखा है, वह इनकी प्रतिभा तथा विद्वत्ता की पूर्ण परिचायक है। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार है पर वह कुछ क्लिष्ट हो गई है।

सर मुहम्मद इक़बाल का जन्म सन् १८७६ वि० में स्यालकोट में हुआ था। शिक्षा के साथ साथ कविता करने का भी इन्हें शौक हो गया। लाहौर की एक कविसभा में

इकबाल

पहिले पहिल पढ़ी हुई एक गज़ल की विशेष प्रशंसा हुई, जिससे इनका उत्साह बढ़ा। अंजुमने

इसलाम के सन् १८९९ ई० के वार्षिक अधिवेशन पर नालए-यतीम कविता पढ़ी जिससे इनकी प्रसिद्धि दूर दूर तक फैली। अब्दुल् कादिर बी. ए. द्वारा सन् १९०१ ई० में मख़ज़न नामक मासिक पत्र लाहौर से प्रकाशित होने लगा तब इसमें हिमालया आदि इकबाल की कविता निकली थीं। लाहौर कालेज से एम. ए. पास कर यह इंगलैंड गए। कैंब्रिज विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त कर तथा बैरिस्टर होकर जर्मनी गए और वहाँ से पी एच. डी. का खिताब लेकर स्वदेश, स्यात् इस शब्द से आपको अब चिढ़ हो, लौटे। अरबी-फ़ारसी के सिवा आप संस्कृत भी जानते हैं। इनकी फ़ारसी कविता असरारे ख़ुदी में संगृहीत है। संस्कृत-ज्ञान के कारण वेदांत का भी उन पर प्रभाव पड़ा है। आरंभ में बहुत दिनों तक यह हिंदुस्तान के कवि रहकर अब आप मुसलमान कवि हो गए हैं। अवस्था के साथ हृदय की विशालता बढ़नी चाहिए थी पर उसका उलटा हुआ। यह होते भी इकबाल उर्दू के वर्तमान एक श्रेष्ठ कवि हैं।

इनके सिवा मौलाना सफ़ी, हसरत मोहानी, आर्ज़ू, अज़ीज़, बिस्मिल आदि अनेक प्रसिद्ध कविगण वर्तमान हैं पर 'जीवित कवेराशयो न वर्णनीयः'।

बारहवाँ परिच्छेद

उर्दू-गद्य-साहित्य का विकास

प्रायः सभी भाषाओं में गद्य पद्य के पीछे ही आरंभ होता है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से जो भाषाएँ मानी जाती हैं और जिनका सब कुछ निज का है तथा प्रत्येक वस्तु के लिए जो पर-मुखापेक्षी नहीं हैं, जब उनमें भी यही हाल है तब उर्दू जिसका जन्म ही साहित्यारंभ से होता है उसके लिए ऐसा होना कौन आश्चर्य्य है। जिन दो भाषा-भाषियों के संपर्क से यह व्यावहारिक माध्यम उत्पन्न हुआ था, उनकी मातृ-भाषाएँ भिन्न थीं, साहित्य दो थे और विचारादि भी विभिन्न थे। यह माध्यम केवल दोनों के मिलने पर व्यवहार में काम आता था। ऐसी अवस्था में उसमें कुछ भी साहित्य न होता यदि यह संपर्क शीघ्र ही टूट जाता। पर यह समय के साथ साथ दृढ़तर होता गया और क्रमशः यह माध्यम एक रूप धारण करने लगा। बहुत दिनों तक दोनों अपनी अपनी भाषा में निज के उद्गार प्रकट करते रहे पर धीरे धीरे उन्हीं में से जिसको इस माध्यम में अपनी मातृभाषा से कुछ अधिक सारल्य ज्ञात हुआ, वे इसमें भी कुछ कुछ लिखने लगे। साहित्यारंभ प्रेम, भक्ति या समाज मूलक होता है और किसी देश की सभ्यता के आरंभ में इन्हीं पर विशेष उत्साह

गद्यारंभ

तथा उत्तेजना मिलती है, जिसका उद्गार पहिले पहिल कविता रूप में निकल पड़ता है। पर उर्दू का आरंभ दो सभ्य जातियों के संपर्क से हुआ था अतः जिस जाति ने इसे विशेष रूप से अपनाया उसी के पुराने साहित्य का रंग इस पर पूर्णरूप से आना स्वभाव-सिद्ध था। इस जाति का धर्म भी उस समय नया था और उसके प्रचार की उत्तेजना भी इसमें अधिक थी, जिससे अपने धर्म के फकीरों के उपदेश, जीवनी आदि उस भाषा में लिखी जाने लगी, जो माध्यम का काम कर रही थी। इस विचार से ऐसा ज्ञात होता है कि उर्दू के प्राचीन इतिहास के पूरी तौर पर लिख जाने पर स्यात् ऐसा न मिले कि गद्य पद्य से पहिले लिखा गया हो। इसके लिए उत्तरी भारत में खोज करना व्यर्थ है, क्योंकि यहाँ हिंदुओं में संस्कृत तथा हिंदी का और मुसल्मानों के बीच फारसी का ऐसा स्थिर वातावरण था कि उसमें एक नए माध्यम के पर फटफटाने का अवकाश ही नहीं था। यहाँ तो मुगल साम्राज्य के अंत तक गद्य में फारसी ही का चलन था। साहित्य विषयादि गहन विषय छोड़िए, पत्र लेखन, भूमिका, संग्रह, सरकारी कार्रवाई आदि सभी फारसी में लिखा जाता था। उर्दू के कविगण भी फारसी के विद्वान् थे और वे केवल कविता ही में उर्दू का प्रयोग करते थे। यदि वे भूमिका लिखने बैठते थे तो फारसी ही में लिखते थे। उन्हें अपनी फारसी रचना ही पर विशेष अभिमान रहता था। अब देखना चाहिए कि दक्षिण में कब इसका आरंभ हुआ।

अब तक के अन्वेषण में कोई विशेष महत्व के गद्य ग्रंथ नहीं प्राप्त हुए हैं पर खोज जारी है और जब तक प्राचीन उर्दू गद्य का सविस्तार इतिहास तैयार नहीं होता तब तक इस विषय पर विशेष नहीं लिखा जा सकता।

दक्षिण में गद्य साहित्य

प्राप्त प्राचीन गद्य साहित्य सूफ़ी साधुओं तथा फ़क़ीरों की कहावतों, उपदेशों आदि का संग्रह है। ये छोटे छोटे रिसाले (पुस्तिका) हैं। शेख ऐनुद्दीन गंजुल् इस-लाम (मृ० सन् १३३२) की रचनाएँ धार्मिक हैं। ख्वाजा बंदे निवाज़ हज़रत सैयद गेसू दराज़ ने निशातुल्-इश्क का अनुवाद 'मेराजुल् आशिक़ाँ' के नाम से किया है। बीजापुर के शाह मीर-नजी शम्शुलूउश्शाक़ प्रसिद्ध सूफ़ी फ़क़ीर थे, जिसने सूफ़ी मत की कई छोटी छोटी पुस्तिकाएँ लिखीं हैं। इन्हीं में दो का नाम जल तरंग और गुलवास है। सन् १६३५ ई० में मौलाना वजीह ने 'सबरस' लिखा। सन् १६८७ ई० में मीरान याक़ूब ने 'शमय-लुल् इनक़ियाद दलायलुल् इतक़ियाद' लिखा, जिसकी भाषा सरल दखिनी है। इसी सत्रहवीं शताब्दी में रायचूर के सैयद शाह मुह-म्मद क़ादिरी और सैयद शाह मीर ने धर्म पर कई पुस्तकें लिखीं। इस प्रकार अभी तक यही निश्चयतः कहा जा सकता है कि उर्दू गद्य का आरंभ चौदहवीं शताब्दी के अंत में हुआ है।

फ़ारसी से अनूदित कुछ धर्म-विषयक अप्राप्य पुस्तकों को छोड़ कर सबसे पहिली पुस्तक फ़ज़ली की 'देह मजलिस' है। यह सन्

उत्तरी भारत के आरंभिक गद्य ग्रंथ

१७३२ ई० में वली के ग्रंथ के आधार पर लिखी गई थी। ग्रंथकार ने भूमिका में लिखा है कि यह 'रौज़तुश्शोहदा' का अनुवाद है और इसे सुगम तथा मुहाविरेदार भाषा में लिखने का प्रयत्न किया गया है। स्वप्न में किस प्रकार 'शाहे शहीदाँ' ने इसे उत्साह दिलाया था इसका भी उल्लेख किया गया है। यह शीआ था और इसने इस पुस्तक में विनय के शैर तथा मर्सिया लिखा है पर वे विशेष महत्व के नहीं हैं। इसका महत्व उसके आरंभिक काल की रचना होने पर स्थित है। भाषा में तुकबंदी भरी है और लंबे लंबे वाक्यों तथा शब्दों के फेर में अर्थ स्पष्ट नहीं रह गया है। सौदा ने अपने दीवान के आरंभ में एक छोटी सी प्रस्तावना उर्दू में लिखी है पर उसमें भी उनके समय के गुण उपस्थित हैं। दरियाए-लताफ़त में बोलचाल की भाषा के नमूने दिए गए हैं। मीर मुहम्मद अता हुसेन खाँ 'तहसीन' ने सन् १७९८ ई० में ख़ुसरो के चहारदर्वेश का अनुवाद 'नौ तर्ज़े मुरस्सअ' के नाम से किया। यह इटावा निवासी थे और इनके पिता मुहम्मद बाक़िर खाँ 'शौक़' अवध के नवाब सफ़दर जंग के दरबार में रहते थे। तहसीन जेनरल स्मिथ के मुंशी होकर कलकत्ते गए और उनके लौट जाने पर पटने आकर वकील हुए। पिता की मृत्यु होने पर यह नवाब शुजाउद्दौला की सेवा में फ़ैज़ाबाद लौट आए। यहीं इन्होंने यह पुस्तक लिखना आरंभ किया, जो नवाब आसफ़ुद्दौला के समय में समाप्त हुई थी।

यह बहुत अच्छी लिपि लिख सकते थे, जिससे इन्हें मुरस्सअ-रक़म की पदवी मिली थी। फ़ारसी में ज़वाबित-अंग्रेजी और तवारीखे कासमी लिखा है। नौ तर्ज़े मुरस्सअ की शैली क्लिष्ट है और इसीसे मीर अम्मन ने उसका दूसरा अनुवाद बाग़ोबहार के नाम से किया है।

अँग्रेजों को उर्दू की आवश्यकता

व्यापार की दृष्टि से आए हुए अंग्रेज वणिकों ने लगभग दो सौ वर्षों के अनंतर जब भारत के कुछ अंश पर राज्य स्थापित कर लिया और समग्र भारत पर अपने राज्य फैलाने के मनोर्थ को सफल होते देखा तब उन्हें राज्य-प्रबंध के लिए प्रजा की भाषा को जानना अत्यंत आवश्यक जान पड़ा। दुभाषियों का समय बीत चुका था, क्योंकि अब केवल सौदा लेने देने की बातचीत का समय नहीं रह गया था। अन्य धर्मों की अनुयायी तथा अन्य भाषाओं की बोलने वाली करोड़ों प्रजा पर पूर्ण रूपेण शासन करने के लिए उनके धर्म, भाषा, साहित्य, सभ्यता आदि सभी का ज्ञान उपार्जन करना इनके लिए आवश्यक होगया। अंग्रेज़ शासक अपने दोहरे उत्तरदायित्व को समझ रहे थे, इसलिए उनको उन प्रान्तों की भाषाओं को सीखना पड़ता था जहाँ वे नियुक्त किए जाते थे। इसके लिए कालेज खोला गया और पाठ्य ग्रंथ तैयार कराए गए। भारत की कई प्रसिद्ध भाषाओं के कोष, व्याकरण आदि लिखवाए गए और इस प्रकार उनके शिक्षा का पूरा प्रबंध किया गया। इन

सब बोलचाल की भाषाओं में उर्दू पर पहिले विशेष ज़ोर दिया गया था क्योंकि यह पहिले तो मुगल राज्यकाल की राजभाषा फ़ारसी की रूपधारिणी थी और दूसरे अंग्रेजों को उत्तरी भारत के अधिकार का जिनसे 'चार्ज' मिला था वे विशेषतः इसी भाषा के बोलने वाले थे। सन् १८०० ई० में लार्ड वेलेज़ली के शासन काल में देशी भाषाओं की शिक्षा देने के लिए कलकत्ते में एक कालेज खोला गया, जिसके प्रथम प्रिंसिपल डा० गिलक्राइस्ट थे।

'उर्दू गद्य के पिता' डाक्टर जॉन बॉर्टविक गिलक्राइस्ट का जन्म सन् १७५९ ई० में एडिम्बरा में हुआ था और इन्होंने जॉर्ज हेरिअट हास्पिटल में उसी नगर में शिक्षा प्राप्त की

डाक्टर गिलक्राइस्ट

थी। सन् १७९४ ई० में ईस्ट इंडिया कंपनी में सर्जन होकर यह कलकत्ते आए। भारतीय भाषाएँ सीखकर योरोपिअन अफ़सर भारत की प्रजा से अधिक हिलमिल सकते हैं, इस विचार के यह पक्के समर्थक थे, और इन्होंने स्वयं भ्रमण कर उत्तरी भारत के बोलचाल की भाषा का सफलतापूर्वक मनन किया तथा संस्कृत, फ़ारसी आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया था। सन् १८०० ई० में फोर्ट विलियत कॉलेज के खुलने पर यह उसके प्रथम प्रिंसिपल नियुक्त हुए। लार्ड वेलेज़ली ने हिंदी और उर्दू में पाठ्यग्रंथों की रचना का कुल प्रबंध इनको सौंपा, जिसे करने में इन्होंने पूरी सफलता पाई। इसी कॉलेज में कंपनी के अफ़सरों को देशी भाषाओं की शिक्षा भी दी जाने लगी। यह

अपने स्वास्थ्य के कारण अधिक दिन यहाँ नहीं रह सके और सन् १८०४ ई० में पेंशन लेकर विलायत लौट गए। इन्हें एडिंबरा विश्वविद्यालय से एलएल० डी० की पदवी मिली और सन् १८०६ ई० में कुछ दिन हेलवरी में प्रातीच्य-प्रोफेसर रहे। सन् १८१६ ई० से १८१८ ई० तक यह लंडन में भारतीय भाषाएँ अपने घर पर पढ़ाते रहे। ओरिएंटल इंस्टिट्यूशन के खुलने पर सन् १८१८ ई० से १८२६ तक वहाँ हिंदुस्तानी के अध्यापक रहे। जब उस संस्था को ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंद कर दिया तब कुछ दिन और गृह पर हिंदुस्तनी पढ़ाते रहे। ८२ वर्ष की अवस्था में सन् १८४१ ई० की ९ जून को पैरिस में इनकी मृत्यु हुई। इनके नाम पर 'गिलक्राइस्ट-एजुकेशन-ट्रस्ट' नामक एक फंड कलकत्ते में खोला गया। यह ऐसे योग्य और सहृदय सज्जन थे कि इनके सभी सहकारी इनसे संतुष्ट रहे। कप्तान अब्राहम लौकेट, प्रो० जे० डब्ल्यू० टेलर और डाक्टर हंटर की सहायता से हिंदी तथा उर्दू के गद्य का स्वरूप निश्चित करने में इन्होंने बहुत अच्छा कार्य किया। इनके देशी सहकारियों में लल्लूलाल, सदलमिश्र, अम्मन, अफ़सोस, हुसेनी, लुत्फ़, हैदरी, जवाँ, निहालचंद, एकरामअली, विला, मुनीर, सैयद बाशिर अली 'अफ़सोस' और मदारीलाल गुजराती थे। इनकी रचनाएँ बहुत हैं पर उनमें हिंदुस्तानी भाषा-विज्ञान, हिंदुस्तानी का व्याकरण तथा अंग्रेजी-हिंदुस्तानी-कोष प्रधान हैं।

मीर अमान प्रसिद्ध नाम मीर अम्मन दिल्ली-निवासी थे, जहाँ इनके पूर्वजगण हुमायूँ बादशाह के समय से उस राज्य के नौकर रहे और मंसब तथा जागीर का उपभोग करते रहे।

मीर अम्मन

मुग़ल साम्राज्य की अवनति पर अहमद शाह दुर्रानी की लूट मार से और भरतपुर-नरेश सूरज-मल के इनकी जागीर छीन लेने पर यह दिल्ली से पटने चले गए। वहाँ भी जीविका का कुछ उपाय न हुआ तब कई वर्ष बाद परिवार को वहीं छोड़कर अकेले कलकत्ते गए, जहाँ कुछ दिन पर नवाब दिलावर जंग के छोटे भाई मीर मुहम्मद काज़िम खाँ के शिक्षक नियुक्त हुए। दो वर्ष बाद सन् १८०१ ई० में डाक्टर गिलक्राइस्ट साहब से इनका परिचय हुआ और यह मुंशी नियत हुए। अमीर ख़ुसरो कृत चहारदर्वेश का इन्होंने सन् १८०१ ई० में अनुवाद कर उसका नाम बाग़ोबहार रखा। इसे अमीर ख़ुसरो ने निज़ामुद्दीन औलिया के रुग्णावस्था में उनके मनोरंजनार्थ लिखा था। 'तहसीन' कृत इसके एक अनुवाद का उल्लेख हो चुका है। अम्मन ने इसे सुगम उर्दू में लिखा है, जिसकी शैली मुहाविरेदार और सहज है। कहानी रोचक है और ख़ुसरो के समय के मुसलमानी समाज का अच्छा चित्र है। भूमिका में 'अम्मन' ने अपने और उर्दू की उत्पत्ति के विषय में लिखा है। सन् १८०२ ई० में गंजीनए-ख़ूबी लिखा, जो हुसेन वायज काशिफी के अखलाक़े-मुहसिनी का अनुकरण है। ये सुकवि भी थे और करीमुद्दीन के अनुसार एक

दीवान भी लिखा था, जो अप्राप्य है। कविता में किसी को गुरु नहीं बनाया और स्वयं अभ्यास कर सुकवि बने। डा० फैलों लिखते हैं कि मीर अम्मन स्वयं कहते थे कि 'कविता मेरी जीविका नहीं है, मेरी उर्दू टकसाली उर्दू है क्योंकि मैं दिल्ली शाहजहानाबाद का रोड़ा हूँ।' कविता में लुत्फ़ भी उपनाम करते थे पर 'अम्मन' ही प्रसिद्ध है।

मीर शेरअली जाफ़री 'अफ़सोस' के पिता मीर मुज़फ़्फ़र खाँ का वंश इमाम जाफ़र सादिक से मिलता है। इसके पूर्वजगण अरब से भारत आए और उनमें से एक बदरुद्दीन नारनौल में बस गए। मुहम्मद शाह के समय मुज़फ़्फ़र खाँ और उनके भाई गुलाम अली खाँ दिल्ली चले आए और नवाब उम्दतुल् मुल्क अमीर खाँ के यहाँ विश्वसनीय पद पर नियुक्त हुए। यहीं सन् १७३५ ई० के लगभग मीर शेर अली का जन्म हुआ। नवाब अमीर खाँ 'अंजाम' की मृत्यु पर सैयद गुलाम अली कुछ दिन इलाहाबाद के सूबेदार रहे। इनकी मृत्यु के बारह वर्ष बाद मुज़फ़्फ़र खाँ नवाब शुजाउद्दौला के यहाँ तीन सौ रुपये मासिक पर नौकर हुए। उस समय मीर शेरअली ग्यारह वर्ष का था और लखनऊ से साहित्यिक केन्द्र में रहने से इसमें बचपन ही से कविता की ओर रुचि हो गई। मीर हैदरअली हैरान को गुरु बनाया तथा मीर हसन, मीर तक़ी और मीर सोज़ को भी कुछ लोगों के कथनानुसार कविता दिखलाते

अफसोस

थे। कई वर्ष बाद बंगाल के नवाब मीर जाफ़र के यहाँ इनके पिता दारोगा नियत हुए। मीर जाफर की मृत्यु पर दक्षिण गए, जहाँ इनकी मृत्यु हो गई। मीर शेर अली लखनऊ में लगभग ग्यारह वर्ष तक नवाब सालार जंग और उनके पुत्र नवाजिश अली के पास रहे। इसके अनंतर मिर्जा जवाँबख़्त की मुसाहिबी में नियुक्त हुए पर उसी वर्ष उनके दिल्ली लौट जाने पर यह नवाब के नायब सर्फ़रा-जुद्दौला हसन रजा खाँ के साथ रहे। इनके लिखने पर मीर शेर अली फोर्ट विलियम कॉलेज में मुँशी हुए और दो सौ रुपये मासिक वृत्ति मिली तथा पाँच सौ रुपया मार्ग व्यय के लिये मिला। वहाँ सन् १७९९ ई० में शेख सादी के गुलिस्ताँ का बागे-उर्दू के नाम से अनुवाद किया, जो सन् १८०२ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके अनंतर यह अन्य लेखकों की रचनाओं को शुद्ध करने के लिए नियुक्त किए गए। इन्होंने चार किताबें शुद्ध कीं, जिनमें तीन मीर बहादुर अली की नस्रे-बेनजीर, निहालचंद का मजहबे-इश्क और मुहम्मद इस्माइल की बहारे-दानिश हैं। इसके अनंतर सौदा के कुलियात का संपादन किया। सन् १८०५ ई० में मिस्टर हैरिंगटन के (१७६४–१७२८) आज्ञानुसार 'आराइशे महफिल' नामक ऐतिहासिक ग्रंथ लिखना आरंभ किया, जो मुख्यतः सुजान-राय कृत 'खुलासतुत्तवारीख़' के आधार पर है। इसमें अपने समय तक का हाल दिया है। इसका पूर्वार्द्ध तो प्रकाशित हुआ पर उत्त-रार्द्ध सोसाइटी के पुस्तकालय में सुरक्षित रखा है। इन्होंने

एक दीवान भी लिखा है जो उत्तम है। यह सन् १९०९ ई० में मरे।

फ़ोर्ट विलियम कालेज के मीर मुंशी मीर बहादुर अली हुसेनी के विषय में विशेष कुछ नहीं ज्ञात हुआ। इन्होंने अपने बारे में कुछ भी नहीं लिखा है। इन्होंने कविता भी विशेष नहीं की है, जिससे किसी तज्किरः में इनका उल्लेख नहीं मिलता। इन्होंने सन् १८०२ ई० में इख़लाके-हिंदी नामक एक पुस्तक लिखा है, जो हितोपदेश के फ़ारसी अनुवाद मुफ़र्रतुल कुलूब का अनुवाद है। इसके अनंतर मीर हसन की मसनवी सेहरुल् बयान का गद्य रूपांतर किया, जो सन् १८०३ ई० में प्रकाशित हुई। गिलक्राइस्ट-उर्दू-रिसालः उक्त डाक्टर साहब के व्याकरण का संक्षिप्त संस्करण है। मौलाना अहमद शहाबुद्दीन तालिश कृत तारीखेमुल्के आसाम का उर्दू में अनुवाद किया, जिसमें मुअज्जम खाँ ख़ानख़ानाँ मीर जुमला की सन् १६६२ ई० की चढ़ाई का वर्णन है। यह छोटी सी पुस्तक है। इन्होंने क़ुरान और क़िस्सए लुकमान लिखने में सहायता दी थी।

मीर बहादुर अली हुसेनी

हैदर बख़्श हैदरी के पिता सैयद अब्दुल् हसन दिल्ली के निवासी थे। इनके पूर्वज नजफ़ से आए हुए थे। हैदरी का जन्म दिल्ली ही में हुआ था पर वे पिता के साथ यौवन ही में बनारस आकर बस गए थे। गुलज़ारे

हैदर बख़्श हैदरी

इब्राहीमी के प्रणेता नवाब अली इब्राहीम खाँ 'ख़लील' के यहाँ, जो बनारस-जजी में नियुक्त थे, रह कर शिक्षा प्राप्त की। ग़ुलाम हुसेन गाज़ीपुरी से धार्मिक शिक्षा मिली। सन् १८०० ई० में इन्होंने क़िस्सए मेहो माह लिख कर, जो फारसी के एक ग्रंथ का अनुवाद है, डा० गिलक्राइस्ट को दिखलाया, जिससे इनको भी उस कालेज में नियुक्ति होगई। सन् १८०१ ई० में तोता कहानी लिखा। संस्कृत की शुक सप्तति से संकलित कर ज़ियाउद्दीन नख़्शवी ने सन् १३३० ई० के लगभग तूती नामः लिखा, जिसका संक्षिप्त तथा सुगम संस्करण मुहम्मद क़ादिरी ने अठारहवीं शताब्दि के अंत में लिखा। इसी का यह उर्दू अनुवाद है। आराइशे महफ़िल या किस्सए हातिम ताई सन् १८०२ ई० में प्रकाशित हुई। मिर्ज़ा मुहम्मद महदी की फारसी रचना तारीखे नादिरी का उर्दू अनुवाद सन् १८०९—१८१० ई० में समाप्त हुआ। हुसेनी अलवायज़ काशिफ़ी के रौज़तुश्शोहदा के अनुवाद गुलशने शहीदाँ का गद्य-पद्य-मय संक्षिप्त संस्करण 'गुलेमग़फ़रत' है। इसे देह मजलिस भी कहते हैं और यह सन् १८१२ ई० में प्रकाशित हुआ। इनायतुल्ला कृत बहारे दानिश के अनुवाद गुलज़ारे दानिश में त्रिया चरित्र वर्णित है। निज़ामी के हफ्तपैकर के ढंग पर उसी नाम की एक मसनवी सन् १८०५—१८०६ ई० में लिखी। इनका एक दीवान और मर्सियों तथा लतीफों का एक एक संग्रह है। एक पुस्तक क़िस्सए लैली व मजनूँ थी, जिसे कॉलेज की नियुक्ति के

पहिले लिखा था। लायल इनकी मृत्यु सन् १८२८ ई० में और स्प्रेंजर १८२३ ई० में लिखते हैं।

काज़िम अली 'जवाँ' दिल्ली के रहनेवाले थे पर लखनऊ आ बसे थे। यह सन् १८८४ ई० में वहीं थे, जैसा कि गुलजारे इब्राहीम से ज्ञात होता है, क्योंकि इन्होंने वहीं से

काज़िम अली जवाँ अपनी कविता नवाब इब्राहीम अली को भेजी थी। सन् १८०० ई० में यह भी कर्नल स्कौट द्वारा कलकत्ते भेजे गए, जहाँ इनकी भी नियुक्ति हो गई। बेनी नारायण के 'दीवाने जहाँ' में, जो सन १८१२ ई० की रचना है, इन्हें जीवित लिखा है। सन् १८१५ ई० की कविसभाओं के समय यह थे, इससे इसके बाद ही इनकी मृत्यु हुई होगी। इनके दो पुत्र अयाँ और मुमताज भी प्रसिद्ध थे। इन्होंने सन् १८०२ ई० में शकुंतला नाटक के नेवाज कृत भाषा अनुवाद का उर्दू में रूपांतर किया और लल्लूलाल जी की सहायता से सिंहासन बत्तीसी लिखा। इन्होंने उर्दू में कुरान का अनुवाद किया और दक्षिण के बहमनी वंश का एक इतिहास लिखा। ख़िरद अफ़्रोज़ और सौदा की कृति से संकलन कर एक संग्रह प्रकाशित किया। एक बारहमासा भी लिखा है; जिसमें हिंदुओं की रीति रस्मों का भी दस्तूरे-हिंद के नाम से वर्णन है।

मज़हर अली खाँ का दूसरा नाम मिर्ज़ा लुत्फ़ अली था और उपनाम 'विला' था। इनके पिता सुलेमान अली खाँ 'विदाद' थे।

मज़हर अली ख़ाँ विला

विला का जन्म दिल्ली ही में हुआ था। ये मुसहिफ़ी और मिर्ज़ा जान तपिश के शिष्य थे। गुलशने-बेख़ार में निज़ामुद्दीन 'ममनून' के शिष्य लिखे गए हैं। यह भी कॉलेज में नियुक्त हुए और वहाँ इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं। पहिले सादी के पंदनामे का पद्यानुवाद किया, जो सन् १८०३ ई० में छपा। माधोनल-कामकंदला का क़िस्सा इन्होंने लल्लूलाल जी की सहायता से लिखा, जो सन् १८०१ ई० में समाप्त हुआ। बैतालपचीसी का रूपांतर भी इन्होंने किया था। नासिर अली बिलग्रामी वासिती की फ़ारसी रचना हफ़्त गुलशन का उर्दू में अनुवाद किया, जिसमें सात परिच्छेदों में उपदेशमय कहानियाँ हैं। फ़ारसी के तारीख़े-शेरशाही का भी उर्दू में अनुवाद किया। इनका दीवान भी साढ़े तीन सौ पृष्ठ का है जिसकी एक प्रति इन्होंने सन् १८१० ई० में कॉलेज को भेंट की थी। सन् १८१२ ई० तक यह जीवित थे और कलकत्ते में रहते थे, जैसा वेणीनारायण ने लिखा है।

निहाल चंद

मुंशी निहाल चंद के पूर्वज लाहौर के रहने वाले थे पर इनका जन्म दिल्ली ही में हुआ था, इसी से यह लाहौरी और देहलवी दोनों कहलाए। सन् १८०२ ई० में यह कलकत्ते गए और कैप्टेन डेविड रॉबर्टसन की सहायता से, जिनसे पहिले की जान पहिचान थी, डा० गिलक्राइस्ट के पास पहुँचे। उनकी आज्ञा से फ़ारसी के क़िस्सए

ताजुलमुल्क व बकावली का उर्दू अनुवाद कर उसका 'मज़हबे-इश्क़' नाम रखा। शेख इज्ज़तुल्ला बंगाली ने इस कहानी को फ़ारसी पद्य में सन् १७१० ई० के लगभग लिखा था। मज़हबे-इश्क गद्य में है और बीच बीच में शैर भी दिए हैं। यह मीर शेरअली अफ़सोस द्वारा दुहराए जाने पर सन् १८०३ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस कहानी को लेकर कई कवियों ने लेखनी चलाई है, जिसमें दयाशंकर नसीम का गुलज़ारे नसीम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। सन् १७९७ ई० में 'रैहाँ' ने 'ख़ियाबाँ' के नाम से इसे अनूदित किया था। तुहफ़ए मजलिस के नाम से सन् १७३८ ई० में इसका एक अनुवाद हो चुका था और दखिनी भाषा में एक अनुवाद इसके पहिले भी सन् १६२६ ई० में हुआ थां। इन्होंने एक मसनवी भी लिखी, जिसे ईदने-मंजूम कहते हैं।

फोर्ट विलियम कॉलेज में हफ़ीज़ुद्दीन अहमद अध्यापक थे। सन् १८०३ ई० में इन्होंने अबुल्फ़ज़ल के अयारे-दानिश का 'ख़िरद-अफ़्रोज़' के नाम से अनुवाद किया। इस

हफ़ीज़ुद्दीन अहमद ग्रंथ का मूल संस्कृत का पंचतंत्र है, जिसके फ़ारसी में कई अनुवाद हुए हैं। फ़ारस के सुप्रसिद्ध बादशाह नौशेरवाँ ने वर्ज़ूयः बज़श्क नामक विद्वान को भारत में भेजा जिसने 'रायतलहिंद' के समय में 'सोमनाथ के राजा दाबिश्लीम हिंदी के लिए रौशनराय वेदपा कृत कलीलः दमनः' का पहलवी भाषा में अनुवाद किया। नौशेरवाँ की मृत्यु सन् ५७९ ई० में हुई थी।

इसके अनंतर अब्बासी वंश के बादशाह अबू जाफ़र ने अरबी भाषा में मिकंदी के पुत्र अबुल् हसन अब्दुल्ला से इसका अनुवाद कराया। इसके अनंतर शाह नसीर सासानी की आज्ञा से फ़ारसी में अनूदित हुआ। रोद के एक कवि ने चतुर्थ अनुवाद गद्य में किया और पाँचवाँ अनुवाद ग़ज़नवी वंश के मसऊद के पुत्र बहराम की आज्ञा से अबुल् मआनी नसरुल्ला ने किया था। इसका पुनः छठी बार निज़ामुद्दीन सुहेली की आज्ञा से हुसेन इब्न अली अल्वाएज़ काशिफ़ी ने अनवारे सुहेली के नाम से अनुवाद किया। इसी का संक्षिप्त रूप अबुल् फ़ज़ल का अयारे-दानिश है। उर्दू में इसके कई और अनुवाद हुए हैं। एक अपूर्ण अनुवाद मिर्ज़ा मेहदी का है, जो कैप्टेन नौक्स के मुंशी थे। दूसरा इन्हीं की आज्ञा से हेंगा खाँ ने किया था पर दोनों अनुवादों में प्रथम ही अच्छा माना गया। सन् १८२४ ई० में अनवारे सुहेली का एक अनुवाद मदरास से प्रकाशित हुआ, जिसे मुहम्मद इब्राहीम ने किया था। सन् १८३६ ई० में फ़क़ीर मुहम्मद खाँ गोया ने इसका अनुवाद बोस्ताने हिकमत के नाम से किया। नवाब मुहम्मद खाँ वासिती ने सन् १८७० ई० में इसका संक्षिप्त अनुवाद किया। भरतपुर वाले पं० बिहारी लाल जानी 'राज़ी' ने सन् १८७९ ई० में अरजंगे-राज़ी के नाम से इसका पद्यानुवाद किया।

इकराम अली खाँ ने सन् १८१० ई० में कप्तान जॉन विलियम टेलर की आज्ञा से अरबी के एक ग्रंथ 'रिसालए-इख्वानुस्सफ़ा'

के तीसरे परिच्छेद का सुगम तथा मुहाविरेदार

इकराम अली खाँ उर्दू में अनुवाद किया। यह अरबी पुस्तक दस मनुष्यों की कृति है, जिसमें एक्यावन निबंध हैं। जिस परिच्छेद का अनुवाद हुआ है, उसमें मनुष्य और पालतू पशुओं का झगड़ा है और इसका जिन्नों के राजा के सामने न्याय कराया गया है। प्रत्येक पशु ने पृथक् पृथक् अपनी उपयोगिता तथा स्वामी का बुरा वर्ताव बतलाया है। डा० डीटेरीसी ने पूरे ग्रंथ का अनुवाद सन् १८५८–१८७९ ई० में किया। सन् १८१४ ई० में एकराम अली खाँ कप्तान एब्रहम लौकेट के प्रस्ताव पर रेकार्ड-कीपर नीयत किए गए थे।

वेणी नारायण ने कॉलेज के सेक्रेटरी टॉमस् रोबक की आज्ञा से उर्दू कवियों का एक संग्रह तैयार किया, जिसका नाम दीवाने-

जहाँ रखा। यह सन् १८१२ ई० में तैयार हुआ।

बेणी नारायण 'जहाँ' सन् १८११ ई० में चार गुलशन नाम से कैवान और फ़र्खुंद: की कहानी का अनुवाद किया, जिसके लिए कप्तान टेलर ने इन्हें पुरस्कृत किया था। शाह रफ़ीउद्दीन कृत तंबीहुल्-ग़ाफ़िलीन का सन् १८२९ ई० में इन्होंने अनुवाद किया। यह पीछे से मुसलमान हो गया और सैयद अहमद का मत ग्रहण किया।

नादिरशाह के साथ सन् १७३९ ई० में नाज़िम बेग खाँ 'हिजरी' का पुत्र मिर्ज़ा अली 'लुत्फ़' अपने पिता के सहित भारत

अन्य लेखक गण

आकर बस गया। फारसी कविता में पिता से सहायता लेता था पर उर्दू में किसी को गुरु नहीं बनाया। डाक्टर गिलक्राइस्ट के बुलाने पर यह वहाँ गया और सन् १८०१ ई० में गुलजारे-इब्राहीम की सहायता से 'गुलशने-हिंद' नामक प्रसिद्ध संग्रह तैयार किया। इसकी एक प्रति हैदराबाद की मूसी नदी के बाढ़ में मौलवी अब्दुल् हक को मिली, जिसे उन्होंने प्रकाशित किया है। अमानतुल्ला 'शैदा' ने सन् १८०५ ई० में फारसी के इख़लाके-जलाली का जामए-इख़लाक़ के नाम से अनुवाद किया। सन् १८०४ ई० में हिदायतुल् इस्लाम नाम की पुस्तक अरबी और उर्दू भाषा में लिखा। इसका डा० गिलक्राइस्ट ने अंग्रेजी अनुवाद किया है। इन्होंने एक उर्दू का व्याकरण भी लिखा है। खलील खाँ 'अश्क' ने सन् १८०१ ई० में डा० गिलक्राइस्ट के आज्ञानुसार अमीर हमजा: के क़िस्सा का चार जिल्दों में अनुवाद किया था। सन् १८०९ ई० में अकबरनामे का अनुवाद वाक़िआते-अकबरी के नाम से किया। मिर्ज़ा जान 'तैश' ने उर्दू मुहाविरों पर एक पुस्तक लिखी और सन् १८११ ई० में बहारे-दानिश के कुछ अंश का पद्य में अनुवाद किया। इनका कुलियात भी कॉलेज से प्रकाशित हुआ था।। जाफ़र अली 'खाँ' लखनवी, अब्दुल करीम खाँ 'करीम' देहलवी, मिर्ज़ा मुहम्मद फितरत आदि कई अन्य सज्जन भी वहाँ इसी अनुवाद कार्य पर नियुक्त थे।

अठारहवीं शताब्दी के अंत में दिल्ली में शाह वलीउल्ला नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान रहते थे। इन्होंने और इनके पुत्र शाह अब्दुल् अजीज़ ने फ़ारसी में कुरान पर टीका की थी। इनके द्वितीय पुत्र शाह रफ़ीउद्दीन ने कुरान का प्रथम अनुवाद उर्दू में किया। तृतीय पुत्र शाह अब्दुल् क़ादिर ने, जो अपने वंश में सबसे अधिक विख्यात हुए, सन् १८०१ ई० में दूसरा अनुवाद मौज़उल् कुरान के नाम से किया। वहाबी मत के यह प्रधान ग्रंथकार थे। इसकी भाषा सुगम और मुहाविरेदार है। यह अनुवाद इतना उत्तम है कि कितने अन्य अनुवादों के होते भी अब तक इसी का प्रचार है। मौलवी नज़ीर अहमद ने कुरान के अपने अनुवाद में इनकी तथा इनके घराने की बहुत प्रशंसा की है। शाह अब्दुल् अजीज़ के दूर के भतीजे और इनके पुत्र के दामाद मौलवी इस्माइल हाजी एक विद्वान पुरुष थे, जो सैयद अहमद के मतावलंबी थे। दिल्ली के जामेअमसजिद में यह उपदेश दिया करते थे। अपने पीर की आज्ञा से यह जिहाद (धार्मिक युद्ध) के लिए कोहिस्तान गए। बालाई कोट के दुर्ग के पास यह लड़ाई में मारे गए। इन्होंने कई पुस्तकें उर्दू में लिखी हैं, जिनमें तक़वीअतुल् ईमान बहुत प्रसिद्ध है। क़िरा-तुल् आईन तर्क पर एक ग्रंथ है।

कुरान का प्रथम अनुवाद

जॉन जोशुआ केटीलेअर ने डच भाषा में पहला हिंदुस्तानी व्याकरण सन् १७१५ ई० में लिखा। यह बहादुर शाह (सन्

१७०७–१७१२) और जहाँदार शाह (१७१३ ई०) के दरबार में डच एलची होकर आया था।

कोष व्याकरण

यह व्याकरण सन् १७४३ ई० में डेविड मिल द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें ईसाई मत तथा उपदेश आदि भी लिखा गया है। पादरी शुल्ज़ ने सन् १७४४ ई० में लैटिन भाषा में 'ग्रामेटिका हिंदोस्तानिका' लिखा, जिसमें नागरी अक्षरों का भी उल्लेख है। मिल के भारतीय अक्षरों और शब्दावली का वर्णन सन् १७४४ ई० में निकला। चार वर्ष बाद जे. एफ., फ्रिटज़ ने अपने स्पीशमिस्टर में भारतीय अक्षरों का उल्लेख किया है। पादरी केसिआनो बैली-गैट्टी ने सन् १७६१ ई० में 'ऐल्फाबेटम ब्राह्मनिकम' प्रकाशित किया, जिसमें देशी भाषाओं के शब्द देशी लिपियों ही में प्रथम-बार दिए गए हैं। सन् १७७२ ई० में जार्ज हैडले ने एक व्याकरण हिंदुस्तानी में लिखा और सन् १७९६ ई० में दूसरा भी लिखा। इसके अनंतर डा० गिलक्राइस्ट ने कई किताबें लिखीं, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। मौलवी अमानतुल्ला के 'सरफ़ उर्दू' का भी जिक्र आ गया है। कप्तान टेलर तथा डा० हंटर (१७५५–१८१२) ने सन् १८०८ ई० में हिंदुस्तानी-अंग्रेजी कोष और फ़ारसी-उर्दू कहावतों संग्रह प्रकाशित किया। सन् १८१२ ई० में जॉन शेक्सपीअर ने हिंदोस्तानी ग्रामर और सन् १८१६ ई० में एक कोष तैयार किया था। डा० येट्स संस्कृत, हिंदी, बंगाली और हिंदोस्तानी के ज्ञाता थे। इन्होंने अन्य पुस्तकों के सिवा एक

हिंदुस्तानी कोष भी तैयार किया था। गार्सिन द तासी (१७९४–१८७८) फ्रेंच था और भारतीय भाषाओं का विख्यात ज्ञाता था। हिंदी, हिंदोस्तानी, फारसी तथा अरबी की कई पुस्तकें अनूदित कीं और उनपर पुस्तकें लिखीं। डंकन फोर्बस् (१७९८–१८६८) ने हिंदोस्तानी, बंगाली आदि में व्याकरण, कोष आदि कई पुस्तकें लिखीं। फैलों (१८१७–१८८०) बंगाल में इंसपेक्टर ऑव स्कूलस् था और इसने हिंदोस्तानी-इंगलिश कोष तैयार किया, जिसमें साहित्य से उदाहरण भी दिए गए हैं। जॉन टौमसन प्लाट्स (१८३०–१९०४) ने उर्दू-अंग्रेजी कोष, फारसी व्याकरण आदि कई ग्रंथ लिखे। ये सब ग्रंथ बहुधा स्कूल तथा कॉलेज के कार्य में आते हैं।

इंशा और कतील के दरियाए-लताफ़त का उल्लेख ऊपर हो चुका है। यह सन् १८०२ ई० में लिखी गई थी। मुहम्मद इब्राहीम मक़्बा ने तुहफ़ए एलफिंस्टन नाम से एक उर्दू व्याकरण सन् १८२३ ई० में लिखा। अहमद अली देहलवी ने एक संक्षिप्त व्याकरण 'चश्मए-फैज़' के नाम से सन् १८४५ ई० में तैयार किया और देहली कालेज के मौलवी इमाम बख़्श ने सन् १८४९ ई० में एक व्याकरण लिखा। निसार अली, फैजुल्ला खाँ और मुहम्मद अहसन ने एक बड़ा व्याकरण चार भाग में लिखा। सन् १८४५ ई० में प्रो० आज़ाद का जामेउल् क़वायद व्याकरण छपा। सन् १८८० ई० में ज़ामिन अली का कोष छपा, जिसमें उर्दू-हिंदी के शब्द फ़ारसी में

समझाए गए हैं। अमीर अहमद ने अमीरुल्लुग़ात् कोष प्रकाशित किया। सैयद अहमद का प्रसिद्ध बड़ा कोष फ़र्हंगे-आसफ़िया बड़े परिश्रम से चार भाग में निज़ाम हैदराबाद के आश्रय में प्रकाशित हुआ। नूरुल्लुग़ात् भी अच्छा कोष है, जो बिलग्राम में लिखा गया था। अंजुमने तरक्क़िए उर्दू ने नए ढंग पर हाल ही में एक व्याकरण प्रकाशित किया है और बड़े कोष तैयार करा रही है।

भारतवर्ष में आए हुए युरोपिअन पादरियों ने धर्म के प्रचारार्थ यहाँ की भाषाओं में अपने धर्म ग्रंथ का अनुवाद कर प्रकाशित किया था। बेंजामिन शुल्ज़ डेनमार्क का निवासी था। सन् १७२८ ई० में यह भारत आया और सन् १७४३ ई० में लौट गया। इसी बीच बाइबिल के कुछ अंश का कई भाषाओं में अनुवाद किया। भारतीय भाषाओं पर भी एक पुस्तक जे. एफ. फ़्रिट्ज़ की सहायता से जर्मन भाषा में लिखा। कॉलेज के मिर्ज़ा मुहम्मद फ़ितरत आदि मुंशियों ने बाइबिल का अनुवाद किया, जिसे डाक्टर हंटर ने संशोधित कर सन् १८०५ ई० में प्रकाशित किया। श्रीरामपूर के रेव० हेनरी मार्टिन (१७८१–१८१२) ने बाइबिल के न्यूटेस्टामेंट का ग्रीक भाषा से फारसी तथा हिंदोस्तानी में अनुवाद किया। सन् (१८१६–१९ ई०) में बाइबिल का संपूर्ण अनुवाद पाँच भागों में श्रीरामपूर के पादरियों ने प्रकाशित किया।

ईसाइयों का उर्दू द्वारा धर्म प्रचार

लखनऊ की आरंभिक कुछ गद्य रचनाओं का उल्लेख हो चुका

है और उसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में कलकत्ते में उर्दू गद्य के प्रसार के लिए जो कुछ प्रयत्न हो चुका था उसकी भी विवेचना की जा चुकी। इस बीच भी लखनऊ में कुछ गद्य रचनाएँ हुईं, जिसमें गुलोसनोबर, गुलशने नौ बहार, नौरतन आदि प्रसिद्ध हैं। फ़क़ीर मुहम्मद गोया का बोस्ताने हिकमत भी लखनऊ में सन् १८३४ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह नासिख़ के शिष्य थे और इन्होंने एक दीवान भी लिखा है। बोस्ताने-हिकमत तीन सौ पृष्ठों से अधिक है और इसकी भाषा क्लिष्ट है। इसमें स्थान स्थान पर बहुत से शैर भी दिए गए हैं। गोया की सन् १८५० ई० में मृत्यु हुई।

लखनऊ के सबसे अधिक प्रसिद्ध उर्दू गद्य-लेखक मिर्ज़ा रजब अली सरूर थे। इनका जन्म सन् १२०१ हि० में लखनऊ में हुआ और इक्यासी वर्ष की अवस्था में सन् १८६७ ई० में यह बनारस में मरे। यह बहुत अच्छी लिपि लिखते थे। यह आगा 'नवाजिश' हुसेन के शिष्य थे। गालिब ने गद्य लेखकों में इन्हें अग्रणी माना है। यह अवध के नवाब की आज्ञा से कानपुर जाकर रहते थे और वहीं प्रसिद्ध उपन्यास 'फिसानए अजायब' लिखा, जिसमें जानआलम तथा मेहरनिगार की प्रेम कथा है। तिलस्म और जादू इसमें भरा हुआ है। भाषा तुकबंदी से परिपूर्ण है। वाजिद अली शाह के गद्दी पर बैठने पर यह दरबार में नियुक्त हुए। यहीं

सरूर

शाहनामा के संक्षिप्त संस्करण शमशेरे-सानी का उर्दू अनुवाद सरूरे सुलतानी के नाम से किया। इसके अनंतर शर्रे इश्क और शिगूफ़ए मुहब्बत दो कहानियाँ लिखीं। वाजिद अली शाह के गद्दी से उतारे जाने और बड़े बलवे के शांत होने पर यह सन् १८५९ ई० में काशिराज महाराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह के यहाँ चले आए और प्रायः अंत तक यहीं रहे। यहीं गुलज़ारे सरूर, शबिस्ताने सरूर आदि गद्य तथा पद्य रचनाएँ कीं। यह अलवर तथा पटियाला के नरेशों द्वारा भी संमानित हुए थे। इन्होंने यात्रा भी बहुत की और इंशाए सरूर नामक इनके पत्र-संग्रह में इसका वर्णन दिया है। इन पत्रों में सरूर के जीवन वृतांत तथा सम-कालीन घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। आँखों की दवा के लिए यह कलकत्ते जाकर मटियाबुर्ज में वाजिद अली शाह से मिले थे, जहाँ से लौटने पर चार वर्ष बाद मर गए।

रचना शैली तथा स्थान

इनका मुख्य ग्रंथ फ़िसानए अजायब है, जो फ़ारसी की विशिष्ट प्रथा के अनुकूल तिलस्मी कहानी है। सभी कुछ कपोल कल्पना है और तुकबंदी लिए हुए शायराना शैली पर लिखा गया है। यह तर्ज़े मुसज्जा में लिखी गई है और इसमें वर्णनात्मक अंश अधिक है। इसकी भाषा आलंकारिक तथा दुरूह होगई है। चरित्र चित्रण साधारण है और कथोपकथन को इस शैली में स्थान ही क्या मिल सकता है। इसकी नकल पर सन् १२८१ हि० (सन्

१८६४ ई०) में सैयद मुहम्मद फखरुद्दीन हुसेन 'सखुन' देहलवी ने सरोशे सखुन लिखकर इनकी निंदा की है, जिसके जवाब में मुहम्मद जाफर अली 'शैवन' लखनवी ने सन् १८७२ ई० में तिलस्मे-हैरत लिखा है। इनकी अन्य रचनाएँ भी मुख्यतः उसी मुसज्जा शैली पर लिखी गई हैं। गालिब की आलोचना इन्होंने पुरानी चाल पर की है और सम्राट् सप्तम एडवर्ड के, जो उस समय युवराज थे, विवाहोपलक्ष में 'नस्रे नस्र: नसार' लिखा था। उर्दू साहित्येतिहास में इनका स्थान अमर है और अपने क्षेत्र में, चाहे वह संकुचित ही हो, यह अद्वितीय हैं।

महाकवि गालिब ने फारसी तथा उर्दू दोनों में गद्य में भी बहुत लिखा है। उर्दू में इनके दो पत्र संग्रह उर्दुए मुअल्ला तथा ऊदे हिंदी हैं, जो बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा सरल है तथा तत्कालीन तुकबंदी से स्वतंत्र है। पुरानी प्रथा के लंबे इलक़ाब, आदाब को इन्होंने साफ जवाब दे दिया था। इस सादगी पर भी भाषा में सौष्ठव बना हुआ है और उसमें विनोद की भी ऐसी मात्रा रहती थी कि वे संग्रह पढ़ते ही बनते हैं। अपने अनुभव भी देने के कारण उनके जीवनवृत्त पर भी प्रकाश पड़ता है। स्वभाव से विनोदप्रिय थे, इसलिए जहाँ करुणापूर्ण बात भी लिखा है, उसके भी अंतर्गत विनोद की झलक आ जाती है। इन पत्रों में यह हृदय की बात इतनी स्पष्टता तथा सरलता से कहते थे कि उसका असर अवश्य

गद्य लेखक गालिब

पड़ता था। इन कारणों से इनकी एक खास शैली बन गई जिसका बाद को पत्र लेखन पर बहुत असर पड़ा। इनके पत्रों में तत्कालीन घटनाओं का भी वर्णन मिलता है, जिससे इतिहास लेखन में सहायता पहुँच सकती है।

इन दो के सिवा गालिब ने कुछ भूमिका तथा आलोचना भी लिखी हैं और बुर्हानकाता लुग़त की आलोचना पर प्रत्युत्तर में कातए बुर्हान, तेगेतेज और नामए गालिब लिखा है। लतायफे गालिब में कुछ कहानियाँ हैं। भूमिका आदि लिखने में यह तुकबंदी से अपने को नहीं बचा सके क्योंकि ऐसा न करने से उन लोगों को कष्ट होता, जिनकी रचनाओं पर ये अनुवचन लिखने बैठे थे। पर इनमें इसी कारण गालिब की स्वाभाविक सरलता, विनोद, अनुभूति आदि का अभाव सा हो जाता था।

वहाबी मत फारस से प्रचलित होकर हिंदुस्तान आ पहुँचा था और क्रमशः इसका प्रभाव बढ़ रहा था। शाह अब्दुल् अज़ीज़ और अब्दुल् कादिर दो भाई इस मत में दीक्षित हुए और द्वितीय ने कुरान का उर्दू अनुवाद तथा प्रथम ने तफ़सीरे-अजीजिया नामक टीका लिखी। सैयद अहमद, जो इस मत का भारत में मुख्य प्रचारक हुआ, इन्हीं दोनों का शिष्य था। उसका जन्म सन् १७८२ ई० में दिल्ली में हुआ। यह कुछ दिन अमीर खाँ की सेना में एक सवार रहा। वहाबी मत ग्रहण करने पर यह सन् १८८०

वहाबी मत का प्रभाव

ई० में कलकत्ते गया और वहाँ से मक्का होते हुए कुस्तुनतुनिया गया तथा ६ वर्ष उधर घूमने के बाद सन् १८२६ ई० में पंजाब में प्रकट हुआ। इसने सिक्खों के विरुद्ध धर्म-युद्ध घोषित किया और अपने मतावलंबियों के साथ पेशावर गया, जो चालीस सहस्र के लगभग थे। पेशावर पर इसका कुछ समय के लिए अधिकार हो गया पर अफगानों के साथ न देने पर यह भागा और सिखों द्वारा मारा गया। इस मत के प्रचार के लिए अनेक छोटी बड़ी पुस्तकें उर्दू में लिखी गईं, जिनकी भाषा सरल तथा जनसाधारण के लिए सुपाठ्य थीं।

आरंभ में कलकत्ते में फारसी उर्दू के लिए जो छापाखाना खुला वह ईसवी अठारहवीं शताब्दी के प्रायः अंत में खुला था।

उर्दू प्रचार के अन्य साधन

इसमें फारसी तथा उर्दू दोनों भाषा की पुस्तकें छपीं पर उन पर इतना अधिक व्यय हुआ कि वह प्रकाशन कार्य रोक देना पड़ा। अन्य सभी भारतीय भाषा के लिए टाइप सहज में बन गए पर फारसी लिपि के लिए बड़ी कठिनाई से बन सके। इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी के प्रायः मध्य में दिल्ली तथा लखनऊ में प्रेस खुले और क्रमशः पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य बढ़ने लगा। उर्दू के प्रचार में इससे बहुत सहायता मिली। इन प्रेसों के खुल जाने पर समाचार तथा मासिक पत्र भी निकलने लगे। सन् १८३२ ई० में भारत सर्कार ने फारसी के स्थान पर सुगमता की दृष्टि से देशी

भाषाएँ चलाईं पर उन प्रांतों के दुर्भाग्य से जहाँ के कुछ लोगों में उर्दू बोली जाती थी, उर्दू सर्कारी भाषा बना दी गई। इससे उर्दू का प्रचार बढ़ा पर जिस सुगमता की दृष्टि से यह परिवर्तन किया गया था वह नहीं हुआ। लिपि वही रही, फ़ारसी अरबी की शब्दावली ज्यों की त्यों रही केवल कुछ क्रिया आदि के शब्द हिंदी हो गए। अंग्रेजी भाषा तथा अंग्रेजों के संसर्ग का भी उर्दू पर काफ़ी असर पड़ा और सर सैयद अहमद आदि विद्वानों ने उस प्रभाव से विशेष लाभ उठाया।

सर सैयद अहमद

इस सुप्रसिद्ध विद्वान, समाज-सुधारक, नेता, व्याख्याता, संपादक, नीतज्ञ तथा दार्शनिक का जन्म १७ अक्तूबर सन् १८१७ ई० को दिल्ली में हुआ था। इनके पूर्वज अरब से फ़ारस में और वहाँ से शाहजहाँ के समय में भारत में आकर बस गए थे। इनके दादा मीर हादी और इनके पिता मीर मुहम्मद तक़ी ख़ाँ मुग़ल दरबार में सरदार थे और इनकी माता अज़ीज़ुन्निसा सुशिक्षिता विदुषी थीं, जिन्होंने बचपन में इन्हें स्वयं शिक्षा दी थी। इसके अनंतर भी बारह वर्ष की अवस्था तक ये बराबर अपना पाठ रात्रि को इन्हें सुनाया करते थे। सन् १८३६ ई० में पिता की मृत्यु के दूसरे वर्ष पढ़ना लिखना छोड़कर इन्होंने बृटिश गवर्नमेंट की नौकरी कर ली। पहिले सदर अमीन के दफ्तर में सरिश्तेदार हुए। सन् १८३९ ई० में आगरे की कमिश्नरी में नायब मुंशी हुए और दो वर्ष बाद

फ़तेहपुर सिकरी में मुंसिफ नियुक्त हुए। सन् १८४६ ई० में दिल्ली लौटकर सदर अमीन हुए, जहाँ इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक आसार-उस्सनादीद लिखा, जिसमें पुरानी दिल्लियों की ऐतिहासिक इमारतों, खँडहरों आदि के वर्णन खोज और परिश्रम के साथ दिया है। गार्सिन द तासी ने फरासीसी भाषा में इसका उल्था प्रकाशित किया, जिससे इंगलैंड में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई और लंडन के रॉयल एशाटिक सोसाइटी ने इन्हें अपना औनरेरी सभासद वनाया। सन् १८५० ई० में रोहतक के और सन् १८५५ ई० में बिजनौर के सब जज हुए। यह बिजनौर ही में थे जब बड़ा बलवा हुआ था। इसी बीच इन्होंने बिजनौर का इतिहास लिखा। विद्रोह में अंग्रेजों की सहायता करने से पुरस्कार में ख़िलअत, मोती की माला, तलवार आदि के साथ २००) रु० की मासिक वृत्ति आजन्म के लिए तथा इनके ज्येष्ठ पुत्र को भी जन्म भर के लिए मिली थी। सन् १८५८ ई० में शांति स्थापित होने पर यह पुनः बिजनौर अपने पद पर लौट आए और इसी वर्ष इन्होंने एक पुस्तक विद्रोह के कारण (असबाबे-बग़ावते-हिंद) नाम की लिखा, जिसमें विद्रोह होने के कारण तथा वृतांत दिया है। सन् १८७३ ई० में इसका अनुवाद सर औकलैंड कालविन तथा ग्रेहम साहब ने किया था। दूसरी पुस्तक भारत के राजभक्त मुसलमान के नाम से लिखी, जिसमें अपनी जाति के इस कलंक को, कि मुसलमानों ही ने विद्रोह में अधिक उपद्रव किया था, मिटाने का

प्रयत्न क़रते हुए उनकी राजभक्ति का परिचय दिया है। सन् १८५८ ई० में यह मुरादाबाद बदल दिए गए, जहाँ इन्होंने सन् १८६१ ई० में एक स्कूल स्थापित किया। सन् १८५२ ई० में यह गाज़ीपुर भेजे गए। यहाँ भी इन्होंने एक स्कूल स्थापित किया और शिक्षा के उपयुक्त पुस्तकों के अभाव की पूर्ति के लिए इन्होंने सन् १८६४ ई० में यहाँ एक समिति स्थापित की, जहाँ अंग्रेज़ी से उर्दू में पुस्तकें अनूदित की जाँय। यही समिति उसी वर्ष इनके साथ अलीगढ़ गई, जहाँ इनकी नियुक्ति हुई थी और अलीगढ़ वैज्ञानिक समिति के नाम से प्रसिद्ध हुई। यहीं से इन्होंने एक पत्र निकाला, जिसके यह स्वयं बहुत दिनों तक संपादक रहे। सन् १८६६ ई० में बड़े लाट लॉर्ड लॉरेंस ने शिक्षा प्रचार के इनके प्रयत्न से प्रसन्न होकर इन्हें सुवर्ण पदक तथा मेकॉले की ग्रंथावली उपहार में दी थी। इसके दूसरे वर्ष यह बनारस आए। शिक्षा प्रचार की धुन लगी ही थी। इसी समय ऑक्सफोर्ड और केम्ब्रिज की शिक्षा-पद्धति से परिचित होने के लिए बावन वर्ष की अवस्था में यह अपने दोनों पुत्रों के साथ सन् १८६९ ई० में इंगलैंड गए। वहाँ इनका अच्छा आदर हुआ और इन्होंने सर विलियम म्योर रचित मुहम्मद के जीवन चरित की तीव्र आलोचना लिखी। यहीं इन्हें सी० एस० आई० पदवी प्राप्त हुई और १८७० ई० में यह भारत लौटकर पुनः बनारस में सब जज हुए। इनका लिखा 'मुहम्मद का जीवन चरित' इसी समय छप रहा था, जिसका

कुछ अंश अंग्रेज़ी में अनुवाद करा कर प्रकाशित किया। इसमें दिखलाया गया है कि शक्ति द्वारा प्रचार किए जानेवाले धर्मों में मुसलमान धर्म ने कृस्तान धर्म से अपेक्षाकृत कम बल का प्रयोग किया है। इसी वर्ष इन्होंने 'मुसलमान सोशल रिफ़ौर्मर' (तहज़ीबुल् इख़लाक़) नामक पत्र निकाला, जिसमें धार्मिक सुधार विषयक अनेक लेख बराबर प्रकाशित होते रहे। मुहसिनुल् मुल्क, विक़ारुल् मुल्क, मौलवी चिराग़ अली आदि भी लेख लिखते थे। परंतु अनवरुल् आफ़ाक़ तथा नूरुल् अनवर पत्र इसका विरोध करने के लिए निकाले गए। अवध पंच में इनका व्यंग्य चित्र प्रकाशित किया गया था। विरोधी पक्ष इन्हें नेचरियः, नास्तिक, शैतानों का सेनापति आदि कहते थे। इन्हें मार डालने की धमकी दी गई पर यह अपने पथ से न डिगे। सन् १८७५ ई० के २३ मई को अलीगढ़ कॉलेज स्थापित हुआ और उसके अनंतर इनका ध्यान इसी ओर रहने लगा। इसके दूसरे वर्ष यह पेंशन लेकर अलीगढ़ जा रहे। बड़े लाट के लेजिस्लेटिव् काउंसिल के सन् १८७८ ई० तक सभासद रहे। सन् १८८८ ई० में इन्हें के० सी० एस० आई० की उपाधि मिली। सन् १८९८ ई० के २७ मार्च को इनकी मृत्यु हुई। इनके दो पुत्र थे—ज्येष्ठ सैयद हामिद पुलिस सुपरिंटडेंट हुए थे पर इन्हीं के सामने उनकी मृत्यु हो गई और दूसरे सैयद महमूद प्रसिद्ध बारिस्टर और इलाहाबाद के जज हुए।

इनकी रचनाओं में आसार-उस्सनादीद, बिजनौर का इतिहास,

असबाबे बग़ावते हिंद, मुसल्मानों की राजभक्ति आदि का उल्लेख हो चुका है। इन्होंने बहुत सी छोटी छोटी पुस्तिकाएँ लिखी हैं, जैसे जिलाउल् क़ल्ब (१८४२ ई०), तुहफ़ए हसन (१८४४), तहसील फ़ी जैरुल् सायल (१८४४) फ़वायुदल् अफ़्कार (१८४६), क़ौलमतीं (१८४९), कलामतुल् हक़ (१८४९), राहेसुन्नत (१८५०), सिलसिलतुल् मुल्क (१८५२) और कीमए सआदत (१८५३)। सन् १८५५ ई० में इन्होंने आईने अकबरी का तथा उसके बाद बार्नी के तारीखे फ़ीरोज़शाही का संपादन किया था। सन् १८६०. ई० में बाइबिल पर तबैअनुल्कलाम नाम की टिप्पणी लिखी जिस पर बहुत आंदोलन मचा था। सन् १८६६ ई० में रिसालए अख़्मे तुआम अह्ले किताब लिखा जिस पर कट्टर मुसलमानों ने बहुत विरोध किया था। इनका सबसे बड़ा ग्रंथ तफ़सीरुल् क़ुरान है जिसकी सात जिल्दें लिखी गई थीं। इतने पर भी यह अपूर्ण है। यौवनावस्था में इनका ग़ालिब, सहबाई, आज़ुर्दः, शेफ़्तः, मोमिन आदि प्रसिद्ध कवियों का साथ रहता था और यह कवि सभाओं में प्रायः जाते थे। इससे उस समय यह भी कुछ कविता करने लगे थे जिसमें अपना उपनाम 'आही' रखते थे। इनकी लेखन शैली बड़ी सुगम, सरल तथा प्रभावोत्पादक थी। इनके लेख गद्य काव्य भी न थे और न पूर्ण पांडित्य ही के परिचायक थे पर सीधी सादी और हृदयग्राही भाषा में लिखे जाते थे, जिससे

इनकी रचनाएँ तथा शैली

पाठकों पर उसका अवश्य ही असर होता था। पुराने समय की तुक भरी आलंकारिक भाषा को छोड़कर इन्होंने अपने भाव साधारण बोलचाल की भाषा में प्रगट किए हैं। भाषा पर इनका अधिकार पूरा था जिससे यह हर प्रकार के विचार सरल भाषा में प्रगट कर सके हैं। क्लिष्ट से क्लिष्ट अंश को अपने प्रसाद गुण पूर्ण भाषा में अच्छी तरह समझा देते थे और जिस विषय को लेते थे उसके दोनों पक्ष की पूरी आलोचना करते थे। जिस प्रकार गालिब की शैली का प्रभाव इन पर पड़ा था उसी प्रकार इनकी शैली का प्रभाव तत्कालीन लेखकों पर पूरी तरह पड़ा है। पत्र लेखनकला तो ईश्वरप्रदत्त थी तथा निर्भीकता-पूर्ण तीव्र और स्वतंत्र आलोचना करने की शैली के यह पोषक थे। हाली ने इनकी विशद जीवनी लिखी है, जिसमें इनकी अच्छी प्रशंसा की है।

उर्दू साहित्य पर इनका प्रभाव

उर्दू साहित्य के इतिहास में सर सैयद अहमद खाँ का स्थान अद्वितीय है। इनके आकर्षक व्यक्तित्व ने अपने समकालीन योग्य विद्वानों तथा कवियों को अपनी ओर आकर्षित कर उस कार्य में लगा दिया था, जो उनके मतावलंबियों के तथा भाषा के उत्थान का कारण था। इनमें नवाब मुहसिनुल् मुल्क, चिराग़ अली, नज़ीर अहमद, ज़काउल्ला, शिबली और हाली प्रधान थे। इनमें प्रथम तीन साहित्य तथा विवादास्पद विषयों पर लिखते थे, तीसरे और चौथे इतिहासज्ञ थे, पाँचवें गल्प आदि छोटी छोटी उपदेशमय

कहानी शिक्षा के लिये लिखते थे और छठे कवि थे। इस प्रकार सर सैयद अपनी मातृ भाषा ही को उन्नति का मूल मंत्र मानकर उसीके उत्थान में आजन्म प्रयत्नशील रहे।

मीर मेहदी अली का जन्म सन् १८३७ ई० में इटावे में हुआ था और यह दस रुपये महीने पर कंपनी में मुंशी हुए। क्रमशः उन्नति करते हुए अहलमद, सरिश्तेदार और सन् १८६१ ई० में तहसीलदार हुए। दो वर्ष के अनंतर डिप्टी कलेक्टरी की परीक्षा में प्रथम हुए। सन् १८६३ ई० में मिर्जापुर में डिप्टी कलक्टर हुए। सन् १८७४ ई० में सर सालार जंग ने इनकी योग्यता सुनकर इन्हें हैदराबाद बुला लिया और तहसील के विभाग का प्रधान अध्यक्ष नियत कर दिया। दो वर्ष बाद उसी विभाग के यह मंत्री हुए। सन् १८८४ ई० में यह राजकोष तथा नैतिक विभाग में मंत्री हुए और मुनीर नवाब जंग मुहसिनुल्मुल्क पदवी मिली। हैदराबाद में फारसी के स्थान पर उर्दू को दरबार की भाषा बनाने में इन्हीं का श्रेय अधिक है। यह इंगलैंड गए और वहाँ से लौटने पर आठ सौ रुपये मासिक पेंशन लेकर यह अलीगढ़ चले आए। यहाँ इन्होंने तहज़ीबुल् इख़लाक़ को पुनः चलाया और अलीगढ़ समिति के गज़ेट को उन्नति दी। अलीगढ़ कॉलेज के जेनरल सेक्रेटरी रहे और कॉलेज पर धनाभाव के कारण आई हुई घोर विपत्ति के समय बड़ी सहायता की। सन् १९०७ ई० में इनकी मृत्यु हुई।

मुहसिनुल्मुल्क

आरंभ में यह सर सैयद के विरोधी थे और सन् १८६३ ई० के लेख में उन्हें नास्तिक तक कहा था पर क्रमशः उनके लेखों का असर इन पर पड़ता गया और यह उनके समर्थक हो गए। सन् १८७० ई० में तहज़ीबुल् इख़लाक़ के आरंभ होने पर यह उसमें बराबर लेख देने लगे और अपनी विद्वत्ता के कारण सर सैयद के लेखों के समर्थन में पुराने ग्रंथों के हवाले देकर उनकी पुष्टि करते थे। इनके लेख प्रायः ऐतिहासिक और धार्मिक होते थे तथा इनका ध्येय स्व-जातियों के नैतिक, सामाजिक, धार्मिक और विद्याविषयक उत्थान की ओर ही रहता था। हाली, शिवली आदि ने इनकी उचित प्रशंसा की है। इनकी लेखनशैली आरंभ में फ़ारसी की प्रथा पर आडंबरपूर्ण थी पर अवस्था के साथ साथ उसमें सारल्य, सौकुमार्य तथा प्रसाद गुण बढ़ता गया। अलंकारादि का समावेश भाव तथा विचार का उन्नायक ही होता था और अर्थ को आच्छा-दित नहीं करता था। इनके लेखों के संग्रह छपे हैं। इनका एक स्वतंत्र ग्रंथ 'आयात बयानात' इस्लाम धर्म पर है। इन्हीं के कहने पर ज़फ़र अली ने 'धर्म और विज्ञान के युद्ध का इतिहास' नामक अंग्रेजी ग्रंथ का उर्दू में अनुवाद किया।

लेख और लेखन-शैली

शम्शुलुउल्मा प्रोफेसर मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' के पिता मौलवी बाक़र अली 'ज़ौक़' के मित्र और उत्तरीभारत के पत्र-कारों के अग्रणियों में थे। आज़ाद का जन्म दिल्ली में हुआ

आज़ाद और ज़ौक़ के निरीक्षण में आरंभिक शिक्षा मिली। यही इनके काव्य गुरु थे। ज़ौक़ ने इन्हें समकालीन सुकवियों, धनवानों तथा कविसभाओं से परिचित करा दिया, जिससे इनकी कवित्व शक्ति को बहुत कुछ सहायता मिली। सन् १८५७ ई० के विद्रोह में इनकी तथा इनके गुरु की कृतियों का संग्रह नष्ट हो गया और इनके पिता मारे गए। यह घर छोड़कर परिवार सहित देशत्यागी भी हुए और घूमते फिरते लखनऊ पहुँचे पर अंत में लाहौर पहुँच कर इनका भाग्य खुला। इनके मित्र रज्जब अली ने छोटे लाट के मीर मुंशी पंडित मनफूल से इनका परिचय करा दिया, जिन्होंने शिक्षा विभाग में इन्हें पंद्रह रुपये की नौकरी दिला दी। लाहौर युनिवर्सिटी के डाइरेक्टर मेजर फ़ुलर फ़ारसी तथा अरबी के ज्ञाता थे और आज़ाद की योग्यता से परिचित होकर उन्हें उर्दू तथा फ़ारसी की रीडरें लिखने की आज्ञा दी। कर्नल हॉलरॉयड ने कसिसे हिंद का दूसरा भाग इनसे लिखवाया, जिसके प्रथम और तृतीय भाग प्यारेलाल 'आशोब' के लिखे हुए थे। अंजुमने पंजाब के यही प्रधान संस्थापक थे और इन्हीं के प्रयत्न से उसमें कवि सभा छोटे लाट के आश्रय में आरंभ हुई। यह कई वर्ष तक उसके मंत्री रहे। शिक्षा में तथा अफ़सरों में उर्दू-प्रचार का इन्होंने विशेष प्रयत्न किया। सन् १८६५ ई० में सर्कारी काम से कलकत्ते गए और कुछ दिन के लिए पंडित मनफूल के साथ काबुल और बुखारा गए। दूसरी बार सन् १८८३

ई० में यह फिर फ़ारस गए थे। फ़ारसी के यह विद्वान थे और दो बार फ़ारस जाने से इन्हें प्रचलित फ़ारसी सीखने का अच्छा सुयोग मिला। कर्नल हॉलरायड ने सर्कारी पत्र 'अतालीक़े पंजाब' का इन्हें सहायक संपादक नियुक्त किया, जिसके प्रधान संपादक राय साहब प्यारेलाल 'आशोब' थे। जब यह पत्र बंद किया गया और 'पंजाब मैगेज़ीन' निकलने लगा तब भी यह उसी पद पर रहे। इसके अनंतर यह लाहौर कॉलेज में अरबी और फ़ारसी के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। सन् १८८७ ई० इन्हें शम्सुल् उल्मा की उपाधि मिली, जिसके दो वर्ष अनंतर यह मानसिक परिश्रम के आधिक्य से पागल हो गए और इसी अवस्था में लगभग इक्कीस वर्ष बिताकर २२ जून सन् १९१० ई० को मर गए।

रचनाएँ

उर्दू की प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय और फ़ारसी की प्रथम तथा द्वितीय रीडरें और बालोपयोगी 'क़वायदे उर्दू' लिखा। इनकी भाषा बड़ी ही सुगम है। क़सिसे हिंद ऐतिहासिक कहानियों का संग्रह है, जिसकी भाषा बच्चों तथा विद्वानों दोनों ही के लिये पठनीय है। इनकी श्रेष्ठ रचना आबेहयात है, जिसमें वली से लेकर अनीस और दबीर तक के प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों की जीवनियाँ है और उनकी कविता भी संकलित की गई हैं। इसके पहिले के तज़किरों और गुलदस्तों में केवल कवियों के नाम आदि का उल्लेख मात्र और कुछ कविता का संकलन रहता था। आबेहयात में पहिले पहिल विस्तृत

जीवनी तथा मार्मिक आलोचना दी गई है और इसकी लेखन-शैली भी इतनी सजीव और अच्छी है कि यह उर्दू साहित्य की स्थायी संपत्ति हो गई है। इसकी लेखनशैली न आडंबरपूर्ण होने से क्लिष्ट हो गई है और न बिलकुल सादी साधारण ही है। इतिहास की प्रायः सभी पुस्तकों के कुछ अंशों पर अन्वेषण या खोज हरताल फेरता रहता है पर इससे पूर्ववर्ती इतिहास-लेखक की महत्ता कम नहीं होती। आजाद की लिखी कुछ बातें अशुद्ध हो सकती हैं पर इसके लिए उनको दोष देना अनुचित है। समकालीन कवियों में पक्षपात या विरोध का गंध किसी ख़ास संबंध के कारण आ ही जाता है जैसा ज़ौक़ और ग़ालिब के विषय में कहा जाता है पर यह 'स्वाभाविक है। वास्तव में उर्दू में आलोचना का आरंभ इन्हीं के साथ हुआ है। सन् १८८० ई० में इन्होंने नैरंगे-ख्याल दो भागों में लिखा, जो उर्दू साहित्य में नए ढंग की पुस्तक है। यह संस्कृत के कथासरित्सागर के ढंग पर छोटा ग्रंथ है, जो डा० लीटर के उत्साह दिलाने से लिखा गया था। यह ग्रीक कथानकों के आधार पर आज़ाद की आज़ादाना शैली पर लिखा गया है। सखुनदाने-फ़ारस में फ़ारसी साहित्य का कुछ इतिहास तथा फ़ारसी और संस्कृत भाषाओं के शब्द-साम्य की विवेचना है। फ़ारस यात्रा के फलरूप वहाँ के व्यवहारादि का भी उल्लेख है। कंदे फ़ारसी भी इसी प्रकार का छोटा सा ग्रंथ है, जिसमें प्रचलित फ़ारसी भाषा सीखने में सहायता मिलती है। नसीहत का करनफूल स्त्रीशिक्षा

विषयक पुस्तिका है, जिसके लाभ-हानि की पति-पत्नी की बातचीत द्वारा विवेचना की गई है। आज़ाद ने 'ज़ौक' के दीवान का जो संपादन किया है, वह बड़े ही परिश्रम और योग्यता का कार्य है। किस प्रकार यह संग्रह बलवे में गुम हो गया और कैसे पुनः संगृहीत हुआ था, इसकी करुणकथा इन्होंने स्वयं आबेहयात में लिखी है। इसकी भूमिका बड़ी मार्मिकता से लिखी गई है और स्थान स्थान पर टिप्पणियाँ भी हैं कि अमुक शैर या ग़ज़ल अमुक स्थान या स्थिति में कहा गया था। इससे ग्रंथ की उपादेयता बढ़ गई है। दरबारे-अकबरी एक बड़ा ग्रंथ है, जिसमें सम्राट् अकबर का संक्षिप्त जीवन-चरित्र तथा उनके बड़े बड़े दरबारियों और मंसबदारों की जीवनियाँ दी गई हैं। यह ग्रंथ इतिहास की दृष्टि से उतने महत्व का नहीं है, जितना भाषा की दृष्टि से। पागलपन की अवस्था में भी जब इनका मस्तिष्क कुछ समय के लिए परिष्कृत हो गया था तब भी यह कुछ लिखा करते थे, जिसके फलरूप 'सपाक नमाक' और 'जानवरिस्तान' दो पुस्तकें हैं। प्रथम में धार्मिक निबंध हैं और दूसरे में जानवरों तथा उनके शब्दों पर विचार हैं। इनकी अन्य दो पुस्तकें निगारिस्ताने-फारस और अलहयात है, जो इनकी मृत्यु के अनंतर प्रकाशित हुई। रोदकी से लेकर हज़ीं तक के फारसी के लगभग तीस कवियों की संक्षिप्त जीवनी और कविता का कुछ संकलन निगारिस्तान में हुआ है।

आज़ाद की प्रसिद्धि का सब से दृढ़ आधार उनके गद्य लेखन

की शैली है, जो उनकी निज की है। उससे उत्तम न अभी तक कोई लिख सका है और न भविष्य ही में ऐसा होने की आशा है। भारतीय भाषा उर्दू में विदेशीय फ़ारसी भाषा का पुट देना इन्हें अरुचिकर था इसी से इनके गद्य में क्लिष्टता नहीं आने पाई।

लेखन शैली और इतिहास में स्थान

घुमा फिरा कर तथा आलंकारिक भाषा लिखने पर भी प्रसाद गुण की कमी न आने देना इन्हीं का अंश है। ये अपनी भाषा साँचे में ढालने नहीं बैठे थे प्रत्युत् वह आप से आप ढली ढलाई इनकी लेखनी से निकलती चली आती थीं। यह विनोदप्रिय तथा मिलन-सार थे और इनमें कट्टरपन की मात्रा भी अधिक नहीं थी। तर्क वितर्क करते हुए ये झट क्रोधित हो जाते थे पर शीघ्र ही प्रसन्न भी हो जाते थे। इतने पर भी इनके समकालीन विद्वानों ने इनकी खूब प्रशंसा की है। हाली ने कविता को नया ढंग देने का इन्हें उन्नायक माना है। शिबली ने तो 'उर्दू का खुदा' ही इन्हें कह डाला है। नज़ीर अहमद और ज़काउल्ला आदि ने भी प्रशंसा की है। उर्दू साहित्य के वर्तमाम काल के सर्वप्रसिद्ध विद्वानों में इनकी गणना है। योग्य संपादक, पंजाब में शिक्षा के प्रवर्तक, मार्मिक समालोचक, सुकवि तथा सुलेखक होते हुए यह सफल प्रोफेसर और भाषाविद् हो सके थे। वास्तव में उर्दू साहित्येतिहास में इनका स्थान अनूठा और उच्च है।

सन् १८६८ ई० में हाली ने तिरियाके मस्मूम (अर्थात् जिसे

हाली की गद्य रचनाएँ

विष दिया गया है उसके लिये दवा) नामक पुस्तक पानीपत के एक मुसल्मान द्वारा इसलाम धर्म पर दिए गए आक्षेपों के उत्तर में लिखा था, जो ईसाई हो गया था। भूगर्भशास्त्र की एक अरबी पुस्तक का उर्दू में में अनुवाद किया, जो फ़ारसी पुस्तक का अनुवादमात्र था। मजलिसुन्निसा नामक पुस्तक दो भागों में सन् १८७४ ई० में बालिकाओं के लिए लिखा, जिसकी उपयोगिता पर प्रसन्न होकर लॉर्ड नॉर्थब्रूक ने चार सौ रुपये पुरस्कार दिए थे। ये तीनों इनकी आरंभिक रचनाएँ हैं और सरल सुगम भाषा में लिखी गई हैं। हयाते-सादी अर्थात् शेख सादी शीराज़ी की जीवनी प्रथम पुस्तक है, जिसके लेखन शैली की प्रौढ़ता तथा चरित्र, यात्रा और कृतियों की आलोचना की योग्यता ने इन्हें तत्कालीन गद्यलेखकों की प्रथम पंक्ति में ला बिठाया। यह सन् १८८६ ई० की रचना है। अपने दीवान के आरंभ में इन्होंने लगभग दो सौ पृष्ठों की भूमिका लिखी है, जिसमें कविता और कवित्व की विस्तृत विवेचना की गई है। इसमें जहाँ ग्रीक, रोमन, अंग्रेजी तथा अरबी की कविता पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न है, वहाँ संस्कृत और हिंदी का नाम भी नहीं है। उर्दू में इतनी विस्तृत तथा आलोचनात्मक भूमिका लिखने का इन्हीं का प्रथम प्रयास है, जो अब एक प्रथा सी हो रही है। सन् १८९६ ई० में इनका यादगारे ग़ालिब तैयार हुआ, जिसमें ग़ालिब का जीवनचरित्र और आलोचना है। ग़ालिब के

विषय की प्रायः सभी ज्ञातव्य बातों का, उनके परिहास, विनोद आदि का, समावेश हो गया है। ग़ालिब की उर्दू तथा फ़ारसी के गद्यपद्य सभी की आलोचनात्मक विवेचना है। जिस प्रकार ज़ौक के विषय में आज़ाद का बिलकुल निष्पक्ष होना अस्वाभाविक था, उसी प्रकार इनके लिए अपने उस्ताद ग़ालिब के लिए होना था। दोनों ही अपने उस्ताद को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। हयाते जावेद में सर सैयद अहमद का जीवनचरित्र और उनके कार्यों का वर्णन है। यह कई सौ पृष्ठों का बड़ा ग्रंथ है। इसमें इन्होंने विशेषतः प्रशंसनात्मक ही वर्णन दिया है और शिवली के अनुसार निष्पक्ष न होकर एक ही पक्ष चित्रित किया है। हाली के निबंधों का भी एक संग्रह 'मजामीने हाली' के नाम से निकला है। इन्होंने 'शेफ़्ता' के पत्रों का भी एक संस्करण निकाला है।

शैली और स्थान

हाली की शैली साधारण होते हुए भी बामहाविरे और ज़ोरदार है। इनका विषय के प्रतिपादन की ओर अधिक ध्यान रहता था और भाषा में ओज लाते हुए भी उसे यह गद्य काव्य नहीं बना सके। यह केवल भाषा ही के लिये नहीं लिखते थे और न उसे अलंकारादि से सजाने ही का प्रयत्न किया करते थे प्रत्युत् अपने भाव तथा विचार स्पष्ट तथा ओजस्विनी भाषा में व्यक्त कर दिया करते थे। इनकी समालोचनाएँ मार्मिक होती थीं। समालोचक तथा गद्य लेखक की दृष्टि से भी इतिहास में इनका स्थान बहुत ऊँचा है और इनकी रचनाएँ

अव भी लोगों के लिए आदर्श हैं।

शम्शुल्‌उल्मा नज़ीर अहमद ख़ान वहादुर का जन्म विजनौर के एक गाँव में सन् १८३१ ई० में हुआ था। इन्होंने अपने पिता मीर सआदत अली से आरंभ में शिक्षा पाई थी और फिर डिप्टी कलेक्टर मौ० नसरुल्ला से कुछ पढ़ा था। इसके अनंतर यह दिल्ली चले गए और मौ० अव्दुल् ख़लीक़ से कुछ दिन पढ़ते रहे, जिनकी पोती से इनका विवाह हुआ। इसके बाद दिल्ली कालेज में भर्त्ती होकर इन्होंने वहाँ अरवी साहित्य, गणित आदि पढ़ा। इनके साथियों में हाली, आज़ाद आदि थे। अपने पिता के विरोध करने पर यह अंग्रेजी नहीं पढ़ सके और उस समय पढ़ाई समाप्त कर पंजाव में किसी स्कूल में वीस पचीस रुपये मासिक पर नौकर हो गए। क्रमशः यह डिप्टी इन्सपेक्टर और वलवे में एक मेम की रक्षा करने से इन्सपेक्टर हो गए। इसके सिवा पुरस्कार में इन्होंने कुछ रुपये और एक मेडल भी पाया था। इसके बाद इनकी इलाहावाद को वदली हो गई, जहाँ इन्होंने अंग्रेजी सीखी। सन् १८६१ ई० में इन्डियन पीनल कोड के अनुवाद में कुछ कार्य किया, जिससे प्रसन्न होकर सर्कार ने इन्हें तहसीलदार बना दिया। इसके अनंतर डिप्टी कलेक्टर हुए। ज्योतिष विषयक एक ग्रंथ का अनुवाद करने पर इन्हें एक सहस्र रुपया पुरस्कार मिला। इसी समय हैदरावाद राज्य के प्रधान मंत्री सर सालार जंग ने इन्हें सर-

नज़ीर अहमद

कार से माँग लिया और आठ सौ मासिक पर सेटलमेंट अफ़सर बनाया। इन्होंने सरकारी नौकरी छोड़कर राज्य की नौकरी कर ली, जहाँ उन्नति करते हुए सत्रह सौ मासिक पर बोर्ड ऑव रेवेन्यू के एक सभासद हो गए। इनके लड़के आदि अन्य संबंधियों को भी वहाँ काम मिल गया था। यह सर सालार जंग के शिक्षक हुए, जो अपने पिता की मृत्यु पर सर सालार जंग द्वितीय कहलाए। इसके कुछ दिन बाद पेंशन लेकर यह दिल्ली चले आए, जहाँ सर सैयद आदि के साथ अंत तक साहित्य सेवा करते रहे। सन् १९१२ ई० में इनकी मृत्यु हुई। सन् १८९७ ई० में एडिंबरा विश्वविद्यालय ने एल० एल० डी० की और पंजाब विश्वविद्यालय ने सन् १९१० ई० में डी० ओ० एल० की उपाधि दी।

मौलवी नजीर अहमद बड़े परिश्रमी लेखक थे और इन्होंने लगभग तीन दर्जन के पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें कुछ बहुत बड़ी हैं।

रचनाएँ

सरकारी नौकरी के समय शिक्षा विषयक तथा कानूनी पुस्तकें लिखते रहे। अरबी व्याकरण पर मयगानिक फ़िस सर्फ़, तर्क पर मुबदिउल् हिकमत, लेखन-कला पर रस्मुलख़त और कहानियों का एक संग्रह 'हिकायात' लिखा। जाब्ता फौजदारी का उल्लेख हो चुका है। कानूने शहादत अर्थात् गवाही का अनुवाद किया। इनकमटैक्स और स्टाम्प एक्टों का भी अनुवाद लिखा। डबल्यू. एडवर्ड की लिखी एक पुस्तक का अनुवाद अफ़सानए ग़दर के नाम से किया। हैदराबाद में जब थे

तब अफसरों के काम की सात पुस्तिकाएँ लिखी थीं पर वे प्रकाशित न हुईं। धार्मिक झगड़े भी चल रहे थे और अहमद शाह ईसाई ने, जो पहिले मुसल्मान था, एक पुस्तक उम्महातुल् मोमिनीन लिखी, जिसके उत्तर में इन्होंने उम्महातुल् उम्मत लिखा, जिसकी कुछ लोगों ने प्रशंसा की और कुछ ऐसा बिगड़े कि इसकी प्रतियाँ सर्वसाधारण के सामने जला दीं। सन् १८९३ से १८९६ तक तीन वर्ष में कुरान का सुगम तथा मुहाविरेदार उर्दू में अनुवाद किया। इस पर साथ साथ टीका टिप्पणी भी बहुत की है। इसके अनंतर क्रमशः अद्यातुल् कुरान, देहसूरः, अलहकूकोअल्फ़रायज़, इजतिहाद और मतालिबेकुरान लिखा जिनमें अंतिम अपूर्ण रह गया। तीसरी पुस्तक बहुत बड़ी तीन जिल्दों में है, जिसमें मुसल्मान धर्म कर्म विचार आदि का संग्रह है।

स्त्री शिक्षा के लाभ को दिखलाते हुए इन्होंने पहिले मीरातुल् उरूस (दुलहिन का आईनः) नामक उपन्यास लिखा, जिसके उपसंहार रूप में बिन्नतुन्नआश (जनाज़े की पुत्री) नामक दूसरे बड़े उपन्यास की रचना की। इनकी भाषा इतनी सुगम और बा-महाविरे थी कि उनका बहुत प्रचार हुआ। इसके अनंतर तौबतुन्न-सूह (सच्चे पश्चाताप करनेवाले का अनुताप) लिखा, जिसमें मरणोन्मुख एक पुरुष का बच जाने पर संसार से विरक्त होने का दृश्य है। इब्नुल् वक्त (समय के पुत्र) में शीघ्र उन्नति करनेवाले एक सज्जन का अहंमन्यता से अंग्रेजों की नक़ल करते हुए

अपने लोगों का तिरस्कार करना और अंत में उसी विदेशीय समाज से तिरस्कृत होना दिखलाया है। अयमः में विधवा-विवाह के गुण और मुहसनात में बहु विवाह के दोष दिखलाए हैं। रूए सादिकः में दंपति की बातचीत में धार्मिक विचार प्रगट किए हैं। तात्पर्य यह कि इनकी सभी कहानी उपदेश पूर्ण हैं।

कविता तथा व्याख्यान के संग्रह

अवस्था के उतार के समय यह कुछ कविता भी करने लगे थे, जो बिलकुल साधारण होती थी। मजमूअए बेनज़ीर के नाम से इनकी कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ। यह कवि का अंतर्नाद न होकर किसी विद्वान की कविता-बद्ध विचार-शृंखला मात्र है। यह व्याख्यान भी अच्छा देते थे और लाहौर के अंजुमने हियायतुल् इसलाम, दिल्ली के मदरसअए तिब्बियः तथा महमडन एजुकेशन कॉनफरेंस के प्रायः हर अधिवेशन में इनका व्याख्यान होता था। ये व्याख्यान प्रायः शिक्षा तथा धर्म विषयक होते थे और इनका संग्रह भी छपा है।

शैली तथा साहित्य और समाज में स्थान

सुगम, स्पष्ट और साफ़ लिखना ही इनकी शैली की विशेषता है। इनके उपन्यासादि में गंभीर विनोद की मात्रा बराबर रहती थी, जिससे यह अपने पाठकों और श्रोताओं का मन आकर्षित कर लेते थे। प्रौढ़ावस्था की रचना में फ़ारसी तथा अरबी के शब्द और उद्धरण आवश्यकता से भी अधिक मिलते हैं और

अलंकारादि का अनुपयुक्त स्थान पर प्रयोग कर बैठते थे। इतने पर भी यह समकालीन विद्वानों में बहुत प्रशंसित हुए थे और उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध के प्रसिद्ध लेखक थे। इन्होंने नौकरी से वहुत धन संचय किया था जिसे व्यापार में लगा कर खूब बढ़ाया। इससे यह दरिद्र विद्वानों की सहायता भी करते थे और अलीगढ़ कॉलेज को अच्छा चंदा भी दिया था। कानूनी पुस्तकों तथा रोचक उपन्यासों के कारण इनका नाम सर्वसाधारण में विशेष हुआ और कुरान के अनुवाद से मुसलमानों में बहुत मान्य हुए।

मौलाना शिबली नोअमानी का जन्म सन् १८५७ ई० में आज़मगढ़ के एक ग्राम बिंदौल में हुआ था पर इनके पिता शेख हबीबुल्ला आज़मगढ़ में वकील थे, इसलिए इनको आरंभिक शिक्षा वहीं मिली। इसके अनंतर रामपुर, लाहौर, सहारनपुर जाकर यह अरबी, फ़ारसी तथा धार्मिक विषयों का अध्ययन करते रहे। उन्नीस वर्ष ही की अवस्था में सन् १८७६ ई० में यह मक्का हो आए और इस यात्रा पर एक क़सीदा तथा क़ित: फारसी में लिख डाला। इसके अनंतर कवि-सभाओं में जाना आरंभ किया। वहाबी मत के खंडन और हनफी के मंडन पर पुस्तिकाएँ फ़ारसी तथा अरबी में लिखीं। परीक्षोत्तीर्ण होकर कुछ दिन आजमगढ़ तथा बस्ती में वकालत करते रहे पर मन न लगने के कारण सरकारी नौकरी कर ली। इससे भी

शिबली नोअमानी

घबड़ा जाने पर इसे छोड़ कर साहित्य सेवा ही करना निश्चित किया। सन् १८८२ ई० में यह अलीगढ़ कालेज में फारसी के अध्यापक नियुक्त हो गए, जहाँ यह सोलह वर्ष तक रहे। सर सैयद अहमद के साथ तथा उनके पुस्तकालय के उपयोग से इनकी प्रतिभा विशेष जागृत हो गई। प्रो० आर्नोल्ड अरबी तथा फारसी के विशेषज्ञ थे, जिनके सत्संग से इन्होंने पाश्चात्य आलोचना का ढंग सीखा। सन् १८८४ ई० में इन्होंने मसनवी सुबहे उम्मीद लिखा, जिसमें मुसलमानों के आलस्य तथा सर सैयद के प्रयत्नों का उल्लेख है। सन् १८८७ ई० में महमडन एडूकेशन कॉनफरेंस में इन्होंने एक लेख पढ़ा, जिसकी गवेषणा तथा परिश्रम से सभी प्रसन्न हुए। इसके अनंतर इन्होंने मुसलमानी वीरों के चरित्रों की एक माला निकालना निश्चित किया। पहिली पुस्तक अलमामूँ है और दूसरी सीरतुन्नोअमान सन् १८९० ई० में समाप्त हुई। अलफ़ारूक़ लिखने के पहिले प्रो० आर्नोल्ड के साथ यह क़ुस्तुनतुनिया गए और छ मास तक इन्होंने एशिया कोचक, शाम और मिश्र देश में भ्रमण किया। सफ़रनामए शिबली में इस यात्रा का वर्णन है। सन् १८९८ ई० में सर सैयद की मृत्यु पर इन्होंने कॉलेज से संबंध त्याग दिया और आज़मगढ़ लौट आए। 'अलफ़ारूक़' काश्मीर में सन् १८९९ ई० में पूरा हुआ। सन् १८८३ ई० में आजमगढ़ में इनके उत्साह से 'नैशनल इंगलिश स्कूल' स्थापित हुआ था, जिसकी यहाँ आने पर यह बराबर सहायता करते रहे।

इसके अनंतर यह हैदराबाद गए जहाँ इन्हें सैयदअली बिल-ग्रामी ने शिक्षा विभाग में दो सौ रुपये मासिक पर नियुक्त कर लिया जो शीघ्र ही तीन सौ कर दिया गया। यह यहाँ चार वर्ष रह कर अपना कार्य करते रहे। आसफ़ियः ग्रंथमाला में, जिसे सैयद अली बिलग्रामी ने चलाया था, इनकी कई पुस्तकें निकलीं। अल्‌ग़िज़ाली, सवानेह रूमी, इल्मुल् कलाम, अल्‌कलाम और मवाज़नः (तुलना) अनीसो-दबीर क्रमशः प्रकाशित किए गए थे। सन् १९०४ ई० में यह लखनऊ लौट कर नदवतुल्‌उलमा की सहायता में लग गए। यहाँ की मुख पत्रिका 'अल्‌नदवा' का यह और हबीबुर्रहमान खाँ शरवानी संपादन करते रहे। सन् १९१३ ई० में यह आजमगढ़ लौट गए और यहीं सीरतुन्नबी नामक विशद ग्रंथ तीन भागों में लिखा। शैरुल् अजम का अंतिम भाग भी यहीं लिखा गया। यहीं पर अकस्मात् अपनी पुत्र-वधू द्वारा चलाई हुई गोली के लग जाने से यह सदा के लिए लंगड़े हो गए। यहाँ इन्होंने 'दारुल् मुसन्निफ़ीन' नामक एक संस्था स्थापित किया, जिसको अपना गृह, बाग़ और पुस्तकालय वक़्फ़ (दान) कर दिया। एक 'दारुल् तक्मील' भी स्थापित किया था, जिसमें विद्यार्थियों को साहित्य में उच्चतम शिक्षा दी जाय। सन् १९१४ ई० में इनकी मृत्यु हो जाने पर मौलाना शाह सुलेमान तथा हमीदुद्दीन ने इनके इस विचार की पूर्ति में बहुत काम किया। सन् १८९२ ई० में भारत सर्कार ने इन्हें शम्शुलुउल्मा की पदवी

और तुर्की के सुलतान ने मजदिया मेडल प्रदान किया। यह प्रयाग विश्वविद्यालय के फेलो थे तथा हिंदी-उर्दू-तर्क और हिंदू-मुस्लिम-एक्य प्रश्नों पर स्थापित समितियों के मेंबर रहा करते थे। यह सच्चे स्वभाव के तथा मिलनसार पुरुष थे। यह उदार तथा बात चीत में निपुण थे और हिंदू-मुसलमान एकता के बराबर पक्ष-पाती रहे।

इनकी रचनाओं में इतिहास को प्रथम स्थान दिया है और इन्होंने इसलाम के प्राचीन इतिहास का गवेषणापूर्ण अनुसंधान किया है। अलफारूक, अलकलाम, अलमामूँ, अलगज़ाली, सीरतुन्नोअमान, मज़मूने आलमगीर, मुसलमानों की गुज़श्तः तालीम, तीरीखे इसलाम, अलजज़िया और सीरतुन्नबी इनकी ऐतिहासिक रचनाएँ हैं। अंतिम तीन भागों में एक विशद पुस्तक है। इन पुस्तकों के देखने से इनके परिश्रम तथा मनन-शीलता पर आश्चर्य होता है। साहित्यिक पुस्तकों में शैरुल् अजम इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है, जो पाँच भागों में विभाजित है। इनकी विद्वत्ता, गवेषणा तथा मननशीलता का इसे स्मारक ही समझना चाहिए। समग्र फारसी साहित्य की यह आलोचना है जो सुगम उर्दू में लिखी गई है। मुवाज़नः अनीसो-दबीर में दोनों कवियों की कृतियों की तुलनात्मक विवेचना है। मौलाना रूम की जीवनी भी एक अच्छी पुस्तक है। छोटे छोटे निबंधों तथा पत्र लेखन में यह सिद्धहस्त थे। मिक़ालाते-शिबली

रचनाएँ

और रसायले शिवली इनके लेखों के संग्रह हैं। मकातिवे शिवली और खतूते शिवली में इनके पत्र संगृहीत हैं। इन्होंने फ़ारसी तथा उर्दू दोनों ही में खूब कविता भी की है। दीवाने-शिवली में फ़ारसी के क़सीदे और दस्तए-गुल तथा बूए-गुल में फ़ारसी के ग़ज़ल संग्रह किए गए हैं। पहिले यह फ़ारसी ही में कविता विशेष करते थे पर बाद को समाज, राजनीति, इतिहास आदि विषयों पर उर्दू में कविता करने लगे। कुलियाते शिवली इनकी उर्दू कविताओं का संग्रह है। सुबहे उम्मीद का ऊपर उल्लेख हो चुका है। इनकी कविता साधारण श्रेणी की है। इलमुल्-कलाम, फ़िलसफ़ए-इस्लाम और सफ़रनामः स्फुट ग्रंथ हैं।

गद्य तथा पद्य दोनों ही में इनकी लेखन शैली सादगी तथा अर्थव्यक्ति की पोषक रही। वागाडंबर में अर्थ को छिपाना यह अनुचित समझते थे। सर सैयद अह्मद ने इनकी

शैली तथा स्थान

शैली की प्रशंसा की है। आलंकारिक भाषा लिखते हुए भी उसकी भरमार नहीं कर देते थे। आज़ाद की सी चटख़ारे दार भाषा न होने पर भी यह शुद्ध व्यवहार के उपयुक्त भाषा थी। मौलाना शिवली का स्थान उर्दू साहित्य के इतिहास में इतिहास, समालोचना आदि के कारण बहुत ऊँचा है। नद्वा तथा दारुल् मुसन्निफ़ीन के कार्य से यह अपने समय के विशिष्ट पुरुषों में माने जाते हैं।

अरबी मदरसों के पुराने ढर्रे की पढ़ाई को उन्नत करने तथा

उलमा के झगड़ों को मिटाने के लिए डिप्टी कलेक्टर मौलवी अब्दुल् गफूर के हृदय में एक संस्था खोलने का विचार उठा। सन् १८९४ ई० में मौलवी मुहम्मद अली कानपुरी के उत्साह से नदवतुल् उलमा स्थापित हुआ, जिसके वह प्रथम मंत्री हुए। शिबली और अब्दुलहक़ ने भी इस कार्य में बहुत उत्साह दिखलाया। विकारुल् मुल्क ने सौ रुपये मासिक सहायता दी और सर सैयद अहमद तथा मुहसिनुल् मुल्क भी इसकी बराबर सहायता करते रहे। सन् १८८९ ई० में बरेली में दारुल् उलूम नामक एक मदरसा समयानुकूल शिक्षा देने के लिए खोला गया। सन् १९०४ ई० में शिबली ने हैदराबाद से लौट कर इसका कार्य अपने हाथ में लिया। भूपाल तथा रामपुर से क्रमशः २५०) तथा ५००) रु० मासिक सहायता प्राप्त की। नवाब आगा ख़ाँ ने भी ५००) रु० मासिक सहायता देना आरंभ कर दिया। भावलपुर के नवाब की दादी ने पचास सहस्र रुपया इमारत के लिए दिया, जिससे सन् १९०९ ई० में लखनऊ प्रांत में सरकार की दी हुई भूमि पर इसकी नींव डाली गई। प्रांतीय सरकार ने धन से भी सहायता की। इस प्रकार इस संस्था को शिबली ने पुनर्जीवन दिया। इतना करने पर भी उलमा इनके स्वतंत्र विचारों पर क्रुद्ध ही रहते थे, इससे सन् १९१३ ई० में यह उस संस्था से हट गए। नदवा का पुस्तकालय बहुत ही अच्छा है, जिसमें हस्तलिखित प्रतियों की संख्या भी

नदवतुल् उलमा

काफी है। इन्होंने कुरान का अंग्रेजी में अनुवाद करना आरंभ किया। इसकी मुख पत्रिका का ऊपर उल्लेख हो चुका है। शिवली के हट जाने से इस संस्था की शक्ति क्षीण हो रही थी, पर अन्य सज्जन अब उसकी उन्नति का उपाय कर रहे हैं।

मौलाना शिबली की दारुल् मुसन्निफीन नामक संस्था स्थापित करने के दूसरे ही वर्ष मृत्यु होगई थी पर उसके उत्तराधिकारी सुलेमान नदवी ने, जो अरबी तथा फारसी के विद्वान् थे और जो शिबली के समय ही में ख्याति प्राप्त कर चुके थे, इस संस्था को जीवित तथा उन्नत बनाए रखा। इन्होंने पश्चिमी एशिया तथा यूरोप में भ्रमण किया है और सीरतुन्नबी को, जो अपूर्ण रह गई थी, पूरा किया। सीरते आयशः, अर्जुल क़ुरान, लुग़ाते जर्द आदि कई पुस्तकें लिखीं हैं और 'मुआरिफ़' नामक पत्र का संपादन भी करते हैं। इनके सिवा मौ० हमीदुद्दीन, मौ० अब्दुल बारी, प्रो० नवाब अली, मौ० अब्दुस्सलाम आदि कई सज्जनों का भी इस संस्था से संबंध है। अंतिम सज्जन ने मौ० शिबली की जीवनी लिखी है। इन्होंने ख़लीफ़ः उमर की जीवनी तथा उर्दू पद्य साहित्य का इतिहास शैरुल् हिंद के नाम से लिखा है। इस संस्था की उन्नति आशापूर्ण ज्ञात होती है, क्योंकि कई योग्य सज्जन इसके कार्य को उत्साह के साथ करते हैं।

दारुल् मुसन्निफीन

शम्शुल्-उलमा मौलवी मुहम्मद ज़काउल्ला का जन्म सन्

१८३२ ई० में दिल्ली में हुआ था और यह बहादुर शाह 'ज़फ़र' के छोटे पुत्र मिर्ज़ा सुल्तान कोचक के शिक्षक हाफ़िज़ सनाउल्ला के लड़के थे। यह बारह वर्ष की अवस्था में मौलवी वज़ीर अहमद तथा प्रो० आज़ाद के साथ एक ही दर्जे में पुराने दिल्ली कॉलेज में भर्ती हुए। यह मित्रता तीनों ने अंत तक निबाही और तीनों ही शम्सुल् उलमा पदवी से विभूषित हुए। शिक्षा समाप्त होने पर उसी कालेज में यह गणित के शिक्षक नियुक्त हुए। इसके अनंतर आगरा कालेज में फ़ारसी तथा उर्दू के अध्यापक नियुक्त हुए। इस प्रकार सात वर्ष अध्यापन कार्य कर सन् १८५५ ई० में यह स्कूलों के डिप्टी-इंसपेक्टर हुए और बुलन्दशहर तथा मुरादाबाद में कार्य करते रहे। सन् १८६९ ई० में यह दिल्ली नार्मल स्कूल के हेडमास्टर हुए और सन् १८७२ ई० में यद्यपि यह पहिले ओरिएंटल कॉलेज के लिए चुने गए थे पर म्योर सेंट्रल कॉलेज ही में अरबी और फ़ारसी के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए, जहाँ अंत तक रहे। इन्होंने छत्तीस वर्ष सर्कारी नौकरी की और चौबीस वर्ष पेंशन लेकर सन् १९१० ई० में मरे। गवर्नमेण्ट ने इनके कार्यों के पुरस्कार में इन्हें शम्सुल्-उल्मा तथा ख़ान बहादुर की पदवी दी और डेढ़ सहस्र रुपया पुरस्कार दिया। स्त्री शिक्षा के लिए प्रयत्न करने के कारण इन्हें ख़िलअत भी मिल चुका था।

ज़काउल्ला।

इनकी रचनाएँ विशेष कर स्कूलों के लिए पाठ्य ग्रंथ तथा

उनकी कुंजियाँ थीं और यह प्रायः गणित, इतिहास, भूगोल, साहित्य, विज्ञान आदि विषयों ही पर कलम चलाते थे। इन्होंने भारत के इतिहास के मुसलमान काल का इतिहास 'तारीखे-हिंदोस्तान' के नाम से तेरह जिल्दों में लिखा है। क्वीन विक्टोरिया के राज्यकाल के युद्धों का वर्णन, भारतीय युद्धों को छोड़ कर, मुहिम्माते-अज़ीम में लिखा है। क्वीन विक्टोरिया के राज्यकाल का भारत का इतिहास तीन जिल्दों में और उसी काल के राज्य-प्रबंध नीति के अदल बदल का वर्णन आईने-क़ैसरी में लिखा है। फ़र्हंगे-फ़िरंग की तारीख़ (यूरोप की सभ्यता), क्वीन विक्टोरिया तथा उनके पति प्रिंस कॉनसर्ट की जीवनी और मौलवी समीउल्ला सी० एम० जी० का जीवनवृत्त भी लिखा है। इन पुस्तकों के सिवा रिसालए-हसन, तहज़ीबुल्-इख़लाक आदि बहुत से पत्रों में यह बराबर अनेक विषयों पर लेख भेजा करते थे।

रचनाएँ

इनकी शैली साधारणतः सादी और सुगम है तथा उसमें किसी प्रकार के साहित्यिक सौंदर्य के लाने का प्रयत्न नहीं ज्ञात होता। यह केवल अनेक विषयों पर ज्ञानवृद्धि कराने की साधन मात्र है। इनकी विद्वता विस्तृत थी पर किसी विषय में गंभीर नहीं थी और न यह कोई प्रतिभाशाली लेखक ही थे। इतिहास के ज्ञान तथा शिक्षा-विषयक प्रयत्नों के कारण इनका नाम साहित्य के इतिहास में भी सम्मानपूर्वक लिया जाता है।

शैली तथा स्थान

सन् १८०३ ई० में शाहे आलम बादशाह ने अंग्रेजों की शरण ली और कुल अधिकार उन्हें सौंप कर पेंशन लेने लगा। अंग्रेजी अधिकार होने से लूट मार बिलकुल कम हो गया और शिक्षा प्रचार के लिए सन् १८२७ ई० में एक अंग्रेजी स्कूल दिल्ली में खुला, जिसमें शीघ्र ही कई सौ लड़के नाम लिखा कर शिक्षा प्राप्त करने लगे। अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध मत बहुत दृढ़ था, इसलिए पहिले बिना फीस लिए वरन् वृत्तियाँ देकर विद्यार्थी बुलाए जाते थे।

दिल्ली कॉलेज

यही स्कूल बढ़कर दिल्ली कॉलेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गणित तथा विज्ञान पर विद्यार्थियों की विशेष रुचि थी पर देशीय भाषाओं में पाठ्य ग्रंथों के अभाव तथा अंग्रेजी पुस्तकों के दुष्प्राप्य होने से व्याख्यान ही द्वारा ये विषय सिखलाए जाते थे। प्रधानाध्यापक मि० एफ० टेलर, रामचंद्र, अयोध्याप्रसाद आदि प्रसिद्ध अध्यापक गण थे। प्राच्य विभाग में उर्दू द्वारा फारसी तथा अरबी की भी शिक्षा दी जाती थी, जिसके अध्यापक प्रसिद्ध विद्वान तथा कवि इमामबख़्श 'सहबाई' बड़े शुद्ध आचरण के सज्जन पुरुष थे। इनके विद्यार्थी इन पर बहुत प्रेम रखते थे और कविता में भी दिल्ली के कितने शाहज़ादे और नवाब इनके शिष्य थे। आसारुस्सनादीद लिखने में इन्होंने सर सैयद अहमद को बहुत सहायता दी थी। यह टेलर साहब के साथ मारे गए। सन् १८४२ ई० में इस कॉलेज ने एक साहित्यिक समिति खोली, जिसने पाठ्य ग्रंथ के

उपयुक्त बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित कीं। ये विशेषतः अंग्रेजी से और कुछ फारसी से अनूदित हुई थीं और इनकी भाषा बड़ी सुगम और सीधी सादी रखी गई थी। राय बहादुर मुं० प्यारेलाल 'आशोब' ने भी सन् १८६४ ई० में दिल्ली ही में एक और समिति खोली, आज़ाद और हाली को वर्तमान आवश्यकतानुसार कविता करने को उत्साह दिलाया तथा स्वयं पाठ्य-ग्रंथ लिखा। आगरा, लखनऊ, बनारस आदि अन्य स्थानों में भी इस प्रकार की समितियाँ खुलगईं और सभी ने उर्दू साहित्य की उन्नति में हाथ बँटाया।

रामचन्द्र

अध्यापक रामचन्द्र दिल्ली कॉलेज में गणित के प्रोफेसर थे और इन्होंने इस स्कूल के खुलते ही इसमें भर्ती होकर शिक्षा भी प्राप्त की थी। यह शीघ्र ही ईसाई हो गए और इन्होंने एक फौर्मुला का आविष्कार कर ख्याति प्राप्त की। आज़ाद, नज़ीर अहमद, ज़काउल्ला आदि इनके प्रसिद्ध शिष्य थे। यह बड़े ही सत्यप्रिय पुरुष थे। बलवे के समय यह कई दिन दिल्ली में छिपे रहे और शिष्यों की सहायता से जान बचाकर निकल भागे। इसके अनंतर यह पटिआला स्टेट में कुछ दिन शिक्षा विभाग के प्रधान रहे। इनकी रचनाओं में एक पुस्तक 'तज़किरतुल्कामिलीन' है, जिसमें ग्रीस और रोम के प्रसिद्ध विद्वानों के सिवा अंग्रेज, हिंदू तथा मुसलमान विद्वानों के भी चरित्र हैं और जो प्रकाशित भी हो चुकी है। उसूले-इल्म

हइअत (रेखागणित) और अजायबे-रोज़गार नामक दो पुस्तकें और लिखीं।

गुलाम मुहम्मद के पुत्र गुलाम इमाम 'शहीद' अमेठी के रहनेवाले प्रसिद्ध कवि और नाटक के लेखक थे। इसी कारण यह मदाहेनबी (नबी के प्रशंसक) और आशिके रसूल (रसूल के प्रेमी) कहे जाते हैं। उर्दू कविता में क़तील और मुसहिफ़ी के तथा फ़ारसी में आग़ा सैयद इस्माइल माज़िंदरानी के शिष्य थे। यह प्रयाग में पेशकार रहे और इसे छोड़ने पर यावज्जीवन चार सौ तीस रुपये की वृत्ति पाते रहे। इनके बहुत से शिष्य थे और सर सालार जंग प्रथम, नवाब कलब अली ख़ाँ आदि इनकी प्रतिष्ठा करते थे। इन्होंने मजमूअए मीलाद शरीफ़, इंशाए वहारे-बेख़िज़ाँ और क़सीदों तथा ग़ज़लों का एक संग्रह लिखा है। ताजगंज की प्रशंसात्मक कविता उत्तम है।

शहीद

ख्वाजा गुलाम ग़ौस 'बेख़बर' के पिता ख्वाजा हुज़ूरुल्ला काश्मीर से तिब्बत और वहाँ से नैपाल आकर बसे, जहाँ सन् १८२४ ई० में इनका जन्म हुआ था। सन् १८४० ई० में संयुक्त प्रांत के छोटे लाट के मीर मुंशी ख़ान बहादुर मौलवी सैयद मुहम्मद ख़ाँ के यह सहकारी हुए, जो इनके मामा थे। ग्वालियर की चढ़ाई पर यह लॉर्ड एलेनबरा के साथ गए और अच्छा काम करने से इन्होंने

बेख़बर

खिलअत पाया। अपने मामा के हटने पर उसी स्थान पर यह मीर मुंशी नियत हुए। सन् १८८५ ई० में यह पैंतालीस वर्ष कार्य कर पेंशन लेकर घर बैठे। इन्होंने ख़ान बहादुर ज़ुलक़द्र की पदवी तथा क़ैसरेहिंद सुवर्ण-पदक पाया। फ़ुग़ाने बेसब्र और ख़ून नाबए-जिगर सन् १८९१ ई० में प्रकाशित हुए। पहिले में उर्दू के पत्र तथा दूसरे में फ़ारसी के पत्र और कविता है। ग़ालिब से इनसे मित्रता थी और उनसे पत्र व्यवहार भी रहता था। सन् १९०५ ई० में इनकी मृत्यु हुई। इनकी भाषा-शैली प्रौढ़ तथा सरल है।

बिलग्रामी भ्रातृद्वय

डाक्टर शम्शुलूउल्मा सैयद अली बिलग्रामी का जन्म सन् १८५१ ई० में हुआ था और यह हर्दोई ज़िले के बिलग्राम के रहनेवाले थे। कैनिंग कॉलेज लखनऊ, पटना कॉलेज तथा रुड़की में शिक्षा प्राप्त कर एल० एल० बी० की परीक्षा में प्रसिद्धि पाई। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने इनकी विद्वत्ता पर एल० एल० डी० की पदवी प्रदान की। विलायत जाकर इन्होंने केम्ब्रिज से एम० ए० का डिगरी ली और रसायन, भूगर्भ-विद्या तथा पदार्थ विज्ञान विषय मनन किए। अरबी, फ़ारसी तथा उर्दू और बंगाली, मराठी तथा तेलगू देशी भाषाओं के सिवा अंग्रेजी आदि कई यूरोपीय भाषाएँ अच्छी तरह जानते थे। अरब की सभ्यता पर 'लबौन' की पुस्तक का फ़रासीसी भाषा से 'तमद्दुने अरब' के नाम से अनुवाद किया। मेडिकल जूरिस-प्रूडेंस का उर्दू में अनुवाद किया और कलील:

दमनः, एलोरा की गुफा, हैदराबाद के खनिज पदार्थ तथा संस्कृत और फ़ारसी की शिक्षा-संबंधिनी पारस्परिक योग्यता पर भी पुस्तकें लिखीं। १ मई सन् १९११ ई० को इनकी मृत्यु हुई। इनके बड़े भाई दि ऑनरेबुल मौलवी सैयद हुसेन बिलग्रामी सी० आई० ई० नवाब उमूदतुल्मुल्क बहादुर हैदराबाद में कई ऊँचे पदों को सुशोभित करते रहे। इसके अनंतर यह सन् १९०७ से सन् १९०९ ई० तक सेक्रेटरी ऑव स्टेट की काउंसिल के मेंबर रहे। इनके निबंधों और व्याख्यानों का संग्रह 'रसायल' उमूदतुल्मुल्क' में हुआ है। अरबी की धार्मिक पुस्तकों के प्रकाशनार्थ एक संस्था 'दैरतुल्-मुआरिफ़' संगठित हुई, जो विशेषतः इन्हीं के उत्साह का फल था। इन्होंने उर्दू में कुरान का अनुवाद किया है। सर सालार जंग प्रथम की जीवनी तथा निज़ाम राज्य का ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक वृत्तांत दो भागों में लिखा है, जो अंग्रेजी में है।

मौलवी मुहम्मद अज़ीज़ मिर्ज़ा बुलंदशहर के पहासू ग्राम के निवासी थे और सन् १८९७ ई० में अलीगढ़ कालेज से बी० ए० पास कर हैदराबाद में नौकरी कर ली और

मुहम्मद अज़ीज मिर्ज़ा क्रमशः उन्नति करते हुए होम सेक्रेटरी और हाई-कोर्ट के जज हुए। साथ ही यह साहित्यिक कार्य भी करते जाते थे। गुलगश्ते फ़िरंग के नाम से नवाब फतेह जंग मेहदी अली खाँ की इंगलैंड की यात्रा का अंग्रेज़ी से उर्दू में अनुवाद किया। बहमनी बादशाहों के प्रसिद्ध मंत्री महमूद गवाँ की

जीवनी 'सीरतुल् महमूद' के नाम से लिखा है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक का मराठी अनुवाद से उर्दू में अनुवाद किया। मुद्राशास्त्र से इन्हें बड़ा प्रेम था और इन्होंने मुद्राओं का संग्रह भी अच्छा किया है। पत्रों में निकले हुए लेखों का संग्रह 'ख्यालाते अज़ीज़' के नाम से प्रकाशित हुआ है। अलीगढ़ कालेज तथा मुसलमानों में शिक्षा प्रचार के लिए बहुत उद्योग किया। सन् १८९९ ई० में किसी कारण नौकरी छोड़ कर अलग हो गए पर पेंशन मिलती रही और उसी वर्ष मुस्लिमलीग के अवैतनिक जेनरल सेक्रेटरी हुए। इनकी सन् १९१२ ई० में मृत्यु हुई।

फ़र्हंगे आसफ़ियः नामक वृहत्कोष के लेखक सैयद अहमद का जन्म सन् १८४६ ई० में दिल्ली में हुआ था और इनके पिता का नाम हाफ़िज सैयद अब्दुर्रहमान था। इन्होंने

फ़र्हंगे आसफ़ियः

घर पर तथा स्कूलों में शिक्षा प्राप्त की और कवियों तथा विद्वानों के सत्संग से अपनी योग्यता विशेष बढ़ाई। जब यह विद्यार्थी थे तभी तिफ़्लनामः कविता और पत्र-लेखन-कला पर तक़वीअतुल्सिबिआँ नामक पुस्तक लिखी थी। सन् १८६९ ई० में कनज़ुल क़वायद प्रकाशित किया, जिस पर सर्कार से दो सौ रुपया पुरस्कार मिला था। सन् १८७१ ई० में बक़ायः दरूनियः पर पुनः डेढ़ सौ रुपये पुरस्कार में मिले। इसी बीच डा० फैलों की सहायता के लिए यह बिहार गए, जहाँ सात वर्ष के परिश्रम पर फैलों साहब का कोष समाप्त हुआ। इसी मध्य

में हदीउन्निसा पुस्तक स्त्री शिक्षा पर लिखी। इनके सिवा तकमी-लुल्-कलाम, तहक़ीकुल्कलाम, रसखान (हिंदी कविता का संग्रह), रीति बखान (हिंदुओं के रस्म, हिंदी), नारी कथा (हिंदी), क़वायद उर्दू, लुग़तुल्निसा, तहरीरुल्निसा, इख़लाकुल्निसा, इल्मुल्निसा, रसूमे दिहली और बेराहत ज़माने का क़िस्सा लिखा। ये सब प्रकाशित हो चुके हैं। सैरेशिमला, रोज़मर्रा दिहली आदि और भी पुस्तकें लिखी हैं। सन् १८६८ ई० ही से यह अपने वृहत्कोष के लिये सामग्री एकत्र करने लगे थे पर धनाभाव से यह कार्य दुष्कर हो रहा था। सन् १८८८ ई० में हैदराबाद के प्रधान मंत्री ने शिमले में इसे देख कर पसंद किया और सहायता का वचन दिया। सन् १८९२ ई० में यह कोष समाप्त होकर 'फ़र्हंगे आसफ़िय:' कहलाया। निज़ाम सरकार से पाँच सहस्र रुपए पुरस्कार और पचीस रुपया की मासिक वृत्ति यावज्जीवन के लिये मिली। पंजाब सरकार ने भी इन्हें इसी प्रकार पुरस्कृत किया। वास्तव में यह ग्रंथ विद्वत्ता तथा परिश्रम का विशद स्मारक है। केवल इस कोष के कारण इनका नाम उर्दू साहित्य में अमर है।

वहीदुद्दीन 'सलीम'

हाजी फ़रीदुद्दीन के पुत्र मौलाना सैयद वहीदुद्दीन 'सलीम' ने लाहौर में शिक्षा पाई थी। एंट्रेंस तथा मुंशी फ़ाज़िल की परीक्षाएँ पास कर इन्होंने भावलपुर राज्य के शिक्षा विभाग में नौकरी कर ली। छ वर्ष के अनंतर यह रामपुर गए पर छ महीने ही कार्य कर

बीमार हो गए। जालंधर में एक हकीम के यहाँ बराबर दवा करते रहे और स्वयं हकीमी सीखी। इस प्रकार छ वर्ष बीमारी से कष्ट पाकर अच्छे हुए और पानीपत में हकीमी की दूकान खोली। 'हाली' ने सर सैयद से इनका परिचय करा दिया, जो इनसे बहुत प्रसन्न हुए। यह सर सैयद के साथ उनकी मृत्यु तक रह कर ग्रंथ तथा निबंध लिखने में उनकी सहायता करते रहे। इसके अनंतर 'मुआरिफ' पत्र निकालने लगे, जो कुछ दिनों तक अच्छी तरह चला। फिर 'अलीगढ़ गजेट' के संपादक हुए पर बीमारी से उसे छोड़ देना पड़ा। लखनऊ के 'मुस्लिम गजेट' का संपादकत्व इसके बाद इन्हें मिला पर कानपुर की मस्जिद के झगड़े के बारे में इनके लेख इतने तीव्र हुए कि इन्हें उस पद से हट जाना पड़ा। फिर 'जमींदार' के प्रधान संपादक हुए पर तीव्र आलोचना के कारण इन्हें वहाँ से भी हटना पड़ा। अंत में यह हैदराबाद गए और 'वजअ इस्तलाहात' नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। उस्मानिया विश्वविद्यालय स्थापित होने पर यह सहायक प्रोफेसर और चार वर्ष बाद प्रोफेसर हुए।

यह मौलवी अब्दुल्‌कादिर के पुत्र हैं तथा सन् १८९२ ई० में इनका दरियाबाद में जन्म हुआ। सन् १९१२ ई० में लखनऊ के कैनिंग कॉलेज से बी० ए० पास किया। सन् १९१७ ई० में यह उस्मानिया विश्वविद्यालय की अनुवाद-समिति में नियुक्त हुए पर शीघ्र ही उस

अब्दुलमजीद

पद को त्याग दिया। इस पर निजाम सरकार से इन्हें उर्दू-साहित्यक कार्य करते रहने के लिए वृत्ति मिलने लगी। यह राजनैतिक क्षेत्र में भी कार्य करते हैं। इनके एक नाटक जूद पशेमाँ का उल्लेख हुआ है। इन्होंने फिलसफा खूब मनन किया है और फिलसफा-जजबात, फिलसफा-इज्तमाअ, मकालमात बर्कले आदि कई पुस्तकें लिखीं। यह अनेक पत्रों में उर्दू तथा अंग्रेजी में बराबर लिखते हैं और इनके लेखों के संग्रह भी निकल चुके हैं। यह योग्य विद्वान् तथा मननशील हैं।

श्रीराम और खुमखानए जावेद

दिल्ली के लाला श्रीराम का वंश राजा टोडरमल तक पहुँचता है। इनके पिता राय बहादुर मदन गोपाल एम. ए. प्रसिद्ध व्यक्ति थे। इनके चाचा रायबहादुर प्यारे लाल आशोब का उल्लेख हो चुका है। इनका जन्म सन् १८७५ ई० में हुआ था और सन् १८९८ ई० में इन्होंने एम. ए. तथा मुन्सफी पास कर सर्कारी नौकरी कर ली। सन् १९०२ ई० में क्षय से आक्रान्त हुए और सन् १९०७ ई० में नौकरी से त्यागपत्र देकर साहित्यिक कार्य में लग गए। इन्होंने दीवाने अनवर, महताबे दाग़ तथा जमीमा यादगारे दाग़ प्रकाशित कराए। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ खुमखानए जावेद है, जिसका प्रथम पाँच भाग प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें वर्णक्रम से उर्दू-कवियों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है तथा उनकी कविता चुनकर संकलित की गई है। यह संग्रह अपूर्व हुआ है।

विद्वत्ता, मर्मज्ञता, मननशीलता तथा परिश्रम की छाप हर एक पृष्ठ पर है। एक एक भाग मासिक-पत्रिकाओं की साइज के लगभग एक सहस्त्र पृष्ठों के हैं। भाषा अत्यंत सरल और सुगम है तथा कविता-चयन में इनकी आलोचना शक्ति ने खूब कार्य किया है। पूर्ण होने पर यह संग्रह प्रत्येक साहित्येतिहास लेखकों के लिए आवश्यक वस्तु हो जाएगा और जिनके पास यह रहेगा उनके पास उर्दू-साहित्य का मानो संक्षिप्त पुस्तकालय ही रहेगा।

तेरहवाँ परिच्छेद

नाटक, उपन्यास, पत्र आदि

नाटक

विषय प्रवेश

भारतीय नाटकों के इतिहास में देखा जाता है कि संस्कृत नाटक-रचना की श्रृंखला मुसलमानी आक्रमणों से अस्त-व्यस्त हो गई और यद्यपि मुग़लकाल में दो चार नाटक लिखे गए पर वह श्रृंखला विशेष न बढ़ी। नाटकों में कथनोपकथन के लिए बोलचाल ही की भाषा उपयुक्त होती है इसीलिए संस्कृत से हिंदी-काव्य भाषा—व्रजभाषा या अवधी में होती हुई यह श्रृंखला खड़ी बोली या उर्दू-हिंदी तक नहीं चली आई। बीच के साहित्यकार नाटकों की ओर भाषा के इसी अभाव के कारण नहीं झुके। नाटकों के प्रति सभी सभ्य जातियों की रुचि होती है और यही कारण है कि व्रजभाषा में भी कुछ नाटक लिखे गए पर वे नाट्य-कला की दृष्टि से महत्व के नहीं हुए। इस्लाम धर्म में नाटक, चित्र आदि की रचना इस कारण धर्म-विरुद्ध मानी जाती है कि वह खुदाई कामों की नकल हैं और इस कारण ऐसी कृतियाँ फारसी में अलभ्य थीं। फारसी की प्राचीन पुस्तकों में कभी कभी ऐसे चित्र अब तक मिलते हैं, जिनमें सर्वांग चित्रित रहते हुए भी मुख लीपा पुता हुआ रहता

है। उर्दू को फारसी से इस प्रकार नाट्य-संपत्ति कुछ न मिल सकी और जिस प्रकार उसने यथासाध्य हिंदी का वहिष्कार कर तथा फारसी से सर्वस्व लेने का प्रयत्न कर साहित्य के अपने अन्य अंग पुष्ट किए थे उसी प्रकार इसको भी करती पर वैसा न हो सका। उर्दू-साहित्यकार संस्कृत से अनभिज्ञ थे और संस्कृत नाटकों के हिंदी अनुवाद बहुत बाद को तैयार हुए, इसलिए उसका उर्दू नाटक पर एक प्रकार कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। हिंदी तथा यूरोपिअन नाटकों का प्रभाव भी आरंभ में उर्दू नाटक पर प्रायः नहीं सा पड़ा है। हिंदुओं के धार्मिक 'रहस लीला', स्वाँगों तथा मुसल्मानी दरवार की भँड़ैती का आरंभ में अवश्य बहुत कुछ असर पड़ा था। उर्दू में अब तक जो नाटक लिखे गए हैं, उनके कथानकों के आधार पाँच विभाग में बाँटे जा सकते हैं—हिंदुओं की पौराणिक तथा दंत कथाएँ, शुद्ध इतिहास, फारसी-अरबी-प्रेम कथा, यूरोपियन कथा कहानी और वर्तमान समाज। एक सज्जन मर्सिए को नाटक का पूर्व रूप मानते हैं पर उर्दू के प्रथम नाटक इंदर सभा से किसी मर्सिए की समानता दिखलाकर इसे स्पष्ट न कर सके। उर्दू में काव्य के दृश्य तथा श्रव्य भेदों को न समझने ही से ऐसा भ्रम हुआ है क्योंकि आज तक हिंदी में आल्हा को नाटक का पूर्वरूप कहने का किसी को साहस नहीं हुआ।

दिल्ली के रंगीले बादशाह मुहम्मद शाह के दरबार में जिस समय भाँड़ नकल कर रहे थे उसी समय भारत के पश्चिमोत्तर

उर्दू का प्रथम नाटक

फाटक पर राजहंता महान डाकू नादिरशाह के पहुँचने का समाचार आया। भाँड़ों ने उनके रोकने का जो प्रधान उपाय बतलाया था वह यह था कि दिल्ली के पश्चिम जमुना के उस पार कनातें खिंचवा दी जाँय और जब नादिर शाह वहाँ तक पहुँच जाय तब कड़ा पहिर कर कुछ हिंजड़े कनात से बाहर हाथ निकाल कर कह दें कि मुए इधर न आना इधर जनाने हैं। इसी के प्रायः सौ वर्ष बाद लखनऊ के रंगीले पिया वाजिद अली शाह इंदर बनकर परियों के जमघटे में रंग बरसा रहे थे जब कि कलकत्ते से उनके गद्दी से उतारे जाने का आज्ञापत्र इश्क के शोले की तरह इन्हें जिलावतन कराने चला आ रहा था। सौ वर्ष में उन्नति कर यही पहिला नाटक इंदर सभा तैयार हुआ, जिसमें अमानत ने स्वर्ग के अधीश इंद्र को कोह क़ाफ की परियों पर फिदा कर दिया था और उनमें की एक परी गुलफाम पर निछावर होगई थी। वाजिद अली शाह कन्हैया बन कर और अपनी असंख्य हरमों को गोपियाँ बनाकर रास लीला भी करते थे। इन एक एक खेलों में लाखों रुपए स्वाहा हो जाते थे। अमानत के इंदर सभा का प्रथम दृश्य इंद्र की राजसभा है। इसमें दो देव उपस्थित हैं, लाल देव और काला देव। यह देव शब्द उर्दू में असुर-बोधक होता है। अब कई रंग की परियाँ आती हैं और नाच गान होता है। इन्हीं में एक सब्ज़ परी नायिका है, जो दूसरे दृश्य में गुलफ़ाम को देखकर आशिक होती

है और काले देव से उसे अपने यहाँ मँगा लेती है। दोनों की प्रेम लीला दिखलाई जाती है और उसके बाद वह हठकर परी के साथ इंदर सभा में जाता है। लाल देव के चुगली खाने पर इसका पता पाते ही इंदर गुलफाम को कूएँ में कैद करता है और परी को जंगल में छोड़वा देता है। वह जोगिन बन कर फिर इंदर को रिझाती है और पुरस्कार में गुलफाम को माँग लेती है। इसके साथ ही यह नाटक समाप्त होता है। इस नाटक की उस समय खूब धूम थी। मदारी लाल ने बड़ा इंदर सभा लिख डाला और पारसी थिएट्रिकल में यह खेल खेला भी गया। लगभग तीस वर्ष के हुए कि उस समय भी इस इंदरसभा को स्यात् कर्जन थिएटर में देखा था। पर अब उस कोटि के नाटकों का समय बीत गया। सब कुछ होते भी साहित्य-मर्मज्ञों में इसकी प्रतिष्ठा नहीं थी और हिंदी के श्रेष्ठ नाटककार भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र ने इसी के वजन पर बंदर सभा लिखकर इसकी पूजा की थी।

प्रथम थिएट्रिकल कंपनी

उर्दू के प्रथम नाटक का उल्लेख हो चुका और अब इसके बाद जिन नाटकों का आपको उल्लेख मिलेगा, वे वास्तव में नाटक शब्द संयुक्त थिएट्रिकल्स हैं, जो पारसी स्टेज के लिए तैयार किए गए थे और किए जाते हैं। इनमें उर्दू के गजल ही गाने के लिए दिए जाते थे तथा बात चीत भी उन्हीं के टुकड़े शैरों में की जाती थी। दूर से दर्शनीय वस्त्र, दृश्य आदि दिखला कर दर्शकों को

आकर्षित किया जाता था। बंबई के कुछ पारसी सज्जनों ने सन् १८६० ई० के लगभग व्यापार की दृष्टि से एक 'ओरिजनल थिएट्रिकल कंपनी' खोली, जिसके प्रोपराइटर सेठ पेस्टनजी फ्रामजी थे। यह उर्दू शायरी में 'नफीस' के शिष्य थे। इनके साथियों में खुरशेदजी, कवासजी खत्ताऊ, सोहराबजी तथा जहाँगीरजी थे, जिन सबने वाद को अलग अलग कंपनियाँ खोलीं। हर एक कंपनी के अलग अलग नाटक-लेखक होते थे और इस कंपनी के दो प्रसिद्ध लेखक महमूद-मियाँ 'रौनक' बनारसी तथा हुसेनी मियाँ 'जरीफ' थे। रौनक का एक 'इंसाफे महमूद शाह' नाटक मिला है। अंग्रेजी से इन्होंने कई 'ड्रामों' का अनुवाद किया है। हिंदी भाषा का उर्दू से ऐसा बहिष्कार उस समय था कि फारसी-अरबी में शब्द न मिलने पर अंग्रेजी ही के शब्द लिए गए। अंक, दृश्य, रंगस्थल आदि न प्रयोग किए जाकर एकट, सीन, इस्टेज आदि प्रयुक्त हुए। जरीफ ने लगभग तीन दर्जन नाटक लिखे हैं, जिनमें आधे अलिफलैला की कविता-बद्ध तथा सीनों में विभाजित कहानियाँ हैं, जैसे अलीबाबा, फरेब फ़ितना, हुस्न अफ्रोज़ आदि। इनके सिवा लैला मजनूँ, शीरीं फरहाद आदि प्रेम-कथाओं को कुछ रद्दोबदल कर लिख डाला है।

इसके अनंतर सन् १८७७ ई० में खुर्शेदजी बालीवाला तथा कवासजी ने विक्टोरिया नाटक कंपनी दिल्ली में खोली। बालीवाला

बालीवाला तथा

बड़े हँसोड़ थे और स्टेज पर इनके आने ही से लोग हँस पड़ते थे। इसके नाटक-लेखक विनायक

कवासजी प्रसाद 'तालिब' बनारसी थे। यह 'हासिख' के शिष्य थे और सन् १९१४ ई० में मरे। इसने लैलोनिहार, विक्रम विलास, गोपीचंद, हरिश्चन्द्र, नाजाँ आदि कई खेल लिखे। इसने नाटकों की भाषा में बहुत कुछ परिमार्जन किया। बालीवाला की मृत्यु पर यह कंपनी टूट गई और कवासजी ने 'ऐल्फ्रेड थिएट्रिकल कंपनी' खोली। कवासजी करुणापूर्ण अभिनय में पारंगत थे। यह सन् १९१४ ई० में मर गए और यह कंपनी भी चार पाँच वर्ष बाद बंद हो गई। इसके प्रथम नाटक-लेखक सैयद मेहदी हसन लखनवी थे, जिन्होंने शेक्सपीअर के मर्चेन्ट ऑव वेनिस का दिलफरोश और कामेडी आव एरर्स का भूल भुलैया नाम से तथा अन्य नाटकों का अनुवाद किया था। गुलनार-फीरोज, बकावली, चंद्रावली आदि कई और नाटक लिखे। इस कंपनी के दूसरे लेखक नारायण प्रसाद बेताब थे। ये काश्मीरी ब्राह्मण हैं। इनके पिता का नाम महाराज ढोलाराय था। यह गालिब के शिष्य हकीम सर्दार मुहम्मद खाँ तालिब के शिष्य थे और नजीर हुसेन 'सखा' को भी कविता दिखलाते थे। बंबई से 'शेक्सपियर' नामक पत्र निकाला था, जिसमें उसी के नाटकों का अनुवाद छपता था। यह अब बंद हो गया। इनके नाटक गोरख-धंधा, पत्नीप्रताप, रामायण, महाभारत, कृष्ण सुदामा आदि में हिंदी का और जहरी साँप, फरेबे मुहब्बत आदि में उर्दू का आधिक्य है। भाषा बेढब खिचड़ी है, गंगा जमुनी के समान शोभा-

वर्द्धक नहीं है। पात्रों के मुख में समय कुसमय भी शैरबाजी कराना स्वाभाविकता का नाश करना है। कथावस्तु के संगठन तथा चरित्रचित्रण पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

मुहम्मद अली नाखुदा तथा सोराबजी के साझे में यह कंपनी खुली। बेताब के सिवा आगाहशर काश्मीरी, तुलसीदत्त शैदा और हरिकृष्ण जौहर इसके नाटक लेखक थे।

न्यू एलफ्रेड कंपनी हश्र का परिवार बनारस में बहुत दिनों से बसा हुआ था। न्यू अलफ्रेड कंपनी छोड़ने पर इन्होंने अपनी 'शेक्सपियर थिएट्रिकल कंपनी' खोली पर वह कुछ दिन के बाद बंद हो गई। इसके अनंतर यह मडन फ़िल्म कंपनी में अच्छे वेतन पर अभिनेता हो गए। इन्होंने दो दर्जन नाटक लिख डाले, जिनमें मीठी छुरी, ठंढी आग, आँख का नशा, नारए तौहीद, खूबसूरत बला, तुर्कीहूर आदि खूब चले। आपने हिंदी खेल भी कई लिखे हैं जैसे श्रवण कुमार, मधुर मुरली, भक्त सूरदास, भीष्म प्रतिज्ञा, धर्मी बालक या गरीब की दुनिया। हिंदी के खेलों की माँग जनसाधारण में बढ़ रही थी इसलिए नाटक-लेखकों ने इस ओर भी लौह लेखनी दौड़ाई पर शैर-गजल के ज़ोर कम नहीं हुए। तुलसीदत्त शैदा ने नल दमयंती आदि लिखा और हरिकृष्ण जौहर हिंदी के नाटक लिखने के लिए ही इस कंपनी में बुलाए गए।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धौलपुर नरेश की संरक्षता में 'इंडियन इम्पीरियल थिएट्रिकल कंपनी' खुली थी, जिसके एक

अभिनेता तथा प्रोप्राइटर हाफिज मुहम्मद अब्दुल्ला ने अदल सुल्तान महमूद, हवाई मजलिस आदि एक दर्जन से अधिक नाटक लिखे, जिनमें गद्य को स्थान नहीं मिला है। लाइट ऑव इंडिया कंपनी के अभिनेता मिर्जा नज़ीर बेग ने रामलीला, नल दमन आदि कई नाटक लिख डाले। पारसी थिएट्रिकल कंपनी सन् १९०१ ई० में जलकर भी अपने मालिक सेठ अर्दशेर की सुव्यवस्थता में पुनः उसी रूप में चलने लगी। विशंभर सहाय व्याकुल की भारत-व्याकुल कंपनी कुछ दिन तक बड़े शान से चली पर बंद हो गई। इसका सबसे अधिक प्रसिद्ध खेल बुद्ध भगवान कई दिनों तक खेला गया था। यह साहित्यिक दृष्टि से भी अच्छा नाटक है और शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। सूरि विजय नाटक मंडली ने भी कुछ अच्छे नाटक तैयार किए। पंजाब के लाला किशनचंद और लाला नानकचंद नाज़ इसी कंपनी के लेखक थे। इन लोगों ने हिंदी शब्दावली का अधिक प्रयोग किया है।

मुंशी जगनकिशोर 'हुस्न' फीरोजाबाद के भटनागर कायस्थ थे। फारसी तथा उर्दू के कवि थे। बहारे अजुध्या फारसी काव्य है। उर्दू में नौहा नासिर अली शाह और जवाब मुसद्दसे हाली लिखा। हाली कहते हैं कि इसलाम धर्म के आरंभ के पहिले 'इधर हिंद में हर तरफ था अँधेरा' जिसका उचित उत्तर इसमें दिया गया है। मुबाहिसा फीरोजाबाद में आर्य समाजियों तथा जैनियों का विवाद कविताबद्ध हुआ है। इन्होंने गोपीचंद, विद्या

अविद्या, प्रह्लाद, नल दमन, शीरीं फरहाद और हरिश्चन्द्र नाटक लिखे तथा शकुंतला का फारसी में अधूरा अनुवाद छोड़कर सन् १८९९ ई० में ३३ वर्ष की अवस्था में मर गए।

पूर्वोक्त नाटक-लेखकों के सिवा अन्य कुछ लेखकों का भी यहाँ उल्लेख किया जाता। आगा हशर के शिष्य मुंशी इब्राहीम महशर ने भी एक दर्जन नाटक लिख डाले हैं, जिनमें आतिशी नाग, रसीला जोगी, मीरा बाई आदि प्रसिद्ध हैं। राधेश्याम कथावाचक ने पौराणिक कथाएँ लेकर कई नाटक लिखा है। पं० ज्वाला प्रसाद वर्क ने शेक्सपियर के कई नाटकों का अनुवाद किया है। मुंशी ज्ञानेश्वर प्रसाद मायल ने नूरे हिंद या चन्द्रगुप्त और तेगे सितम लिखा। हकीम अहमद शुजा बी. ए. ने बाप का गुनाह, जानबाज, भारत का लाल आदि कई नाटक लिखे तथा बंगला से अनूदित किए। इम्तियाज़ अली ने अनारकली, दुल्हन आदि, दिलावर शाह ने पंजाब मेल, अहमद हुसेन ने हुस्न का बाजार, अब्दुल मजीद ने जूद पशेमान तथा व्रजमोहन दत्तात्रेय ने राजदुलारी और मुरारी दो नाटक लिखे।

स्फुट-नाटक लेखक

उर्दू साहित्येतिहास के एक लेखक का कथन है कि पाश्चात्य-संपर्क ने उर्दू क्षेत्र में नाटक का बीजारोपण किया है। हो सकता है पर इंदर सभा में कुछ भी पाश्चात्य नहीं है। पारसीयों ने अवश्य ही व्यवसाय रूप में यूरोपियन चाल पर थिएटर खोले और भाँड़ों की नकलों से उकताए जनसाधारण में यह नया मनोरंजन शीघ्र

प्रचलित हो उठा तथा व्यवसायियों के लिए लाभदायक हुआ। आरंभ के बहुत से खेल इसी दृष्टि से तैयार किए गए थे पर बाद को क्रमशः उनमें कुछ कुछ साहित्यिकता लाने का प्रयत्न किया जाने लगा। पहिले प्रायः कुल खेल शैरों में लिखे जाते थे। आना जाना भी शैरों में बतलाया जाता था पर यह रोग धीरे धीरे घटा। अभी तक कितने ही खेलों में पद्य का प्राचुर्य पाया जाता है। अलिफलैला, इश्क की मस्नवियाँ तथा ऐसे ही आधारों से ली गई कथानकों पर उन्नीसवीं शताब्दी में बने नाटक अब बहुत कम दिखलाए जाते हैं और कुछ दिनों में स्यात उनका नाम मात्र भी मिलना कठिन हो जायगा। एक एक कथानक पर आधे आधे दर्जन नाटक लिखे गए हैं। अभिनय में भी उन्नीसवीं शताब्दि में चूमाचटी तथा भद्दी अश्लील बातचीत, मारकाट फाँसी आदि दिखला कर साधारण लोगों को आकर्षित करना प्रचलित था।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ के साथ पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटकों की संख्या बढ़ने लगी तथा उर्दू में बंगला मराठी आदि अन्य भारतीय भाषाओं के नाटकों के अनुवाद किए गए तथा उनके आधार पर लिखे गए। भाव तथा चरित्र चित्रण पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। पर यह कहा जा सकता है कि अब तक उर्दू नाटकों ने देश का कोई उपकार नहीं किया है और इसका भविष्य भविष्य के गर्भ में है।

उपन्यास तथा गल्प

कहानी कहने और सुनने की चाल अत्यंत प्राचीन है। छोटे छोटे बच्चे तक समझने योग्य होते ही तोता मैना की कहानी सुनने तथा हुँकारी भरने लगते हैं और कुछ बड़े होने

विषय प्रवेश

पर छोटी छोटी कहानियाँ, लतीफे आदि पढ़ने लगते हैं। प्रौढ़ होने पर मनोरंजन के लिए गल्प, आख्यायिका, उपन्यास आदि पढ़ते हैं। तात्पर्य यह कि मनोरंजन की यह सामग्री पठित समाज के लिए आवश्यक हो गई है और इसका पाठकवर्ग पर खूब प्रभाव पड़ता है। इसलिए साहित्य के इस अंग का उत्तरदायित्व धार्मिक ग्रंथों से कम नहीं है। संस्कृत की प्राचीनतम कहानियाँ पशुओं को लेकर उपदेश देती हुई लिखी गई हैं, जिनमें पंचतंत्र मुख्य है। इसके अरबी तथा उर्दू अनुवादों का उल्लेख हो चुका है। अंग्रेजी में 'इसप्स फेबुल्स' इसी प्रकार की कहानियों का संग्रह है। उर्दू में फारसी से जो कहानियाँ आई हैं, उनमें दो के प्रेम से आरंभ होता है और बीच में कुछ रुकावट पड़ती है, जिन्हें नष्ट कर दोनों का निकाह होता है। यह साधारण कथा वस्तु सब में एक साँ मिलता है। तिलस्म, जादू, दैत्य आदि का होना अनिवार्य है। मनुष्य का पशु पक्षी हो जाना भी साधारण बात है। चरित्र-चित्रण, कथा-संगठन आदि की कुछ जरूरत नहीं समझी जाती थी।

उर्दू की कहानियों के आधार कई हैं। संस्कृत के हिंदी अनुवाद वैतालपच्चीसी, सिंहासनबत्तीसी, शुकबहत्तरी, पंचतंत्र आदि के आधार पर उर्दू में कई पुस्तकें तैयार हुईं, जिनका उल्लेख फोर्ट विलिअम के लेखकों के साथ हो चुका है। अलिफलैला, अमीर हमजा तथा हातिमताई को लेकर कहानियों के कई बड़े बड़े पोथे तैयार हो गए हैं। यूरोपीय विचार संघर्ष के आरंभ होने पर वहाँ के गल्पों तथा उपन्यासों का उर्दू में अनुवाद होने लगा और समय के प्रभाव से असंभाव्य बातों की कमी तथा स्वाभाविकता की अधिकता होने लगी। हिंदी, बंगला आदि से भी अनूदित होकर कुछ उपन्यास आदि उर्दू में आए तथा स्वतंत्र मौलिक कहानियाँ भी लिखी जाने लगीं।

इस ग्रंथ का नाम 'अलिफोलैलतुन् लैलतुन्' (१००१) है अर्थात् कहानियों की यह श्रृंखला एक सहस्र एक रात्रि सुनने पर समाप्त हुई थी। इसका पहिला अनुवाद हिकायतुल् जलीला के नाम से सन् १८३६ ई० में हुआ था पर केवल २२५ रात्रि तक ही का होकर रह गया। इसके अनुवादक शरशुद्दीन अहमद अरब यमनी शरवानी थे और मंदराज के फोर्ट सेंट जार्ज कालेज के लिए यह अनुवाद हुआ था। दूसरा अनुवाद 'अलिफलैला उर्दू' के नाम से सन् १२५८ हि० (१८४७ ई०) में हुआ, जिसे असीम कोका मुं० अब्दुल् करीम हई ने अंग्रेजी अनुवाद से किया था। यह लखनऊ

अलिफलैला

के निवासी थे तथा वहाँ के नवाब के धाय भाई थे। यह कलकत्ते में बड़े लाट के मीर मुंशी थे और पेंशन मिलने पर लखनऊ लौट आए। यहीं अनुवाद किया और स्वयं मजबूत बाँसी कागज पर छपवाया। इसके बाद नवलकिशोर प्रेस से सन् १८६२-८ ई० में एक पद्यानुवाद निकला, जिसमें प्रथम भाग मुहम्मद असगर अली खाँ नसीम देहलवी, द्वितीय तथा तृतीय भाग तोता राम शायाँ और चतुर्थ भाग मुं० शादीलाल चमन कृत है। इसी का गद्यानुवाद भी सन् १८६८ ई० में तोताराम शायाँ ने पूरा किया और उसी प्रेस से प्रकाशित हुआ। इसी प्रेस ने जनसाधारण की सुविधा के लिए इसका संक्षिप्त संस्करण हामिद अली से करवाया। इसकी कई आवृत्ति हुई और सन् १८८९ ई० में पाँचवाँ संस्करण प्रकाशित हुआ, जो चार भाग में तथा सचित्र है। इन अनुवादों के सिवा रज्जब अली सरूर का शबिस्ताने-सरूर इसी के आधार पर सन् १८५३ ई० के लगभग लिखा गया है और मिर्ज़ा हैरत देहलवी ने सन् १८९२ ई० में शबिस्ताने हैरत के नाम से इसे अनूदित किया है।

अमीर हमजा

मुहम्मद के चचेरे भाई अमीर हमजा के काल्पनिक वृत्तांत पर अबुल्फ़ैज़ फ़ैज़ी ने सम्राट् अकबर के मनोरंजनार्थ बहुत बड़ी कहानी फ़ारसी में लिख डाली। इसमें आठ दफ़्र हैं, जिनमें कुछ बड़े और कुछ छोटे हैं। सब मिला कर सत्रह सहस्र पृष्ठों के लगभग है। पाँचवें दफ्तर का तिलस्म होशरुबा के नाम से उर्दू अनुवाद हुआ, जिसमें

सात भाग हैं। प्रथम चार का मीर मुहम्मद हुसेन 'जाह' ने और तीन का उन्हीं के शिष्य मिर्जा जाफर हुसेन 'क़मर' ने अनुवाद किया था। इसका प्रथम भाग सन् १८८४ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसी कथा के प्रथम दफ्तर नौशेरवाँ नामा का अनुवाद दास्ताने अमीर हमजा के नाम से (सन् १२१५ हि०) सन् १८०१ ई० में छपा था, जो डा० गिलक्राइस्ट की आज्ञा से खलील खाँ अश्क द्वारा हुआ था। तोताराम शायाँ ने इसका पद्य में और शेख़ तसद्दुक हुसेन ने इसी का गद्य में अनुवाद किया था। ये दोनों नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित हुए थे।

बोस्ताने खयाल

कहानियों का एक और बड़ा संग्रह बोस्ताने ख़याल (कल्पना का उद्यान) है, जिसे मीर तक़ी 'ख़याल' गुजराती ने लिखा था। मुहम्मद शाह रंगीले को यह बहुत पसंद था। इसके उर्दू अनुवाद कई हुए, पर अच्छा अनुवाद मिर्जा मुहम्मद अस्करी उर्फ़ छोटे आगा लखनवी तथा ख़्वाजा बदरुद्दीन अमन देहलवी का है। प्रथम ने पहले दो भाग का और दूसरे ने अंतिम पाँच भाग का अनुवाद किया था। इसका संक्षिप्त अनुवाद 'जुब्दतुल् ख़याल' के नाम से सन् १८४४ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसके अनुवादक आलमअली पटना के पास बलिया परगना के अंतर्गत मौजा करई के रहने वाले थे। यह ग्रंथ तत्कालीन डिप्टी गवर्नर विलियम विलबरफोर्स साहब को समर्पित है।

प्राचीन काल की अमानुषिक असंभाव्य कहानियों का समय पूरा हो चला था और नई रोशनी में इन तिलस्म तथा जादू के अंधकार नष्ट हो चले थे। मानव विचारों, भावों आदि का कहानियों में विश्लेषण होने का समय आ रहा था। लखनऊ में रज्जबअली बेग 'सरूर' ने प्रसिद्ध 'फिसानः अजायब' तथा अन्य कहानी किस्से लिखे थे, जिसका उल्लेख हो चुका है। इनमें पुरानापन ही अधिक है, पर नयेपन का भी आभास मिलता है। इनकी भाषा भी वही पुराने चाल की तुकबंदी लिए हुए है।

परिवर्तन-काल

नजीर अहमद ने पुरानेपन को बिलकुल छोड़ देने का प्रयत्न किया है। इन्होंने तिलस्म जादू के फंदे तोड़ डाले और यह अपने समय के सामाजिक आचार, विचार, भाव आदि को कहानियों में व्यक्त करते रहे। इन्होंने अपनी रचनाओं में उपदेश देने का विशेष प्रयास किया है। 'तौबतुन्नसूह', 'फिसानएमुब्तिला', 'रुआये सादिक' आदि ऐसी ही कृतियाँ हैं। गार्हस्थ्य जीवन को लेकर ही इन्होंने अपनी पुस्तकों के कथा-वस्तु का संगठन किया है और ऐसे चित्रों के खींचने में यह सफल भी हुए। इनकी भाषा-शैली भी बदल गई थी और पहले से बहुत सुगम और सुबोध हो गई थी।

नजीर अहमद

सन् १८७७ ई० में मुंशी मुहम्मद सज्जाद हुसेन ने लखनऊ से 'अवधपंच' नामक साप्ताहिक-पत्र निकालना आरंभ किया,

अवधपंच

जिसका उर्दू-साहित्य तथा भाषा पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। यों तो इसके पहले से अनेक अखबार निकलते थे, पर हास्य-प्रधान पत्रों में यही पहला पत्र है। इसकी भाषा, शैलो, मनोविनोद के लेख तथा चुटकुले, गंभीर विषयों का मनोरंजक विवरण, व्यंग्यात्मक आक्षेप आदि ऐसे थे कि इसका आदर बहुत जल्द भारत में चारों ओर हो गया। इसकी नक़ल पर अनेक पंच निकले; पर वह बात किसी में न थी। पं० रतननाथ सरशार इसी का मुकाबिला करने को 'फ़िसानए आज़ाद' अवध-अखबार में निकालने लगे, जिसके वे संपादक थे। पंच में बड़ी स्वतंत्रता से लेख लिखे जाते थे और गंभीरतम विषय भी दिल्लगी ही में बड़े ढंग से कह दिए जाते थे। इसकी एक विशेषता यह और थी कि इसकी भाषा टकसाली समझी जाती थी। हिंदू-मुसलिम एकता का यह पत्र समर्थक था और हिंदू, मुसलमान तथा ईसाई तेहवारों पर साक़ीनामे तथा लेख निकलते थे। उसके लेखकगण भी उर्दू के तत्कालीन श्रेष्ठ साहित्यिक थे, जिनमें से कुछ नाम ये हैं—सज्जाद हुसेन, मिर्ज़ा मंचू बेग सितम ज़रीफ़, ज्वालाप्रसाद बर्क़, नवाब सैयदमुहम्मद आज़ाद।

यह मंसूर अली डिप्टी कलेक्टर के लड़के थे, जो बाद को हैदराबाद राज्य में जज नियत हुए थे। सज्जाद हुसेन का जन्म सन् १८५६ ई० में हुआ और सन् १८७३ ई० में एंट्रेंस

सज्जाद हुसेन

पास किया। यह कुछ दिनों सेना में मुंशीगिरी पद पर रहे, पर वहाँ से लौटकर सन् १८७७ ई० में इन्होंने लखनऊ से 'अवध पंच' नामक पत्र निकालना आरंभ किया। इनकी निजी विनोद-प्रधान शैली से लोग ऐसे मुग्ध हुए कि यह पत्र शीघ्र लोकप्रिय हो गया और योग्य लेखकगण इनमें लेख देने लगे। रतननाथ सरशार दो वर्ष तक इसके लेखक रहे, पर 'अवध-अखबार' के संपादक नियुक्त होने पर, उन्होंने इससे संबंध त्याग दिया। इनके लकवे की बीमारी से जर्जरित हो जाने पर, पत्र भी जरा-जीर्ण हो चला और सन् १९१५ ई० में इनकी मृत्यु होने के दो-तीन साल पहले ही बंद हो गया। मुंशी सज्जाद हुसेन ने उर्दू पत्र-द्वारा देश-सेवा की और तअस्सुब या हठधर्मी से सदा दूर रहे। यह स्पष्ट वक्ता थे, पर जो कुछ कहते थे, वह विनोदपूर्ण होता था। उन्होंने 'प्यारी दुनिया', 'धोका', 'मीठी छुरी', 'तरहदार लौंडी', 'कायापलट' 'नश्तर' आदि कई उपन्यास लिखे, जो सभी खूब प्रचलित हुए। इन सबकी भाषा मुहाविरेदार तथा अलंकृत है और इनकी निजी विशेषता—हँसी मज़ाक़ से पूर्ण है।

मिर्जा मुहम्मद मुर्तजा उर्फ मंचू बेग 'आशिक' के पिता का नाम असगर अली था। उन्होंने गदर के पहले शस्त्र चलाने में अच्छा नाम पैदा किया था, पर उसके बाद पठन-

आशिक

पाठन तथा कविता करने में हाथ लगाया। यह

नसीम देहलवी के शिष्य हुए। गद्य अच्छा लिखते थे और इनकी भाषा बहुत ही शुद्ध तथा हास्य रस से पूर्ण रहती थी। 'सितम ज़रीफ़' के उपनाम से 'अवध-पंच' में अंत तक बराबर लिखते रहे। इनके लेख ऐसे होते थे कि उन्हें पढ़ते समय आँतों में बल पड़ जाते थे। लखनऊ की प्रायः बहुत सी बातों पर आपने लेख लिखे हैं, जो मुहाविरों के खज़ाना और माधुर्य के कोष हैं। इनकी गद्य-पद्य रचनाओं के नाम गुलज़ारे निजात, मीलादे शरीफ़, आफ़ताबे क़यामत, बहारे हिंद और मसनवी नैरंग ख्याल है। इनके लेख चशमए बसीरत के नाम से छपे हैं। यह स्वतंत्रता-प्रिय थे और इसी से भोपाल तथा नवलकिशोर-प्रेस की नौकरी स्वीकार नहीं की। यह कांग्रेस में भी सम्मिलित होते थे।

ज्वाला प्रसाद 'बर्क़' काश्मीरी ब्राह्मण थे और इनका जन्म सन् १८६३ ई० में हुआ था। सन् १८८२ ई० में इन्होंने बी० ए० और दूसरे वर्ष एल-एल० बी० पास किया। सन् १८८५ ई० में यह मुंसिफ़ हुए और बढ़ते बढ़ते जज तक हो गए। सन् १९११ ई० में इनकी प्लेग से मृत्यु हो गई। यह कवि तथा उपन्यास-लेखक थे। इन्होंने बंकिम बाबू के कई उपन्यासों का उर्दू में अनुवाद किया है, जिनमें 'बंगाली दुलहिन', 'प्रताप', 'मारे आस्तीन', 'रोहिणी' और 'मृणालिनी' अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा सुगम, प्रभावो-

बर्क़

त्पादक तथा बामुहाविरा होती थी। इन्होंने शेक्शपियर के कई नाटकों का भी अनुवाद किया था, पर उनमें से बहुत कम प्रकाशित हुए।

नवाब सैयद मुहम्मद 'आजाद' ढाका के एक धनाढ्य वंश में सन् १८४६ ई० में पैदा हुए थे। इन्होंने आग़ा अहमद अली इस्फ़हानी से शिक्षा प्राप्त की थी, जिन्होंने गालिब से फ़ारसी लुगत 'बुर्हान कातः' के बारे में खूब वाद-प्रतिवाद किया था। इन्होंने अंग्रेजी घर ही पर पढ़ी थी। यह पहले सब-रजिष्ट्रार नियत हुए और अंत में इम्पीरियल सर्विस आर्डर में हो गए। सन् १९१२ ई० में नौकरी छोड़ी। यह पहिले फारसी में रचना करते थे, पर बाद को उर्दू में लिखने लगे। यह 'अवध-पंच', 'अवध अखबार', 'आगरा-अखबार' आदि में लेख देने लगे। सन् १८७८ ई० में इन्होंने 'नवाबी दरबार' नामक उपन्यास लिखा, जिसमें पुरानी चाल के नवाबों पर खूब फबतियाँ कसी गई थीं। यह विलायत भी गए थे और वहाँ से जो पत्र लिखे हैं, वे बड़े मनोहर हैं। इनका एक लुग़त भी है, जो तुकबंदी-युक्त भाषा में है, जिसे इन्होंने खिलवाड़ में लिखा था।

आजाद

अहमदअली किदवई 'शौक' 'असीर' के शिष्य थे। यह सुकवि थे और इन्होंने कई अच्छी मसनवियाँ लिखी हैं। इनका दीवान भी प्रकाशित हो चुका है। इन्होंने कई नाटक गद्य-

शौक — पद्य में लिखे हैं, जिनमें कासिमो जुहरा तथा मैकफरसन और लूसी मशहूर हैं। यह उर्दू शायरी के नियमादि के पूर्ण ज्ञाता थे और बहुत दिनों तक रामपुर दरबार में रहे। यह 'अवध-पंच' में बराबर लेख दिया करते थे और इनका भाषा की शुद्धता तथा सौष्ठव पर विशेष ध्यान रहता था।

पं० रतननाथ दर उपनाम 'सरशार' काश्मीरी ब्राह्मण पं० बैजनाथ के पुत्र थे, जिन्हें वह चार वर्ष की अवस्था में छोड़ कर मर गए थे। इनका जन्म सन् १८४६ ई० में

सरशार — लखनऊ में हुआ था। इन्होंने कैनिंग-कालेज में शिक्षा प्राप्त की थी, पर कोई डिगरी न प्राप्त कर सके। खेरी के जिला स्कूल में यह टीचर हो गए और वहीं से 'मरसूलए-काश्मीरी' तथा 'अवध-पंच' में लेख लिखते रहे। यह शिक्षा विभाग के लिए अनुवाद का कार्य भी करते रहे, जिसके लिए उनकी प्रशंसा भी हुई थी। यह 'मिरातुल हिंद' तथा 'रयाजुल् अखबार' में भी लेख देते थे। सन् १८७८ ई० में यह अवध-अखबार के सम्पादक नियत किए गए। इन्होंने अपना सुप्रसिद्ध उपन्यास 'फिसानए-आजाद' इस अखबार में क्रमशः निकालना शुरू किया, जो सन् १८७९ ई० के साथ-साथ समाप्त हुआ। 'अवध-पंच' ने इस पत्र पर खूब फबतियाँ कसीं और हँसी उड़ाई। 'फिसानए-आजाद' की तीव्र आलोचना होने लगी और

सरशार भी प्रत्युत्तर देने से नहीं हटे। फिसाना आजाद का हिंदी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। अंत में दोनों ओर से, मित्रों के कारण, सुलह हो गई। 'तूतिए हिंद' के सम्पादक सैयद मुहम्मद मुर्तजा और 'हाली' पानीपती से भी इनसे खूब प्रतिवाद चला था। यह इलाहाबाद हाईकोर्ट में अनुवादक भी नियत हुए थे, पर अन्य कामों के कारण समय पर आफिस नहीं पहुँच सकते थे, इसलिए उस पद से हटा दिए गए। इसके बाद यह सन् १८९५ ई० में हैदराबाद गए, जहाँ इनका वड़ा आदर हुआ। 'काश्मीर-प्रकाश' पत्र के सन् १८९९ ई० की मार्च की संख्या में इनका एक पत्र छपा था, जिसमें इन्होंने वहाँ का वृत्तांत लिखा है। अंतिम काल में मदिरापान का व्यसन इन्हें लग गया, जिससे इनकी मौत सन् १९०२ ई० में शीघ्र आ पहुँची। इनकी कुछ प्रसिद्ध रचनाओं के नाम ये हैं—'फिसानए-आज़ाद', 'सैरे कुह-सार', 'कड़मधुम', 'खुदाई फौजदार', 'बिछुड़ी दुलहिन', 'तूफाने बेतमीज़ी', 'कामिनी', 'जामे सरशार' आदि। इनकी लेखन शैली में स्वाभाविकता अधिक है और विनोद तथा हँसी का पुट सर्वत्र एक सा पाया जाता है। इनमें गंभीरता का अभाव है और जहाँ ये गहन विषयों पर विचार करने बैठे हैं, वहाँ सब गड़बड़ हो गया है। अश्लीलता का भी मेल कहीं कहीं खटकता है। यह सब होने पर भी सरशार उर्दू-साहित्य के एक रत्न हैं।

अब्दुल हलीम 'शरर' का जन्म लखनऊ में सन् १८६० ई०

में हुआ था। इनके पिता का नाम तफ़ज्जुल हुसेन हकीम था। इनके नाना नवाब वाजिदअली शाह के साथ कल-

शरर कत्ते गए, जहाँ यह सन् १८७७ ई० तक रहे। सन् १८८० ई० में यह 'अवध अखबार' के सहायक संपादक नियत हुए और मुंशी अहमद अली कसमंडवी से लेखन-कला की शिक्षा पाई। यह साहित्यिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी विषयों पर लिखते थे। सन् १८८२ ई० में इन्होंने अपने मित्र के नाम पर 'महशर' पत्र निकाला, पर दो वर्ष बाद यह बंद हो गया। सन् १८८४ ई० में अवध अखबार की ओर से यह हैदराबाद गए, पर वहाँ लोगों ने 'हजार दास्ताँ' का संपादन ग्रहण करने को इन्हें बाध्य किया, जिस पर 'अवध-अखबार' से संबंध छोड़ने को लखनऊ आए, पर इसी बीच 'हजार दास्ताँ' मर गया, जिससे लखनऊ में ही रह गए। इसी समय इनका पहला उपन्यास दिलचस्प दो भाग में निकला, जिसमें घरेलू झगड़े तथा स्त्रियों की पराधीनता के दृश्य दिखलाए गए हैं। इसी समय दुर्गेशनंदिनी का भी अनुवाद प्रकाशित हुआ। सन् १८८७ ई० में 'दिलगुदाज़' पत्र निकला, जो कई बार बंद हुआ। इसका मूल्य पहले केवल एक रुपया और बाद को दो रुपये हो गया। 'मलकुल अजीज वर्जिनिया' इनका पहला ऐतिहासिक उपन्यास है। सन् १८८९ ई० में 'हसन ऐंजिलिना' निकला, जिसकी घटना रूम और रूस की लड़ाइयों से दी गई है। 'मंसूर मोहाना' सोम-

नाथ पर मुहम्मद गोरी की चढ़ाई से संबंध रखता है। इसी समय इनका ऐतिहासिक नाटक 'शहीदे वफ़ा' निकला। इन सब में इनका धार्मिक जोश ही प्रधान है। सन् १८९० ई० में 'मुहज्ज़ब' साप्ताहिक पत्र निकाला। इसके पहिले 'दिलकश' और 'यूसुफ़ो नज़्म' दो उपन्यास और भी निकल चुके थे। इसके बाद यह हैदराबाद गए, जहाँ दो वर्ष रहे और इसी बीच 'सिंध का इतिहास' बड़े परिश्रम से लिखा। सन् १८९३ ई० में यह इंगलैंड गए, जहाँ तीन वर्ष रहे। वहीं अंग्रेजी और फ्रेंच भी सीखी। सन् १८९९ ई० में यह हैदराबाद से लखनऊ लौट आए। 'फ़िर्दौसबरीं' उपन्यास में हसन बिनसब्बाह के बनावटी बहिश्त का वर्णन है। 'ऐय्याम अरब' इस्लामधर्म के पहिले का इतिहास है। कॉक्स के 'वार्स ऑव क्रूसेड्स' का मुक़द्दसे नाज़नीन तथा एक अंग्रेजी उपन्यास का 'डाकू की दुलहिन' के नाम से अनुवाद किया। इसी वर्ष 'पर्दए असमत' नामक दूसरा पत्र निकाला, जिसमें पर्दा की प्रथा को बुरा बतलाया गया है। इसके खिलाफ़ 'मुअल्लिम-निसवाँ' में कई लेख लिख चुके थे और एक छोटा सा उपन्यास 'बदरुन्निसा की मुसीबत' तथा एक नाटक 'मेवए-तल्ख़' भी लिखा था। यह सन् १९०१ ई० में तीन वर्ष के लिए पुनः हैदराबाद गए थे। इन्होंने सन् १९०४ ई० में लखनऊ से हिंदू-मुसलिम एकता पर 'इत्तहाद' पत्र निकालना शुरू किया, पर वह डेढ़ वर्ष बाद बंद हो गया। सन् १९०५ ई० में 'शौक़ीन मलकः' उपन्यास प्रका-

शित हुआ। दूसरे वर्ष 'अल्अफ़्तान' अखबार निकाला, जिसमें सूफ़ी तथा धार्मिक विषय प्रधान था। यह शीघ्र वंद हो गया। यह फिर हैदराबाद शिक्षा-विभाग के सहायक डाइरेक्टर हो कर गए, पर सन् १९०९ ई० में हटा दिए गए। इसी बीच कई जीवन-चरित्र तथा 'सिंध का इतिहास' प्रथम भाग प्रकाशित किया। सन् १९१८ ई० में निजाम के आज्ञानुसार 'इस्लाम का इतिहास' लिखना शुरू किया, जिसके लिए इन्हें छ सौ रुपये मासिक वेतन मिलता था। सन् १९२६ ई० के दिसम्बर में इनकी मृत्यु हो गई। इन्होंने कुल मिला कर पचास से अधिक पुस्तकें लिखीं, जिनमें उपन्यास तथा इतिहास मुख्य हैं। उल्लिखित उपन्यासों के सिवा 'हुस्न का डाकू', 'लुब्बाते चीन', 'मैदाने दुल्हन', 'ज़वाले बुगदाद' आदि हैं। उर्दू के उपन्यासकारों में इनका प्रथम स्थान है और इसके सिवा इतिहास-लेखक तथा पत्रकार-कला में भी अपने समय के किसी लेखक से यह कम नहीं थे। इनके कारण उपन्यास के पठन का इतना प्रचार हो गया कि पैसा कमाने के लिए खूब उपन्यास लिखे जाने लगे, जिनमें साधारण कोटि के ही अधिक थे।

मिर्जा मुहम्मद हादी 'रुसवा' बी० ए०, पी० एच० डी० कवि, नाटककार तथा उपन्यासकार थे। 'मुरक्कए लैला मजनूँ' इनका नाटक है। 'उमरावजान', 'नौ-बहार', 'उम्मीदोबीम', 'खूने आशिक' आदि उपन्यास तथा अन्य रचनाएँ हैं। मौलवी सैयद अफ़जलुद्दीन

अन्य उपन्यासकार

अहमद खाँ अजीमाबाद (पटना) के रईस थे। इनके पिता नवाब अमीर अली खाँ अवध के वजीर थे। इन्होंने 'फ़िसानए खुर्शेदी' नामक उपन्यास दो भागों में लिखा है, जिसमें गार्हस्थ-जीवन के उद्देश्य दिखलाए गए हैं। राशिदुअल-खैरी देहलवी ने 'सुबह जिंदगी', शाम जिंदगी', 'नौहए जिंदगी' आदि बहुत से उपन्यास लिखे हैं।

ख़्वाजा हसन निज़ामी देहलवी ने भी पचासों रचनाएँ कर डाली हैं। बड़े बलवे पर कई पुस्तकें लिखीं हैं पर इनमें हठधर्मी की मात्रा बहुत है। मुंशी धनपत राय बी० ए० उपनाम 'प्रेमचंद' ने 'जल्वए-ऐसार' और 'बाजारे-हुस्न' दो उर्दू उपन्यास लिखे। आप उर्दू साहित्य क्षेत्र से हिंदी साहित्य क्षेत्र में चले आये हैं और सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, कर्मभूमि तथा गबन लिखकर हिंदी में युगान्तर उपस्थित कर दिया है। प्रेमचंद के सिवा एक और लेखक हैं, जो उर्दू साहित्य-क्षेत्र से हिंदी में चले आये हैं। यह 'सुदर्शन' उपनाम से गल्प लिखते हैं। 'मुहब्बत का इंतक़ाम', 'बेगुनाह मुजरिम' आदि इनके उपन्यास हैं।

बीसवीं शताब्दि से छोटी छोटी कहानियों का लिखा जाना उर्दू में आरंभ होता है। सन् १९०९ ई० में ज़माना प्रेस कानपुर ने पाँच कहानियों का एक संग्रह सोजे वतन नाम से निकाला था। इसके अनंतर उसी पत्र में प्रेमचंद की गल्पें नियमित रूप से निकलने लगीं और

गल्प

सन् १९१४ ई० में उनका एक संग्रह प्रेम पच्चीसी निकली। इसके अनंतर इनकी कहानियों के अनेक संग्रह और निकले पर वे हिंदी साहित्य के अंतर्गत आ जाते हैं। उपन्यास लेखक मौलाना राशिद अलखैरी के गल्पों का एक संग्रह निकला। मौलवी सज्जाद हैदर ने मख़ज़न में कई कहानियाँ लिखीं, जिनका संग्रह भी निकल चुका है। इनमें रोचकता की कमी होते भी गद्य-काव्य की बहार अच्छी है। नियाज फतहपुरी का प्रथम गल्प 'एक शायर का अंजाम' सन् १९१३ ई० में निकला था। शहाब का सरगुजश्त तथा शबिस्तान का क़तरा गौहर में प्रसिद्ध गल्पें हैं। ये लंबी कहानियाँ लिखते हैं, जो पढ़ने में अखरती हैं। भाव, भाषा तथा चरित्र-चित्रण अच्छा है। यह निगार नामक एक मासिक पत्रिका के भी सम्पादक हैं और कई उपन्यास भी लिखा है। गीतांजलि का अनुवाद भी किया है। प्रो० जलील अहमद किद्वई की गल्पों की भाषा मर्मस्पर्शिनी होती है तथा उसके भाव भी गहन होते हैं। करुणोत्पादक घटनाएँ लेकर यह विशेष लिखते हैं। यह संयत भाषा में आभास मात्र देकर आगे बढ़ते हैं और बहुत कुछ पाठकों की समझ पर छोड़ देते हैं। मिस्टर एम० अस्लम ने राधा की कंठी, सोहाग की रात आदि अच्छी गल्पें लिखी हैं। हमीदुल्ला अफसर मेरठी शिष्ट चलती हुई भाषा में घटनाओं का वर्णन करते हैं। ख्वाजा हसन निज़ामी ने भी बहुत से गल्पें लिखी हैं। सुदर्शन जी की गल्पों के कई संग्रह चश्मोचिराग, बहारिस्तान, पारस आदि

नाम से निकल चुके हैं। हास्य रस के गल्प लेखकों में मुल्ला रमूज़ी, शौकत थानवी, रशीद अहमद सिद्दीकी आदि प्रसिद्ध हैं। खुर्शेद लाहौरी जासूसी कहानियाँ लिखते हैं। केवल गल्पों की पत्रिका के अभाव की सुदर्शन जी ने चंदन पत्र निकाल कर पूर्ति की है। पूर्वोक्त सज्जनों के सिवा अनेक योग्य उपन्यास तथा गल्प लेखक उर्दू-साहित्य की वृद्धि में दत्तचित्त हैं, जिनका स्थानाभाव के कारण उल्लेख नहीं हो सका है।

पत्र तथा पत्रिका

लगभग एक सौ वर्ष के होते आए कि उर्दू का पहिला अखबार दिल्ली से आज़ाद के पिता बाकर हुसेन ने निकाला जो कुछ दिन चल कर बंद हो गया। इसका नाम आबे-हयात में आजाद ने नहीं दिया है। यह साहित्यिक पत्र था और वैसी ही चर्चा उसमें रहती थी।

आरंभिक पत्र

इसके चौदह वर्ष बाद सन् १८५० ई० में लाहौर से कोहेनूर साप्ताहिक पत्र निकलने लगा, जिसके मालिक हरसुखराय भटनागर कायस्थ थे। उर्दू का एकमात्र पत्र होने के कारण इसका अच्छा स्वागत हुआ। देशी राज्यों में इसकी प्रतिष्ठा थी और काश्मीर तथा पटियाला नरेश मुंशी हरसुखराय पर विशेष कृपा दृष्टि रखते थे। कोहेनूर की सहायता इन राज्यों से इतनी होती थी कि यह

अर्द्ध साप्ताहिक हुआ और फिर प्रति दूसरे दिन निकलने लगा। सन् १८८८-९ में यह तीन मास के लिए दैनिक भी हो गया था। इसकी निजी पालिसी कुछ न थी और वह संपादकों की नीति के साथ बदलती रही। मुं० नवलकिशोर इसी के आफिस में पहिले काम करते थे। कोहेनूर के निकलने के बाद कानपुर से शोलएतूर और मतलए नूर अखबार निकले पर वे शीघ्र बंद हो गए। लाहौर से पंजाबी अखबार और अंजुमने हिंद निकलने लगे पर पहला सप्ताह में दो बार हो कर समाप्त हो गया तथा दूसरा कुछ दिन चल कर कोहेनूर के अधीन हो बंद हो गया। वहीं से आफ्तावे पंजाब पत्र दीवान बूटासिंह ने निकाला, जो हर तरह कोहेनूर की नकल पर चलता था। दिल्ली का अशरफुल् अखबार, स्यालकोट का विक्टोरिया पेपर, बंबई का कशफुल् अखबार, लखनऊ का कारनामा, मंद्राज का जरीदए रोजगार और शम्शुल् अखबार सभी बड़े बलवे के प्रायः पहिले निकलने लगे थे। सन् १८५९ ई० में मुं० नवलकिशोर ने लखनऊ से अवध अखबार प्रकाशित किया, जो अब तक उसी चाल से चला जा रहा है। यह साप्ताहिक था पर कुछ दिन ही बाद दैनिक हो गया। पं० रत्ननाथ सरशार के संपादक होने पर इसका प्रचार विशेष बढ़ा। इसकी भी निजी कोई पालिसी नहीं थी। समाचार के नाते विलायती तारों के उल्थे छपते थे और पायोनियर आदि के लेख भी अनूदित हो प्रकाशित होते थे। लाहौर से पं०. मुकुंदराम ने

अखबारे-आम निकाला और इसका मूल्य भी जनसाधारण के उपयुक्त रखा। इसके पहिले के पत्रों के मूल्य इतने होते थे कि हर एक उसे नहीं ले सकता था। यह पहिले कोरा समाचार पत्र था और स्कूलों के लिए लिया जाता था। अफगान तथा रूस-रूम युद्धों के समय इसका प्रचार खूब बढ़ा। इसका आकार बढ़ा तथा यह अर्द्ध साप्ताहिक, सप्ताह में तीन बार और बाद को दैनिक हो गया। साहित्यिक अंश भी अधिक रहने लगा पर यह भाषा या नीति के लिए कभी प्रसिद्ध नहीं हुआ। लखनऊ से सन् १८७७ ई० में अवध पंच निकला, जो हास्य रस का प्रथम पत्र है। इसके संपादक मुं० सज्जाद हुसेन स्वयं हास्य रस के सजीव रूप थे। इसकी भाषा टकसाली उर्दू थी। इसमें धर्मांधता नाम को न थी और इसके लेखों में स्वतंत्रता पूर्वक विचार प्रकट किए जाते थे। इसकी देखा देखी कई पंच निकले पर कोई भी अधिक दिन नहीं चला और न इसके समकक्ष हो सका। अब तक के प्रायः सभी पत्र अपना उद्देश्य स्थिर कर नहीं चले थे पर अब वह समय आ गया था कि पहिले ही उसे निश्चय कर तब पत्र निकाला जाय। सन् १८८३ ई० में लखनऊ से हिंदुस्तानी पत्र निकला। आरम्भ में यह हिंदी और उर्दू दोनों में निकलता था पर कुछ दिन बाद हिंदी का बंद कर दिया गया। यह साप्ताहिक था और कुछ दिन के लिए बीच में यह सप्ताह में दो तथा तीन बार भी निकलने लगा था। इसने सामयिक राजनैतिक विषयों पर भी स्वाधीनता के साथ

लेख लिखे और अपने उद्देश्य पर अटल रहा। कुरुचि पूर्ण तथा आपस में विरोध उत्पन्न करने वाले लेख कभी नहीं प्रकाशित हुए। इसके साथ साथ अपने कर्त्तव्य को समझने वाले कई पत्र निकले, जिनमें लखनऊ से रफ़ीके हिंद तथा अलीगढ़ से इंस्टिट्यूट गजेट और तहजीबुल-इखलाक़ प्रकाशित होने लगे। अलीगढ़ कालेज के लिए चंदा वसूल करते समय हिंदू और मुसलमान को अपनी दो आँख बतलाने वाले सर सैयद अहमद ने जब चौथी कांग्रेस में मुसलमानों को हिंदुओं से 'फटकर चलने की सलाह दी' तब इन अखबारों ने भी वही पालिसी अख्तियार की थी। सन् १८८७ ई० में महबूब आलम ने अपने संपादकत्व में पैसा अखबार निकाला। चंदा कम तथा सारगर्भित होने के कारण इसका खूब प्रचार हुआ। विज्ञापनों से इसको अच्छी आय हो जाती थी। यह दैनिक भी हो गया और कई मासिकपत्र निकालने लगा। पैसा अखबार की चाल पर अमृतसर का वकील, लाहौर का वतन, लुधिआने का आर्मीन्यूज़, लाहौर से शरीफ़ और लखनऊ से तफ़रीह निकले।

पहिला मासिक पत्र सर सैयद अहमद का तहज़ीबुल् इखलाक़ सात साल चल कर बंद हो गया। यद्यपि इसके सहायक बहुत थे पर धनाभाव के कारण यह चल न सका।

मासिक पत्र

इसमें सर सैयद अहमद, हाली, ज़काउल्ला, मुह्सिनुल्मुल्क आदि के लेख छपते थे। इसके अनंतर लाहौर से एक कानूनी पत्रिका गंजे शायगान कोहेनूर से

निकलता था। अंजुमने पंजाब से भी एक पत्रिका निकलती थी। सन् १८६८ ई० में पादरी रज्जब अली ने पंजाबरिव्यू निकालना आरंभ किया पर चार पाँच अंक के बाद ही वह बंद हो गया। इसी समय के लगभग कलकत्ते से गुलदस्तए नतीजए सखुन मासिक पत्र निकला, जिसमें तरह पर लिखी अनेक ग़ज़लें छपती थीं। इसकी देखा देखी आगरे से गुलदस्तए सखुन, लखनऊ से निसार हुसेन का पयामे यार और तोहफए उश्शाक तथा कन्नौज से पयामे आशिक निकले। इन सब में गजलों का जोर था। इनमें कई अभी चलते हैं पर उनका अब समय नहीं रहा। अब्दुल् हलीम शरर ने दिलगुदाज़ पत्रिका निकाली, जिसमें धारावाही उपन्यास विशेषता थी। यह पत्र अब तक बराबर चल रहा है। सन् १८९९ ई० में फीरोजाबाद से सैयद अकबर अली के संपादकत्व में अदीब निकलने लगा पर बारह महीने की बारह संख्याएँ निकल कर रह गईं। इस नाम की एक पत्रिका इसके बहुत दिनों बाद प्रयाग से पुनः निकली और शीघ्र ही बंद हो गई। सन् १९०१ ई० में लाहौर से मखजन प्रकाशित होने लगा। यह मासिक पत्र अत्यंत सुचारु रूप से निकलता था। इसके संपादक अब्दुल् कादिर बी० ए० थे, जिनके अध्यवसाय से इस पत्र की बराबर तरक्की होती गई। यह अंग्रेजी पत्र मुहमडन आबजरवर के भी संपादक थे और यह स्वधर्मियों का सदा पक्ष ग्रहण करते थे। इनका जन्म लुधिआने में हुआ था और सन् १८९४ ई० में बी० ए०

पास हुए। सन् १९०४ ई० में यह विलायत गए और तीन वर्ष वहाँ रह कर बैरिस्टर हो भारत लौटे। पहिले दिल्ली में पर बाद को लाहौर में वकालत करने लगे। यह क्रमशः सरकारी वकील, हाईकोर्ट के जज, पंजाब लेजिस्लेटिव काउंसिल के मेंबर और उसी के सभापति हुए। सन् १९२५ ई० में मिनिस्टर ऑव एडूकेशन हुए। सन् १९११ ई० तक यह मखजन के स्वयं संपादक रहे और सन् १९२० ई० तक सम्मान्य संपादक बने रहे। अंजुमने अर्बाव इल्म लाहौर के यह सभापति हुए और अब तक बराबर उर्दू-साहित्य की सेवा में दत्तचित्त हैं।

मुआरिफ़ नामक एक मासिकपत्र सन् १८९८ ई० में आरंभ हुआ और तीन वर्ष चल कर बंद हो गया। इसमें हाली की कविता छपती थी। अरबी भाषा के दार्शनिक लेख निकलते थे और एक नाविल भी छपता था। हैदराबाद से हसन नामक एक पत्र निकलता था। नवलकिशोर प्रेस से अवध रिव्यू निकला, जो छ सात वर्ष चल कर बंद हो गया। मुं० नौबतराय नजर प्रसिद्ध कवि थे। इन्होंने खदंगेनज़र नामक पत्रिका निकाली, जिसमें एक भाग पद्य और एक भाग गद्य का होता था। यह प्रयाग के आबिद और लखनऊ के अवध अखबार के भी संपादक रहे। हैदराबाद से दकिन रिव्यू और अफसाना निकला था, जिसका अधिकांश नाविल होता था। हैदराबाद ही से दबदबए आसफियः और महबूबुल् कलाम दो अन्य पत्र निकलते थे, जिनमें पहिला

गद्य का और दूसरा पद्य का था। ये महाराज कृष्णप्रसाद की आज्ञा से छपते थे और दूसरे में नीज़ाम तथा उनके मंत्री की कविता भी छपती थी। उत्तम लेख के लिए अशर्फी पुरस्कार मिलती थी। अलीगढ़ का उर्दुएमुअल्ला फजलुल् हसन बी० ए० के संपादकत्व में निकला, जिसमें भाषा पर विशेष दृष्टि रखी जाती है और राजनैतिक लेख भी रहते हैं।

मुं० दयानारायण निगम सन् १९०३ ई० में जमाना के संपादक हुए, जो उससे एक वर्ष पहिले निकल चुका था। निगम जी का जन्म सन् १८८४ ई० में कानपुर में हुआ था। यह सन् १९०३ ई० में बी० ए० पास कर इसके संपादक हुए। इनके प्रयत्नों से इस पत्रिका की विशेष उन्नति हुई। सन् १९१२ ई० में इन्होंने आजाद साप्ताहिक पत्र निकाला, जो कुछ दिन के लिए दैनिक हो गया था। जमाना के स्वामी भी अब निगम जी हो गए हैं। तीस वर्ष से यह बराबर इस पत्रिका को अत्यंत योग्यता से संपादित कर प्रकाशित कर रहे हैं। औरंगाबाद के उर्दू का उल्लेख हो चुका है। इनके सिवा आजमगढ़ का मुआरिफ़, भोपाल का निगार, अलीगढ़ का सुहेल आदि उल्लेखनीय हैं। नैरंगख्याल, साकी, सितारा, फिल्मिस्तान आदि भी सजधज से निकलते हैं। अब विशेषांक भी उर्दू मासिक पत्रों के निकलने लगे, जिनमें रहनुमाए हिंद का विशेषांक सब से दबीज़ निकला, जिसमें दो सौ चित्र और आठ सौ पृष्ठ हैं।

इस प्रकार नाटक, उपन्यास तथा पत्र पत्रिकाओं के विषय

में लिखा जा चुका। इनके सिवा कई अन्य विषयों की पुस्तकों का भी उल्लेख हो चुका है। नाटकों के साथ वायस्कोप तथा टाकी सिनेमा का उल्लेख भी एक प्रकार हो चुका क्योंकि वे ही नाटक अब मशीन द्वारा दिखलाए जाने लगे हैं। सन् १९३१ ई० में पहिली टाकी अर्थात् बोलती तस्वीर भारत में आई और उसी वर्ष मडन थिएटर ने भी पहिली भारतीय बोलती तस्वीर तैयार की। इसके बाद ईम्पीरियल मूवीटोन कंपनी खुली, जिसके अनंतर प्रभात, रंजीत, शारदा आदि कई कंपनियाँ खुल गईं। अब टाकियों का बहुत प्रचार हो गया है। सितारा, फिल्मिस्तान आदि इसी विषय के पत्र हैं। कानून तथा हकीमी की पुस्तकें उर्दू में काफी प्रकाशित हो चुकी हैं और उर्दू के प्रचार के लिए भी कई संस्थाएँ बहुत अच्छा कार्य कर रही हैं। इनमें नदवतुल् उलमा, दारुल् मुसन्नि-फीन और अंजुमन तरक्की उर्दू का उल्लेख हो चुका है। अलीगढ़ कॉलेज से भी फारसी तथा उर्दू का अच्छा प्रकाशन हो रहा है। इस प्रांत की गवर्नमेंट के आश्रय में हिंदुस्तानी एकेडेमी भी उर्दू का ठोस कार्य कर रही है। नवलकिशोर प्रेस ने भी उर्दू के लिए जो कार्य किया है वह भी किसी संस्था से कम नहीं है।

इस समग्र इतिहास के पढ़ जाने पर पाठकों को ज्ञात होगा कि उर्दू में उन्नति के लिए जैसा कार्य हो रहा है और उसके कुछ प्रेमी जितने निस्वार्थ भाव से उसकी सेवा में दत्तचित्त हैं वह हिंदी के दिग्गज विद्वानों तथा हामियों के लिए आदर्श है।

परिशिष्ट

सहायक पुस्तकों की सूची

जिन पुस्तकों तथा लेखों से इस पुस्तक के लिखने में सहायता ली गई है उनके विद्वान लेखकों को धन्यवाद देना अत्यंत आवश्यक था, इसलिए उनका उल्लेख यहाँ किया जाता है।

१. मीर तकी मीर कृत निकातुश्शोअरा
२. मीर हसन कृत तजंकिरतुश्शोअरा
३. सरापा सखुन
४. लाला श्रीराम एम० ए० कृत खुमखानए जावेद भाग १
५. प्रो० आजाद कृत आबेहयात
६. हाली कृत गालिब
७. राम बाबू सक्सेना कृत हिस्टरी आफ उर्दू लिटरेचर
८. कविताकौमुदी भा० ४
९. सरस्वती में हाली, जकाउल्ला, शिबली आदि के जीवन चरित्र और हिंदी तथा उर्दू के मासिक पत्रों में छपे लेख।

अनुक्रमणिका

श्रीकमलमणि-ग्रंथमाला की अन्य पुस्तकें

महाकवि बाबू गोपालचंद्र उपनाम गिरिधर दास कृत

१—जरासंध-बध महाकाव्य

यह वीर रस पूर्ण काव्य हिंदी साहित्य का पहिला महाकाव्य है। इसमें मगध-नरेश जरासंध की मथुरा पर चढ़ाई, युद्ध आदि का सविस्तार वर्णन है। यमक, अनुप्रास आदि की बहार पठनीय ही है। काव्य की क्लिष्टता दूर करने के लिए पाद-टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। पृष्ठ संख्या २०० और कपड़े की जिल्द मू० १।) अजिल्द मू० १)

२—निमाई-सन्यास नाटक

(अनुवादक—श्रीयुत ब्रजभूषणदास)

चार सौ वर्ष हुए कि बंगाल में श्रीमहाप्रभु कृष्ण-चैतन्य ने युवावस्था ही में संसार को पावन करने के लिए सन्यास ग्रहण किया था। उसी घटना के आधार पर स्वर्गीय बाबू शिशिर-कुमार घोष ने इस नाटक की रचना की थी। उसी नाटक का यह हिंदी रूपांतर है। वैष्णव-धर्म पर एक मार्मिक भूमिका भी दी गई है। पृष्ठ सं० लगभग १८० मूल्य ॥)

पीयूषवर्ष जयदेव कृत

३—चंद्रालोक

(अनुवादक—श्रीयुत ब्रजजीवनदास)

'चंद्रालोक' में छोटे-छोटे अनुष्टुभ श्लोकों में दोष, गुण, अलंकारादि की विवेचना बड़ी मार्मिकता से की गई है। जिसका यह हिंदी अनुवाद है। इसकी भूमिका में कवि की जीवनी तथा ग्रंथ पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। अन्त में श्लोक तथा परिभाषिक शब्दों की अक्षरानुक्रमणिका भी देदी गई है। साहित्याचार्य पं० बटुकनाथ शर्मा एम० ए० का अनुवचन भी है। कागज छपाई उत्तम पृ० सं० १२५ अजिल्द मू० ।||)

४—इंशा, उनका काव्य तथा

रानी केतकी की कहानी

इसमें सैयद 'इंशा' की अत्यन्त शिक्षाप्रद विस्तृत जीवनी दी गई है, है। सांसारिक उन्नति तथा अवनति, सुख-दुःखादि की असारता के अनुभवों का इसमें ख़ासा चित्रण है। उनके कुछ ग़ज़ल भी संगृहीत किए गए हैं। उदैभान चरित या रानी केतकी की कहानी का महत्व, आधुनिक हिंदी गद्य-साहित्य के प्रारंभिक काल की रचना होने से विशेष है। पृ० सं० १५० मू० ॥=)

५—सर हेनरी लॉरेंस

भारत से हित की आकांक्षा रखनेवाले एक अंग्रेज सज्जन का यह जीवनचरित्र है। प्रथम बर्मीय युद्ध तथा उस विप्लव-कारी अफ़गान युद्ध का वर्णन दिया गया है—जिसमें एक सेना का भयंकर नाश हुआ था और जिसके प्रतिशोध के लिए बड़ी तैयारियाँ हुई थीं। सिख-साम्राज्य के उत्थान तथा पतन, प्रथम तथा द्वितीय सिख-युद्ध, काश्मीर राज्य की स्थापना, अवध का संक्षिप्त इतिहास और सन् ५७ के बड़े विद्रोह के लखनऊ के घेरे का विवरण भी दिया गया है। पृ० सं० १५० मूल्य ।॥)

६—बादशाह हुमायूँ

मुगल सम्राट् जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर के पिता नासी-रुद्दीन मुहम्मद हुमायूँ का यह संक्षिप्त जीवनचरित्र है। शेरशाह तथा सूरी वंश का भी संक्षेप में विवरण दे दिया गया है। यह फारसी के तत्कालीन तथा बाद के तवारीखों की सहायता से लिखा गया है। भाषा सरल एवं बालोपयोगी है। हुमायूँ बाद-शाह तथा हमीदा बानूबेगम का चित्र और अंत में अनुक्रम भी दिया गया है। पृ० सं० १२०, मू० ॥।)

७—यशवंतसिंह तथा स्वातंत्र्य-युद्ध

मारवाड़ नरेश महाराज यशवंतसिंह का नाम इतिहास तथा साहित्य-प्रेमियों से छिपा नहीं है। धर्मांध सम्राट् औरंगजेब के मारवाड़-राज्य को हड़प जाने के प्रयास तथा मुगल-साम्राज्य की समग्र शक्ति को, राठौड़ों ने तीस वर्ष तक निरंतर मातृ भूमि के लिए सब कुछ बलिदान कर किस प्रकार व्यर्थ किया था, इसका इस ग्रंथ में अच्छा चित्रण हुआ है। महाराज का चित्र तथा अनुक्रम भी दिया गया है। पृ० सं० १४० मू० ॥)

८—काव्यादर्श

सुप्रसिद्ध आचार्य कविवर दंडी का काव्यादर्श लगभग डेढ़ हजार वर्षों से आज तक संस्कृत के विद्यार्थियों, विद्वानों तथा साहित्य-प्रेमियों का कंठहार बना हुआ है। यह उसीका हिंदी अनुवाद विस्तृत भूमिका के साथ प्रकाशित किया गया है। पृष्ठ संख्या ढ़ाई सौ के लगभग है। मू० केवल १) है।

९—हिंदी साहित्य का इतिहास

अब तक इस विषय की पुस्तकें प्रायः पाँच-छः-सात रुपयों की या चार-छः आने की हैं। इसीलिए विद्यार्थियों तथा जन-साधारण की सुविधा के लिए यह पुस्तक प्रकाशित की गई है। इसमें ढाई सौ पृष्ठों में हिंदी साहित्य का पूरा इतिहास संक्षेप में दिया गया है। भाषा का विकास तथा नागरी लिपि की व्युत्पत्ति एवं खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास आरम्भ से वर्तमान काल तक का दिया गया है। नाटक, उपन्यास आख्यायिका और निबन्ध आदि का विवरण भी दिया गया है। इसमें हिंदी के प्रमुख चार साहित्यकारों के चित्र भी दिये गए हैं। पृष्ठ सं० २५० मूल्य १)

१०—सत्यहरिश्चंद्र

यह भारतेंदु जी कृत है। इसकी भूमिका में इस पर आक्षेप किए गए सभी शंकाओं का समाधान किया गया है तथा संस्कृत आधार, पात्र आदि की विवेचना की गई है, सटीक तथा सचित्र और अच्छे कागज पर सुंदर छपाई सहित पृ० सं० १२५ मू० ।-)

प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें

(१) ओड़छा का इतिहास—बुन्देलों के प्राचीनतम राज्य ओड़छा का यह संक्षिप्त इतिहास बहुत खोज के साथ लिखा गया है। हिंदी, उर्दू, फारसी तथा अंग्रेजी की मूल पुस्तकों के आधार पर प्रणीत हुआ है। इसमें कई चित्र भी दिये जाएँगे।

(२) जहाँगीर— सुप्रसिद्ध सम्राट् अकबर के पुत्र जहाँगीर का यह जीवन-चरित्र होगा, जिसमें भारत का बाईस वर्ष का इतिहास समाविष्ट रहेगा। यह फारसी तथा अंग्रेजी की पुस्तकों के आधार पर लिखा गया है। इसमें कई चित्र भी रहेंगे।

(३) भारत में फ्रेंच—भारत के यूरोपीय आक्रमणकारियों में सफल प्रयत्न अंग्रेजों के प्रधान प्रतिद्वंद्वी फ्रेंच के उन प्रयासों का इसमें संक्षिप्त इतिहास है, जो उस जाति ने यहाँ अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए किया था। इसमें कई चित्र भी दिये जाएँगे।

(४) नंददास-ग्रंथावली—इसमें नंददास के ग्यारह ग्रन्थों का संग्रह रहेगा। भूमिका में कवि-परिचय तथा उसके ग्रंथों की विवेचना की जाएगी। टिप्पणी भी भरपूर रहेगी। नंददास जी का यह संग्रह पाठकों के सम्मुख पहिले पहल रखने के लिए बड़े परिश्रम से उनके ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ एकत्र की गई हैं।

प्रकाशक
श्रीकमलमणि ग्रंथमाला
कार्यालय,
बुलानाला, काशी